CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्धकालीन समाज और धर्म

लेखक
डॉ० मदन मोहन सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मोहन सिंह
१९२८ ई० में
। में। शिक्षा
। बाद में १९
शी विश्वविद्य..
प्राचीन भारती
म० ए० प्रथम
द्यालय में प्रस्तु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्धकालीन समाज और धर्म

अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष, १९७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्धकालीन समाज और धर्म

लेखक
डॉ० मदन मोहन सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वाधिकार बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा सुरक्षित

विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अन्तर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रकाशित ग्रंथ संख्या-२०

प्रथम संस्करण, फरवरी, १९७२

३०००

मूल्य : १२·००

State Museum Library Lucknow

5533

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

मुद्रक :
धर्मयुग प्रेस, पटना-३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं के विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अँगरेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशत: केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ बुद्धकालीन समाज और धर्म डॉ० मदन मोहन सिंह की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ-अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। साहित्य, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना

दिनांक २४ फरवरी, १९७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आमुख

प्रस्तुत ग्रंथ में भारत के सांस्कृतिक विकास-क्रम की एक महत्त्वपूर्ण अवस्था का प्रामाणिक एवं रोचक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह पुस्तक मोटा-मोटी वैदिक युग से लेकर ईसवी सन् के आरम्भ-पूर्व काल के भारतीय समाज तथा धर्म का विवरण प्रस्तुत करती है; परन्तु इसमें भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल, अर्थात् छठी शताब्दी ईसवी पूर्व तथा उसके पश्चात् के युग का सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है। मुख्यतः पालि त्रिपिटक में उपलब्ध प्रमाणों पर इस रचना के आधारित होने के कारण इसमें बुद्ध-जन्म से लेकर महायान सम्प्रदाय के उदय-पूर्व काल के लिए बुद्ध-युग का प्रयोग हुआ है। यह युग अपनी अनेक विशेषताओं, जैसे—बुद्ध तथा महावीर द्वारा रूढ़ सामाजिक प्रथाओं का विरोध एवं सामाजिक समता तथा दलित वर्ग के उत्थान का प्रयास, नवीन धर्म-सम्प्रदायों का उदय, संन्यास-जीवन की व्यापकता, नगर-जीवन का अभ्युदय, उद्योग-धंधों की प्रगति इत्यादि के कारण महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस युग के सांस्कृतिक इतिहास पर कार्य भी पर्याप्त किए गए हैं, परन्तु उपलब्ध ग्रंथों में समकालीन ब्राह्मण-रचित साहित्य का अपेक्षित उपयोग नहीं करने के कारण तत्कालीन समाज का सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। वस्तुतः केवल बौद्ध अथवा मात्र समकालीन सूत्र साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों पर आधारित पुस्तक में तत्कालीन समाज का एकांगी विवरण ही प्रस्तुत किया जा सकता है। बुद्धकालीन समाज के निष्पक्ष एवं पूर्ण विवरण के प्रस्तुतीकरण हेतु तत्कालीन बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों तथा समकालीन धर्मशास्त्र में उपलब्ध सामग्री का समुचित उपयोग अनिवार्य होगा। इसके अभाव में इस युग के सामाजिक एवं धार्मिक विशेषताओं का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

इस ग्रंथ में प्राचीन भारत के एक युग-विशेष के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का रोचक तथा प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होने के कारण आशा है कि इस विषय के जिज्ञासुओं, विशेषतया विद्यार्थी समुदाय के लिए यह रचना उपयोगी होगी। इस पुस्तक में पर्याप्त संदर्भ-निर्देश उपलब्ध कराए गए हैं, अतः बुद्धकालीन समाज के शोध-जिज्ञासुओं को भी इससे लाभ हो सकेगा। आशा है, पाठकों को इस रचना द्वारा भारतीय संस्कृति को बुद्धकाल की देन के सही तथा निरपेक्ष मूल्यांकन में भी आसानी होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस ग्रंथ में पन्द्रह अध्याय हैं जिनमें बुद्धकाल की प्रमुख विशेषताओं एवं तत्कालीन इतिहास के सूत्रों, वर्ण तथा जातियों, दास-प्रथा, विवाह, गणिकाओं, खान-पान, वस्त्राभूषणों, लोक-महोत्सवों, शिक्षा, प्रमुख धर्म-सम्प्रदायों, संन्यास-जीवन तथा जैन एवं बौद्ध भिक्षु-संघों इत्यादि के विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। परिशिष्ट में बुद्धकालीन समाज, मुख्यतः वस्त्राभूषणों के कुछ चित्र इस उद्देश्य से दिए गए हैं कि उस युग के जन-जीवन का यथार्थ अनुमान लगाया जा सके।

अंत में, मैं उन सभी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रंथ की रचना में सहयोग प्रदान किया। बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी की प्रकाशन-योजना में इस पुस्तक को सम्मिलित करने के लिए मैं अकादमी के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु का आभारी हूँ। ग्रंथ के प्रकाशन में विशेष अभि-रुचि के कारण अकादमी के सचिव डॉ० शिवनंदन प्रसाद का भी कृतज्ञ हूँ। प्रकाशन में तत्परता के लिए अकादमी के भाषाविद्-सह-प्रकाशनाधिकारी श्री वैजनाथ सिंह, 'विनोद' भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—मदन मोहन सिंह

पटना,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

१. भूमिका १-१०

बुद्धकाल का महत्त्व; बौद्ध पालि साहित्य का विकास तथा उसमें उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की प्रामाणिकता; पालि त्रिपिटक तथा धर्मशास्त्र में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का तुलनात्मक महत्त्व; बुद्ध-युगीन समाज तथा धर्म की प्रमुख विशेषताएँ।

२. वर्ण और जातियाँ ११-३०

वर्ण और जाति पर बुद्ध के विचार ११, तत्कालीन समाज का स्वरूप १६, ब्राह्मण की स्थिति १७, क्षत्रिय की स्थिति २०, वैश्य की स्थिति २२, शूद्र की स्थिति २४, हीन जातियाँ २५.

३. दास-प्रथा ३१-३९

दास-प्रथा की व्यापकता ३१, दासता के कारण तथा दासों के प्रति दास-स्वामियों का व्यवहार ३२, दासों के काम ३७, दास-मोक्ष ३८.

४. विवाह ४०-६०

विवाह का महत्त्व ४०, एकपत्नीत्व एवं बहुपत्नीत्व ४०, विवाह-सम्बन्ध निर्धारित करने में जाति, कुल तथा गोत्र-विचार ४३, विवाहयोग्य वय ४६, वर-वधू गुण-दोष विचार ४९, विवाह-प्रकार ५१, पुनर्विवाह तथा विवाह-विच्छेद ५४, दाम्पत्य-जीवन ५८.

५. गणिकाएँ ६१-६४

बुद्ध-कालीन नगर-जीवन में गणिकाओं का स्थान ६१, गणिकाओं की आय तथा उनका आचरण ६२.

६. खान-पान ६५-७४

प्रमुख खाद्यान्न ६५, मांसाहार ६७, सुरापान ७२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७. **वस्त्राभूषण** ७५-८१

वस्त्रोद्योग ७५, विभिन्न परिधान ७७, आभूषण, विलेपन तथा सुगंध ८०.

८. **लोक-महोत्सव** ८२-८८

सामाजिक जीवन में उत्सवों की व्यापकता एवं स्वरूप ८२, कौमुदी महोत्सव (कत्तिका) ८४, सालभञ्जिका (शालभञ्जिका) ८६, सुरानक्षत्र ८६, हस्तिमंगल ८७, कर्षणोत्सव ८८.

९. **शिक्षा की प्रगति** ८९-९६

शिक्षण संस्थाएँ ८९, विद्याकेंद्र तक्षशिला ९१, शिक्षण अवधि ९३, शिक्षा के विषय ९४.

१०. **बौद्ध-मत** ९७-११०

बौद्ध-मत का विकास एवं प्रसार ९७, बुद्ध का धर्म-प्रचार ९८, बुद्ध के प्रमुख शिष्य १०१, बुद्ध के विरोधी और समर्थक १०३, बौद्ध संगीतियाँ १०६, बुद्ध का कार्य-क्षेत्र १०७, बौद्ध-मत के प्रमुख सिद्धान्त १०७.

११. **जैन-मत, आजीविक मत तथा पूरण कस्सप, पकुध, कच्चायन, सञ्जय वेलट्ठिपुत्त और अजित केसकम्बली (ल) के मत** १११-२१

जैन-मत का विकास एवं प्रसार १११, जैन-मत के प्रमुख सिद्धान्त ११४, आजीविक तथा अन्य वेद-विरुद्ध मत ११८.

१२. **वैदिक-धर्म, ब्राह्मण-धर्म तथा लोक-धर्म** १२२-३९

लोक-धर्म का स्वरूप १२२, ब्राह्मण-धर्म १२४, प्रमुख देवता १२८, यक्ष-पूजा, नाग-पूजा, वृक्ष-पूजा तथा वृषभ-पूजा १३०-३५, लोक-धर्म के प्रमुख अंग १३५.

१३. **तापस सम्प्रदाय** १४०-५३

संन्यास-जीवन का विकास १४०, बुद्ध-काल में तापस-जीवन की व्यापकता १४२, तापस-जीवन की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यापकता के कारण १४३, प्रमुख तापस सम्प्रदाय १४६, परिव्राजक १४८, संन्यास-जीवन का अनुशासन १४७, जटिल तापस १५२.

१४. जैन-श्रमण तथा आजीविक तापस १५४-५९

जैन-संघ १५४, आजीविक तापस १५९.

१५. बौद्ध भिक्षु-संघ १६०-९९

संघ-जीवन का क्रमिक विकास १६०, भिक्षु-जीवन के उपयुक्त पात्र १६२, प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षाएँ १६५, उपज्झाय तथा सद्धिविहारिक १६९, गुरुजन-सत्कार १७३, पारस्परिक सहयोग १७८, सामूहिक स्वामित्व १८०, वस्त्राभूषण १८१, भक्ष्याभक्ष्य १८६, भिक्षुणियाँ १८६, भिक्षु-जीवन के आदर्श का ह्रास १९१, विहारों के पदाधिकारी १९५.

निर्देश २००

ग्रन्थ-सूची २४६

अनुक्रमणी २५३

पारिभाषिक शब्द-संग्रह २८४

परिशिष्ट २९१

शुद्धिपत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१

भूमिका

भारतवर्ष के इतिहास में बौद्ध-युग का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग में भारतीय विचार-जगत् में विशेष उथल-पुथल देखने को मिलती है। सामाजिक एवं धार्मिक नवचेतना के इस युग में बुद्ध तथा महावीर सदृश महा-पुरुषों का इस देश में जन्म हुआ, जिन्होंने संसार को सत्य और अहिंसा का वह संदेश दिया जो भव-व्याधि से पीड़ित मानव के लिए वरदान हो गया। भगवान् बुद्ध के संदेश उत्तुंग हिमगिरि तथा उत्ताल जलधि-तरंगों का अतिक्रमण कर अनेक देशों में प्रसारित हुए। उन्होंने धार्मिक जगत् को संघीय जीवन-पद्धति दी जिसका अवान्तरकालीन सम्प्रदायों में बड़ा प्रभाव पड़ा। इस युग में कई नये मतों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों के प्रतिकार का मार्ग प्रशस्त किया। जातिवाद का सर्वप्रथम विरोध बुद्ध तथा महावीर ने किया। इन्होंने वेद तथा ब्राह्मण की प्रभुता को भी चुनौती दी। बुद्ध तथा महावीर के धर्मोपदेश जनता की भाषा में दिए गए अतः वे सभी के लिए बोधगम्य हो सके। ब्राह्मण ग्रंथ दुरूह होने के कारण जनता के लिए दुर्बोध हो गये थे। अतः नवीन विचारों का जन-मानस पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों का राजा तथा जनता दोनों ने स्वागत किया। बुद्ध के समकालीन अनेक प्रमुख ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार ही नहीं किया, इस मत के दार्शनिक आधार को सुदृढ़ बनाया।

भगवान् बुद्ध ने अपने दर्शन का प्रमुख आधार इन दो तत्त्वों को बनाया—(१) उन्होंने दर्शन की जटिलताओं में न जाकर एक सर्वबोधगम्य आचार-संहिता के पालन का उपदेश दिया और (२) तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों का विरोध न करके एक सुधारक के रूप में तत्युगीन कुरीतियों के प्रतिकार का प्रयास किया। इन दोनों कारणों से बौद्ध-धर्म सर्वाधिक लोक-प्रिय हुआ और वह अपने युग की चेतना को बहुलांश में प्रभावित कर सका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध-मत का व्यापक प्रचार हुआ और क्रमशः बौद्ध पालि-साहित्य समृद्ध होता गया। प्रथम तो बुद्धवचनों को स्मृति में सुरक्षित रखा गया, परन्तु कालान्तर में उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के तुरत बाद बुद्ध-वचनों का संकलन किया गया—पहली बौद्ध संगीति में जिसकी बैठक राजगृह में हुई थी।[1] पुनः बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति हुई। पहली तथा दूसरी संगीतियों की प्रामाणिकता सर्वमान्य नहीं है। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्राट् अशोक के समय में पालि-पिटक का संकलन करके उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। दीपवंश तथा महावंश के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के २३६वें वर्ष में 'मोग्गलिपुत्त तिस्स' के सभापतित्व में एक सहस्र बौद्ध-भिक्षुओं की संगीति पाटलिपुत्र नगर में हुई, जिसमें सद्धर्म अथवा थेरवाद के सिद्धान्तों का संकलन किया गया। अशोक के अभिलेखों में अशोक द्वारा संघ की एकता को स्थायी बनाने के प्रयास के उल्लेख हैं। बौद्ध-मत के शुद्ध रूप को कायम रखने के लिए बौद्ध-समुदाय में प्रयत्न किये जा रहे थे और अशोक ने इस दिशा में ठोस कार्य किया। इसी प्रयास का यह प्रमुख परिणाम हुआ कि त्रिपिटक के रूप में बौद्ध-मत के सिद्धान्त लिपिबद्ध हो गये। तीसरी संगीति में जिस पालि-पिटक का संकलन किया गया उसकी एक प्रति लेकर कुमार महेन्द्र लंका चले गये। बाद में वह भी वहाँ अस्त-व्यस्त हो गया, अतः पाँचवीं शताब्दी ई० सन् में लंकाधिपति वट्टगामनी ने उनका पुनः संकलन कराया। इस प्रकार उसे वह रूप प्रदान किया गया जो अब तक सुरक्षित है। यह साहित्य-भाण्डार बुद्ध-युग के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान के लिए एक बहुमूल्य निधि है जिसमें समकालीन समाज का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है।

बौद्ध-काल का इतिहास ज्ञात करने के लिए पालि-पिटक प्रामाणिक हैं इसमें कतिपय विद्वानों को सन्देह है, पर विविध दृष्टिकोणों से विचार करने पर यह ग्राह्य नहीं है। अलिखित होने पर भी बुद्ध के प्रमुख उपदेशों को बौद्ध भिक्षुओं ने यत्नपूर्वक यथावत् सुरक्षित रखा होगा इसमें सन्देह का कोई आधार नहीं दीखता, क्योंकि भारत में वेद की शिक्षा मौखिक रूप में प्रदान की जाती रही और वे उसी रूप में सहस्रों वर्षों तक सुरक्षित रहे। अशोक के पूर्व पालि-पिटक के प्रमुख अंशों को भी मौखिक रूप में सुरक्षित रखा गया और आवश्यकता होने पर बौद्धमत के विभिन्न विषयों के ज्ञाताओं से शंकाओं का समाधान किया जाता रहा। बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् जब वज्जिपुत्र भिक्षुओं ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दस निषेधों का आचरण करना प्रारम्भ किया, तब रेवत से पूछा गया कि वैशाली के भिक्षुओं का आचरण भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुकूल है अथवा नहीं ?[२] रेवत को धम्म, विनय, आगम तथा मातिकाओं (मात्रिकाओं) का ज्ञाता कहा गया है। प्रख्यात प्राच्यविद् ओल्डेनवर्ग[३] तथा विंटरनिट्स[४] ने भी संकलन के पूर्व मौखिक रूप में पालि-पिटक के पर्याप्त अंश की विद्यमानता को स्वीकार किया है। यह भी उल्लेख सुलभ है कि बौद्ध-भिक्षु बुद्ध-वचनम् का कंठस्थ पाठ करते थे।[५] चुल्लवग्ग (४/४/४) में स्पष्ट किया गया है कि सुत्तन्त का पाठ करने वाले भिक्षु सुत्तन्तिक, धम्म का पाठ करने वाले धम्मकथिक और विनय के ज्ञाता विनयधर थे।

बुद्ध के उपदेशों को किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रखने की अनिवार्यता को बुद्ध-निर्वाण के तत्काल पश्चात् ही अनुभव किया गया होगा। जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण आसन्न हो गया तो आनन्द शोकाकुल हो गये। भगवान् ने उनके अश्रुपूर्ण नेत्रों को देखकर कहा—'हे आनन्द, आपलोगों को यह सोचकर कष्ट होगा कि हमारे मार्गदर्शक अब हमारे बीच नहीं रहे। परन्तु हे आनन्द, यथार्थतः ऐसा नहीं है। मैंने जिस धर्म तथा विनय का आप सभी को उपदेश दिया, वे ही मेरे निर्वाणोपरांत आपका मार्गदर्शन करते रहेंगे'।[६] बुद्ध-निर्वाण के साथ ही उनके उपदेशों के मर्मज्ञ भिक्षुओं का अन्त नहीं हो गया। ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि भिक्षुओं द्वारा उनकी शिक्षाओं के शुद्ध रूप को सुरक्षित रखने के प्रयास की गति अवरुद्ध हो गयी। धर्माधर्म, विनयाविनय का स्वरूप निर्धारित होता रहा; इनपर भिक्षु विचार-विमर्श करते रहे। कभी-कभी भिक्षुओं में मतभेद भी हुए। सूत्रों में ऐसे प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं जब किसी विषय के औचित्यानौचित्य का विचार करने के लिए सुत्त तथा विनय का सहारा लेना पड़ता था।[७] इसका यह अर्थ हुआ कि सुत्त और विनय के ज्ञाता भिक्षुओं से या तो शंका समाधान किया जाता था अथवा लिखित ग्रंथ को देखना पड़ता था। अशोक के समय तक किसी-न-किसी रूप में पालि-पिटक का विकास हो गया था। उनके बैराट अभिलेख में विनय-समुत्कर्ष, आर्यवंशानि, अनागत-भयानि, मुनि-सुत्त, उपतिष्य-प्रश्न तथा राहुलोवाद के उल्लेख से अशोक-पूर्व पालि-पिटक का कम-से-कम आंशिक अस्तित्व असंदिग्ध प्रतीत होता है। मिलिन्द-पञ्हो, दीपवंश, महावंश आदि अवान्तर ग्रंथों से भी ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में त्रिपिटक के अस्तित्व का प्रबल समर्थन प्राप्त है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस बात का दावा नहीं किया जा सकता कि भगवान् बुद्ध ने जिस भाषा में अपना उपदेश दिया उसका मूल रूप आजतक अपरिवर्तित रहा। तीसरी संगीति में पिटकों का संकलन, उनका लंका पहुँचना तथा सदियों पश्चात् वहाँ पुनः संपादन के क्रम में मूल पिटकों का अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरना अत्यन्त स्वाभाविक है। कई नई बातें अवान्तर काल में समाविष्ट कर दी गयी होंगी। पिटकों में कहीं-कहीं विरोधाभास भी मिलता है। परन्तु इतना होने पर भी उनका वह स्वरूप जो तीसरी संगीति में प्राप्त हुआ, अधिकांशतः सुरक्षित ही रहा। पालि-पिटक के प्रति भिक्षुओं के हृदय में जो अपार श्रद्धा थी और भगवान् बुद्ध के उपदेशों के मूल-रूप की रक्षा का जो उत्साह था, उसने अवश्यमेव पिटकों को सुरक्षा प्रदान किया होगा। भाषा में परिवर्तन हुआ अवश्य, पर भाव वही बने रहे। मज्झिम-निकाय के अनुसार स्वयं बुद्ध ने भी कहा कि उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं शब्द न९। अतः इसी भावना के कारण बुद्ध के उपदेशों का मूल अर्थ लुप्त नहीं हो पाया।

पालि-पिटक के तीन अंग हैं— (क) विनय-पिटक, (ख) सुत्त-पिटक तथा (ग) अभिधम्म पिटक—इन तीनों के संकलन का त्रिपिटक नाम पड़ा।

विनय-पिटक भिक्षु-संघ के नियमों का संग्रह, सुत्त-पिटक बुद्ध के प्रवचनों का और अभिधम्म-पिटक दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रंथ है। विनय-पिटक तथा सुत्त-पिटक में तत्कालीन समाज, धर्म आदि विविध विषयों का सविस्तार ज्ञान प्राप्त होता है। भिक्षु-जीवन के नियम बनाने के क्रम में तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक रीति-रिवाजों के प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-जीवन की जिस संहिता का निर्माण किया उसपर तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचार की गहरी छाप पड़ी। उन्होंने समय-समय पर उन नियमों में संशोधन किया जो सामाजिक परम्परा के प्रतिकूल हो गये थे अथवा जिनके कारण समाज में भिक्षु-संघ की निन्दा होने लगी थी। बुद्ध का लक्ष्य बौद्ध-मत को लोकप्रिय बनाना था अतः उन्होंने भिक्षुओं के आचार-विचार में उन नियमों को स्थान नहीं दिया जिससे समाज में संघ की प्रतिष्ठा पर आँच पहुँचती।

बुद्ध के प्रवचनों के सग्रह को सुत्त-पिटक नाम दिया गया, जिसमें प्रमुख थेरों के उपदेशों तथा गाथाओं को भा समाहित किया गया। सुत्त-पिटक एक वृहत् संग्रह है और इसके अन्तर्गत पाँच निकाय हैं—दीघ-निकाय, मज्झिम-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय तथा खुद्दक-निकाय। इन निकायों में भारतीय इतिहास की अत्यन्त उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। अपने प्रवचनों में बुद्ध ने ऐसे दृष्टांत दिये हैं जो तत्कालीन इतिहास की बहुमूल्य सामग्री हैं। प्रसंगवश उस समय की कई राजनैतिक घटनाओं के भी उल्लेख किये गये हैं। अत: सुत्त-पिटक से तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

किसी भी युग के सांस्कृतिक जीवन के विवरण के लिए कथा-साहित्य के महत्त्व की उपेक्षा कहीं की जा सकती। कहानियाँ समाज का प्रतिबिम्ब होती हैं। इस दृष्टिकोण से बुद्ध-कालीन समाज का विवरण प्रस्तुत करने के लिए जातकों की बड़ी उपयोगिता है। खुद्दक-निकाय में समाविष्ट ५४७ कहानियों का संग्रह जातक है। जातक की कहानियाँ बुद्ध-कालीन समाज में प्रचलित थीं। बौद्ध भिक्षुओं ने इन्हें भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों की घटनाओं से संबद्ध कर अपने उपदेशों के प्रचार-योग्य बना लिया। कुछ कहानियाँ उनकी अपनी कल्पना की उपज भी होंगी। ये कहानियाँ तत्कालीन समाज के विविध विषयों का प्रसंग-वश उल्लेख देने के कारण इतिहासकार के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रदान करती हैं।

जहाँ तक जातकों के रचनाकाल का प्रश्न है, बुद्ध-कालीन समाज का विवरण प्राप्त होने के कारण इन्हें इसी काल का मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है। कई जातकों को भारहुत तथा सांची की वेदिकाओं तथा तोरणों में उत्कीर्ण किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि वे इन कलाकृतियों के निर्माण के पूर्व ही समाज में प्रचलित थे। रिचार्ड फिक, रीस डेविड्स तथा बूलर आदि प्राच्य-विदों के मत में जातक तीसरी शताब्दी ई० पू० के जन-जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह तथ्य कदापि उपेक्षणीय नहीं है कि जातकों में तक्षशिला का उल्लेख एक ख्यातिप्राप्त विद्या-केन्द्र के रूप में मिलता है। यद्यपि नन्द तथा मौर्य शासकों के समय पाटलिपुत्र मगध साम्राज्य की राजधानी तक बन गया था, फिर भी उसका उल्लेख जातकों में पाटलिगाम मात्र के रूप में मिलता है। दूसरी ओर राजगृह का उल्लेख एक प्रमुख नगर के रूप में मिलता है। इन जातकों में वैशाली का वैभव तथा मिथिला की गरिमा भी न्यून नहीं है। अत: इन कहानियों में उस युग का वर्णन है जब पाटलिपुत्र को एक प्रमुख नगर का गौरव प्राप्त नहीं हुआ था। बिंबिसार, प्रसेनजित् तथा अजातशत्रु के उल्लेख हैं, पर नन्दों तथा मौर्यों के नहीं। इस तरह जातकों में ऐसे कई प्रमाण हैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिनकी बुद्ध-कालीन इतिहास के लिए उपयोगिता असंदिग्ध है। यह सत्य है कि कई कहानियाँ बुद्ध-पूर्व काल की हैं, किन्तु उनकी भी उपयोगिता में कमी नहीं आती है। पूर्व-प्रचलित कहानियों पर भी जब बौद्ध-मत का आवरण चढ़ाया गया तब उन्हें तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के उपयुक्त बनाया गया, जिससे वे बातें जो पुरानी पड़ गयी थीं निकाल दी गयीं। जातकों के सम्बन्ध में जो भी विवाद हों परन्तु इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उनमें बुद्ध के जन्म के समय से लेकर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व अथवा ईसवी सन् तक के समाज का विवरण उपलब्ध होता है।

बौद्ध पिटकों में मुख्यतया मध्यदेश अथवा मज्झिम देश के जन-जीवन का वर्णन मिलता है। मज्झिम देश का विस्तार पश्चिम में थाणेश्वर तक, पूर्व में कजंगल (कंकजोल, संथाल परगना) तक, दक्षिण में सलिलवती नदी एवं सुंसुमार गिरि तक तथा दक्षिण-पश्चिम में अवन्ती तक था। बुद्ध के जीवन-काल में इसी क्षेत्र के अंतर्गत बौद्ध-मत का प्रचार हुआ। यद्यपि पालि-त्रिपिटक को उस समय अंतिम रूप प्रदान किया गया जब सुदूर दक्षिण को छोड़कर सम्पूर्ण भारत एक शासन के अंतर्गत आ गया था, पर पिटकों में यह कहीं नहीं कहा गया है कि मज्झिम देश की सीमा के बाहर बौद्ध-मत का प्रसार हुआ। इसका कारण यह है कि बुद्ध के उपदेशों को मज्झिम देश के भिक्षुओं ने सुरक्षित रखा था और उसमें वे कोई परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। बौद्ध-मत का विशेष प्रसार अशोक के समय में हुआ और दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में दक्षिण-पश्चिम भारत में इसका व्यापक प्रसार हुआ। परन्तु पिटकों में इन क्षेत्रों को महत्त्व नहीं प्राप्त होना इस बात की पुष्टि करता है कि मौर्य-काल के पूर्व बौद्ध-मत उत्तर भारत में ही सीमित रहा। जातक कथाओं में प्रतिष्ठान, सुप्पारक (सोपारा), भरुकच्छ (भड़ौच) आदि व्यापारिक नगरों के उल्लेख हैं। ये वे व्यापार-केन्द्र थे, जहाँ उत्तर भारत के सार्थवाह जाते थे, अतः इन स्थानों से उत्तर भारत के लोग परिचित हो गये थे और इन स्थानों की यात्रा-सम्बन्धी अनेक कथाएँ गढ़ ली गयीं थीं। जो जातक अथवा जो थोड़े अंश पिटकों में पीछे जोड़े गये होंगे उनमें दक्षिण-पश्चिम भारत के कुछ रीति-रिवाजों के उल्लेख आ गये होंगे। परन्तु कहीं भी यह नहीं कहा गया कि बुद्ध ने पश्चिम-भारत में जाकर अजन्ता, भाजा या किसी अन्य चैत्य में प्रवचन दिया। इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध के जीवन की घटनाओं में तोड़-मरोड़ नहीं की गयी है।

बौद्ध पालि-पिटक से तत्कालीन समाज का जो विवरण उपलब्ध होता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसमें गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, पाणिनि के अष्टाध्यायी, पातञ्जल महाभाष्य, कात्यायन के वार्तिक, कौटिलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति तथा मेगास्थनीज के यात्रा-विवरण में उपलब्ध सामग्री का बुद्धिमत्तापूर्ण समावेश कर देने से बुद्ध-कालीन समाज तथा धर्म का विश्वसनीय तथा सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत हो जाता है। इस कार्य के लिए जैन धर्म-ग्रन्थ—आचारंगसूत्र, कल्पसूत्र, उवासगदसाओ, औपपातिक-सूत्र तथा भगवती-सूत्र का महत्त्व भी कम नहीं है। भगवती-सूत्र उत्तर-कालीन रचना है परन्तु इसमें महावीर के समय की घटनाओं का समावेश होने से उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र में समाज का आदर्श विवरण प्रस्तुत किया गया है। धर्मशास्त्र में जिस समाज का चित्रण हुआ है वह प्रमुख रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों का समाज है। धर्मशास्त्रकारों ने उन धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचारों का उल्लेख किया है जिनके आचरण की अपेक्षा द्विजातियों से की जाती थी। अतः इस विवरण में समाज के निम्न वर्ग की नितान्त उपेक्षा कर दी गयी है। परन्तु पालि-पिटक में समाज के सभी वर्गों के सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों के उल्लेख मिलते हैं। फिर भी पालि-पिटक इस विषय में सर्वथा निष्पक्ष नहीं रहे हैं। ब्राह्मण-धर्म के जिन रीति-रिवाजों की आलोचना बौद्धों का ध्येय रहा, इन बौद्ध ग्रन्थों में इसकी अतिरंजना मिलती है। परन्तु पालि-पिटक तथा धर्मशास्त्र के इस विरोध के बावजूद इन दोनों में अद्भुत साम्य भी है। दोनों के विवरण अनेक बातों में समान हैं। धर्मशास्त्र द्वारा पालि-पिटक में उपलब्ध सामग्री का जहाँ समर्थन होता है, वहाँ दोनों एक-दूसरे की त्रुटियों की पूर्ति करते हैं, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अतः समाज का यथार्थ तथा सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए पालि-पिटक तथा धर्मशास्त्र दोनों का आश्रय लेना अनिवार्य है।

ऊपरि निर्दिष्ट ग्रन्थों के अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के समाज में बड़ी रूढ़ता आ गयी थी। जातिवाद की भावना बड़ी प्रबल हो गयी थी। समाज में ऊँच-नीच की भावनाओं की जड़ें बड़ी गहराई तक पहुँच गयीं थीं। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में वर्णित चतुर्वर्ण की कल्पना से सर्वथा भिन्न जातिवाद की भावना समाज में व्याप्त हो गयी थी। बुद्ध-जन्म के समय का समाज जातिवाद के रोग से ग्रस्त होकर जर्जर होने लगा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपनिषद्-युग में ही ऊँच-नीच की भावना की निरर्थकता अनुभव की जाने लगी थी और इसके विरोध में विचार व्यक्त किये जाने लगे थे। इसी परम्परा में बुद्ध और महावीर सदृश सुधारकों का छठी शताब्दी ई० पू० में प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने रुग्ण भारतीय समाज को स्वास्थ्य प्रदान करने का यथाशक्ति प्रयास किया। बुद्ध ने यह प्रश्न उठाया कि जब मानव-मात्र समान हैं— सभी का जन्म-मरण समान होता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति ही स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है और अमुक नहीं ? उन्होंने यह भी प्रश्न किया कि कोई व्यक्ति क्या किसी जाति-विशेष में जन्म पाने से ही अमरत्व प्राप्त कर सकता है ? उनके विरोधियों के पास इनका कोई उत्तर नहीं था। बुद्ध ने इस प्रकार जातिवाद का विरोध किया और भिक्षु-संघ में सभी को समान स्थान दिया। सभी जातियों के लोग जब प्रव्र-जित हो जाते तो वे न तो ब्राह्मण रह जाते न शूद्र। उनकी संज्ञा हो जाती— भिक्षु। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि बुद्ध का लक्ष्य वर्ण-व्यवस्था का उन्मूलन करना नहीं था। उन्होंने वस्तुत: उस व्यवस्था को स्वीकार किया। बुद्ध का विरोध तो उस व्यवस्था से उत्पन्न ऊँच-नीच की भावना से था— जन्मना वर्ण से, कर्मणा वर्ण से नहीं।

बुद्ध-कालीन समाज का चित्रण करने वाले ग्रंथों के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि चतुर्वर्ण के अंतर्गत अनेक जातियों का दिनों-दिन उद्‌भव होता जा रहा था। कई उप-जातियों का जन्म हो गया था और वे सभी अपने को अन्यों से श्रेष्ठतर मानने लगी थीं। जातियों की संख्यावृद्धि में आर्थिक परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ा। वैश्य-वर्ण में साधारण वैश्यों के अतिरिक्त श्रेष्ठि तथा कुटुम्बिक नामक सुविधा-प्राप्त वर्ग तो बना ही, शिल्पियों की भी कई जातियाँ बन गयीं। इस प्रकार कर्मानुसार समाज में अनेक नवीन जातियों का उद्‌भव हुआ। कई कर्म हेय दृष्टि से देखे जाने लगे, फलत: समाज में उनका आश्रय लेने वाले व्यक्तियों का भी स्थान निम्न हो गया। इस प्रकार समाज में जातियों की संख्या बढ़ने लगी।

बुद्ध-काल में नगर-सभ्यता की उल्लेखनीय प्रगति हुई। ऐसे तो बुद्ध-निर्वाण के समय देश में छ प्रमुख महानगर थे—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी। फिर भी अन्य नगरों का वैभव कोई कम नहीं था। विनय-पिटक में एक प्रसंग मिलता है कि राजगृह का एक श्रेष्ठि जब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैशाली गया तब उस नगरी के वैभव से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने बिंबिसार से वैशाली की प्रशंसा का। छोटे-छोटे नगरों तथा निगमों का पूर्वोत्तर भारत में जाल बिछ गया था। ये सब व्यापार-मार्गों से संबद्ध थे। जिन नगरों को राजधानी का पद प्राप्त था उनके वैभव का तो कुछ कहना ही नहीं। वे विद्या, कला तथा व्यापार के केन्द्र थे। वहाँ सार्थवाहों के पण्यपूर्ण शकट आते, वस्तु-विनिमय होता और इस तरह लोगों का सम्बन्ध बढ़ता। नगरों में आमोद-प्रमोद की सभी सुविधाएँ मिलती थीं—वहाँ के बाजार में सुदूर प्रदेशों में निर्मित वस्तुएँ मिल जातीं, मधुशालाओं में लोग मद्यपान करते, गणिकाओं की स्वरलहरी का रसास्वादन करते और उत्सवों के दिन आनन्दोल्लास मनाते। परन्तु नगर-जीवन का वास्तविक सुख समाज के अभिजात वर्ग को ही उपलब्ध था।

नगर, केवल राजसत्ता तथा व्यापार के केन्द्र नहीं रहे—कई तो विद्या-केन्द्रों के रूप में विख्यात हो गये, जैसे—तक्षशिला तथा वाराणसी। तक्षशिला को ख्याति का श्रेय वहाँ के विद्वान् आचार्यों को है जिन्होंने उस नगर को एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बना दिया। बुद्ध-कालीन कई नगरों में बौद्ध-विहारों का निर्माण हुआ, जो भिक्षुओं के आवास के साथ शिक्षण संस्थाएँ भी बन गयीं।

बुद्ध-काल में अनेक दार्शनिक वादों का प्रादुर्भाव हुआ जिनसे उस समय के भारतीय विचार-जगत् की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मण धर्म लोक-धर्म बन चुका था और बौद्ध तथा जैन-मत के प्रचार होने पर भी इसकी लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं आया। बुद्ध तथा महावीर ने अहिंसा के उनके सिद्धान्त के अनुकूल पड़नेवाले रीति-रिवाजों के परित्याग का उपदेश जनता को कभी नहीं दिया। बुद्ध का ध्येय बौद्ध-मत को लोकप्रिय बनाना था, अतः उन्होंने लोकमत को समुचित आदर प्रदान करते हुए अपने विचारों का प्रचार किया। बौद्ध-मतावलंबियों के लिए भी शक्र देवराज बने रहे, ब्रह्मा का महत्त्व उनके लिए वही रहा जो ब्राह्मण धर्म में था तथा यज्ञ, नाग आदि की पूजा बौद्ध और अ-बौद्ध दोनों ही समान रूप से करते रहे।

बौद्ध युग में संन्यास-जीवन के प्रति लोगों की अत्यधिक रुचि हो गयी थी। उन दिनों प्रव्रज्या की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी। फलस्वरूप बौद्ध भिक्षुओं, जैन श्रमणों, आजीविक तापसों तथा ब्राह्मण संन्यासियों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो गयी। इस युग के संन्यास-जीवन का अध्ययन बड़ा रोचक है। यद्यपि विभिन्न धार्मिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक मतभेद थे, पर सभी सम्प्रदाय के गृहत्यागियों की जीवन-पद्धति में पर्याप्त साम्य बना रहा, क्योंकि सभी का उद्‌गम एक था। भगवान् बुद्ध ने एक सुव्यवस्थित भिक्षु-संघ की स्थापना की। देश में अनेक विहार बने। संघीय जीवन-पद्धति धार्मिक जगत् को बुद्ध की एक बहु-मूल्य देन है। परन्तु भगवान् बुद्ध के संदेश का वास्तविक प्रचार किया अशोक ने जिससे बौद्ध धर्म सुदूर देशों में फैल गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२

वर्ण और जातियाँ

वर्ण और जाति पर बुद्ध के विचार—भारतवर्ष में जातिभेद का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु आरम्भिक युग में यह रूढ़ नहीं था। यहाँ के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में चतुवर्ण का उल्लेख तो है, परन्तु उत्तरकालीन जाति-व्यवस्था से सर्वथा भिन्न। ऋग्वेदकालीन भारतीय समाज में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का अस्तित्व समाज के चतुर्वर्ग के सदृश था। व्यक्ति-विशेष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने मनोनुकूल वर्ण का सदस्य बन सके। तीनों उच्च वर्णों के बीच स्पष्ट विभाजन भी न था। यदि कोई स्पष्ट विभाजन था भी तो वह आर्य तथा दास-वर्ण अथवा दस्यु के बीच था। परन्तु कालान्तर में जातिभेद-सम्बन्धी मनुष्य की धारणाएँ रूढ़ होती गयीं और पेशे वंशानुगत हो गये। ब्राह्मण-युग आते-आते मनुष्य के सामाजिक जीवन में जातिभेद-सम्बन्धी धारणाओं की जड़ें इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो गयीं कि देवगण भी चतुर्वर्ण में विभाजित माने जाने लगे।[1] बुद्ध-युग में जातिभेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। जाति के अनुसार ऊँच-नीच की भावना अति प्रबल हो गयी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनों वर्णों में श्रेष्ठतर कहलाने की होड़-सी थी। मधुर अवन्तिपुत्र को हम यह कहते हुए पाते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, शुक्ल वर्ण है, पवित्र है, ब्रह्मा के मुख से उसकी उत्पत्ति है, वही ब्रह्मा का प्रतिनिधि है।[2] दूसरी ओर क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठतर बतलाते। ब्राह्मणों में भी उदीच्य ब्राह्मण अपने को अन्य ब्राह्मण जातियों से उच्च समझने लगे थे और दूसरी ओर कतिपय क्षत्रिय जातियाँ अपने को अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगी थीं— जैसे शाक्यवंशी, जिन्होंने कोशल-नरेश प्रसेनजित् के साथ एक शाक्य-राजकुमारी का विवाह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल माना था। भगवान् बुद्ध से ब्राह्मण अम्बष्ठ ने यह शिकायत की कि शाक्यों ने उन्हें अपने संस्थागार में बैठने के लिए आसन देने की बात तो दूर रही, सीधे मुँह बात भी नहीं की।[1] प्रसेनजित् के विषय में कहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता है कि जब वे अपने अधीनस्थ ब्राह्मण पोक्खरसाति से बातें करते तो दोनों के बीच में पर्दा लगाया जाता था क्योंकि क्षत्रिय होने के नाते वे उच्च जो थे।[४] पुनः अपने अधीनस्थ ब्राह्मणों से आमने-सामने बातें कैसे करते! ऐसे ब्राह्मणों का भी उल्लेख मिलता है जो अपनी मृत्यु के पूर्व यह निर्देश कर जाते कि मरणोपरान्त उनका शव-दाह ऐसे श्मशान में न हो जहाँ किसी चाण्डाल को जलाया गया हो।[५] इस युग के सामाजिक जीवन में एक और प्रमुख बात यह हुई कि विभिन्न जातियाँ अलग-अलग ग्रामों में बसने लगीं। बौद्ध ग्रंथों में इसके उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मण-ग्राम,[६] क्षत्रिय-ग्राम,[७] बनिय-ग्राम,[८] निषाद-ग्राम,[९] चांडाल-ग्राम[१०] जैसे जातियों के आधार पर ग्राम बने थे।

जन-मानस में यह धारणा दृढ़ हो गयी थी कि स्वयं स्रष्टा ने ही समाज का विभाजन चतुर्वर्ण में कर दिया है तथा मानवमात्र अपने पूर्व-जन्म के कर्मानुसार ही विभिन्न जातियों में जन्म-ग्रहण कर सुख-दुःख का भागी होता है। ऐसे ही समय में भारत-भूमि में एक महान् धर्म-प्रवर्त्तक तथा समाज-सुधारक के रूप में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होंने तत्कालीन समाज में नवीन धार्मिक एवं सामाजिक चेतना को जन्म दिया और वर्ण तथा जाति से सम्बद्ध परम्परागत धारणाओं को नितान्त निःसार एवं निरर्थक घोषित किया। भगवान् बुद्ध ने बतलाया कि मानवमात्र समान हैं, कोई उच्चवर्ण में जन्म लेने से ही महान् नहीं होता, अपितु अपने सत्कर्मों द्वारा ही उसकी महत्ता की पुष्टि होती है। उन्होंने ब्राह्मण अश्वलायन को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग में सुख-भोग के सुयोग्य पात्र नहीं होते, वरन् पुण्यकर्मों द्वारा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र भी स्वर्ग के अधिकारी हो सकते हैं।[११] उद्दालक-जातक में ब्राह्मण पुरोहित के मुख से यह बात कहलाई गयी है कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी में सत्कर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की समान क्षमता होती है।

यदि कोई ब्राह्मण नीच कर्म करता है तो क्या उस अवस्था में भी उसके लिए स्वर्ग में स्थान सुरक्षित रहेगा? कोई चाण्डाल-कुल में जन्म पाकर भी यदि पुण्यकर्मों द्वारा जीवन की सार्थकता सिद्ध करता है तो क्या वह स्वर्ग का भागी नहीं हो सकता? अतः भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मनुष्य न तो जन्मना चाण्डाल होता है और न ब्राह्मण ही,[१२] अन्ततोगत्वा मानवमात्र में समता है, विभेद तो बाह्य एवं कृत्रिम है। इसकी पुष्टि में उन्होंने यह तर्क रखा कि क्या उच्च-वर्ण में जन्म पाने से किसी व्यक्ति-विशेष के लिए मृत्यु का द्वार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बन्द हो सकता है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी तो अजर-अमर नहीं है[१३]—सभी का अन्त एक ही है, फिर हम क्यों किसी को जन्मना श्रेष्ठ मानें और दूसरे को हेय दृष्टि से देखें ? क्या किसी वर्ण या जाति-विशेष में जन्म पाने से ही भौतिक ऐश्वर्य की उपलब्धि तथा मरणोपरान्त स्वर्ग-सुख निश्चित रहता है ? क्या जाति के बल पर ही मनुष्य पाप के लिए दोषी नहीं अथवा अपराध के लिए दण्ड का भागी नहीं होता ? इसी प्रकार विभिन्न तर्कों द्वारा भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने वर्ण तथा जाति-व्यवस्था को व्यर्थ बतलाने की चेष्टा की। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को भी चुनौती दी। उनका तर्क है कि यदि ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था की है कि वेदों का अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणों का कर्म है, राजत्व क्षत्रिय का, कृषि-वाणिज्य वैश्यों का तथा सेवा-कार्य शूद्रों का तो इसे हम ब्रह्म-वाक्य क्यों मान लें ?[१४] बौद्ध दृष्टिकोण से ऐसी व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ-साधन के लिए, अपनी जीविका के लिए समाज पर लाद दी गयी।

अब हमें यह देखना है कि भगवान् बुद्ध के प्रयत्न कहाँ तक सफल हुए और व्यावहारिक जगत् में उन्होंने जातिवाद का खण्डन किस रूप में किया। बौद्ध-साहित्य का अनुशीलन यह बतलाता है कि तत्कालीन जातिवाद के खण्डन में भगवान् बुद्ध को केवल भिक्षु-संघ में सफलता मिली। यह निर्विवाद सत्य है कि बौद्ध-संघ में जातिवाद नाम की को कोई वस्तु नहीं थी। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-संघ को सम्बोधित कर कहा— 'हे भिक्षुओ, जिस प्रकार महानदियाँ सागर में मिलकर एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार चारों वर्णों के सदस्य तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म के नियमानुसार प्रव्रजित होकर यह भूल जाते हैं कि हमारा अमुक वर्ण था, अमुक वंश था, उनकी एकमात्र संज्ञा रह जाती है— श्रमण।'[१५] भगवान् बुद्ध के ये वचन वास्तविकता के द्योतक हैं। बौद्ध-संघ में ऊँच-नीच की भावना पनपने नहीं पाती थी। यही कारण था कि नापित-पुत्र होने पर भी उपालि बुद्ध के प्रिय शिष्यों में थे और भगवान् की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् संघ के प्रधान होने का श्रेय भी उन्हें मिला। बौद्ध-संघ में भिक्षुओं का जीवन सामुदायिक था और खान-पान में स्पृश्यास्पृश्य का भेद-भाव नहीं था। यह सत्य है कि भिक्षुओं की कोई जाति नहीं थी, परन्तु भगवान् बुद्ध भिक्षुओं में भी जातिवाद सम्बन्धी धारणाओं को सर्वथा निर्मूल करने में सफल न हो सके। तत्कालीन समाज में जातिवाद की भावना इतनी प्रबल थी कि सभी भिक्षुओं के मस्तिष्क से उन्हें न निकाला जा सका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंगुत्तर-निकाय[१६] तथा उदान[१७] से पता चलता है कि कतिपय भिक्षु अपने को ब्राह्मण-भिक्षु, उच्चकुलोद्भव-भिक्षु इत्यादि संज्ञाओं से संबोधित किया जाना पसन्द करते थे। कहीं-कहीं हम भगवान् बुद्ध के समक्ष भिक्षुओं के मुख से जातिवाद-सम्बन्धी धारणाओं की स्वीकृति पाते हैं। तित्तिर-जातक में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से जब यह प्रश्न किया कि उत्तम आवास, उत्तम जल तथा उत्तम भोजन के अधिकारी कौन हो सकते हैं ? तो उन्हें भिक्षुओं से भिन्न-भिन्न उत्तर मिले। कुछ ने कहा कि क्षत्रिय-कुल से प्रव्रजित भिक्षुओं को ये सुविधाएँ मिलनी चाहिए, अन्यों ने कहा—नहीं, ब्राह्मण-कुल-प्रव्रजित ही इसके अधिकारी हो सकते हैं। कुछ ने गहपति (वैश्य)-कुल-प्रव्रजित को इसका पात्र बतलाया। इन तीनों वर्णों के सदस्य समाज में समादर के पात्र थे और इस बात को बौद्ध-भिक्षु भी अस्वीकृत न कर सके, यद्यपि यह भगवान् बुद्ध के उपदेश के प्रतिकूल था। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि भिक्षुओं में जातिगत भेद-भाव था। सत्य इतना ही है कि भिक्षुओं के मस्तिष्क में भी जाति-सम्बन्धी धारणाएँ थीं, जिनकी अभिव्यक्ति प्रसङ्गवश हो जाया करती थी।

जातिवाद के खंडन-सम्बन्धी भगवान् बुद्ध के उपदेश भिक्षु-संघ के बाहर समाज में प्रभावशाली सिद्ध न हो सके। उनके द्वारा प्रतिपादित नवीन सामाजिक विचारधारा का तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव न पड़ा। समाज का संगठन यथावत् बना रहा। उपासक के रूप में बौद्ध-धर्म स्वीकार करने का अर्थ अपनी जाति का त्याग कदापि नहीं था। बौद्ध होकर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ही बने रह जाते थे। इसका यह कारण था कि जो सामाजिक प्रथा प्रबल थी उसका प्रतिकार कठिन था— बुद्ध भी इसमें असफल रहे, यह उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। उन्हें तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को स्वीकार करना पड़ा और तदनुकूल अपने धर्म का भी वे प्रचार करते रहे। यदि उन्होंने यह नियम बना दिया होता कि बौद्ध वही व्यक्ति हो सकता है जो अपने को किसी भी वर्ण अथवा जाति का सदस्य न माने तो बौद्ध-धर्म लोकप्रिय न हो पाता। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से वर्ण-व्यवस्था को निःसार बतलाते हुए भी उन्हें व्यवहार में उसे स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि सर्वमान्य प्रचलित सामाजिक प्रथा के विरोध द्वारा उन्हें अपने ही धर्म की हानि की संभावना दिखलाई पड़ी। कभी-कभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो वे स्वयं क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बतलाते हैं और कभी यह कहते हैं कि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण ही समाज में समादर के अधिकारी हैं। अम्बट्ठ-सुत्त में बुद्ध ने प्रबल तर्कों द्वारा सभी दृष्टिकोण से क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ सिद्ध किया है।[१८] परन्तु ऐसा कोई भी प्रसंग नहीं आता जहाँ वे क्षत्रिय को भी हीन बतलाते हों। पुनः अन्य स्थान पर भगवान् बुद्ध के मुख से ये वचन निकलते हैं— 'हे राजन्, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण हैं, इनमें दो वर्ण (क्षत्रिय तथा ब्राह्मण) अभिवादन, प्रणामाञ्जलि, अग्रासन तथा सेवा के अधिकारी हैं।'[१९] यहाँ बुद्ध द्वारा यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का स्थान समाज में सर्वोपरि है; अन्य जातियों का स्थान उनसे निम्न है। जन्मना श्रेष्ठता की भावना को भगवान् बुद्ध ने निरर्थक कहा है, परन्तु बौद्ध-साहित्य में उन्हें ही मातृ तथा पितृ पक्ष में सप्त पीढ़ियों तक निष्कलंक बतलाया गया है।[२०] भगवान् बुद्ध के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा का एक कारण यह भी था कि जिस कुल में उनका जन्म हुआ था वह अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता था। बौद्ध पालि-वाङ्मय में बुद्ध के समकालीन प्रायः सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का वर्णन अपने-अपने कुल की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए किया गया है। सप्त पीढ़ियों तक निष्कलंक कुल के आधार पर ही ब्राह्मण सोणदंड को उनके सहयोगियों ने कहा कि आप भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ न जायें।[२१] जब यही बात ब्राह्मण कूटदन्त से कही गयी तो उन्होंने उत्तर दिया— 'भगवान् बुद्ध का कुल भी तो सात पीढ़ियों तक पवित्र एवं निष्कलंक है, फिर मैं क्यों उनके दर्शनार्थ न जाऊँ ?'[२२]

भगवान् बुद्ध ने जातिवाद का खंडन तो किया परन्तु उनका वास्तविक विरोध उसके तत्कालीन रूढ़-रूप से था। वस्तुतः वे मात्र जन्मना वर्ण के सिद्धान्त के विरोधी जान पड़ते हैं। ब्राह्मणत्व संपन्न ब्राह्मण की निन्दा करते हुए हम उन्हें नहीं पाते हैं। वे अब्राह्मणोचित कर्मों में लग्न तथा गुणहीन ब्राह्मणों का अवश्य विरोध करते थे। वे इसके पक्ष में नहीं थे कि ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से हम किसी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र मान लें। उन्होंने कितने ही स्थानों में यह कहा कि तत्कालीन ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म का त्याग कर दिया था, जिसके लिए उन्हें दुःख था। ब्राह्मण-धम्मिक-सुत्त में उनके मुख से सच्चे ब्राह्मण की व्याख्या करायी गयी है। सच्चे ब्राह्मण के लिए हम बौद्ध-ग्रंथों में श्रद्धा के ही शब्द पाते हैं। वास्तव में, भगवान् बुद्ध ऊँच-नीच की भावना के विरोधी थे। ऐसी भावना की प्रबलता समाज के लिए घातक होती है। अतः समाज-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुधारक के रूप में उन्होंने इसका विरोध किया। वे परम्परागत समाज के विरोधी न थे, परन्तु उसकी त्रुटियों को दूर कर उस दुरवस्था का उन्मूलन करना चाहते थे जिसमें किसी जाति-विशेष में जन्म ग्रहण करने के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तथा उसकी सफलता का मार्ग अवरुद्ध हो जाय। व्यावहारिक रूप में तत्कालीन सामाजिक संगठन में उनके द्वारा जातिवाद का खंडन यहीं तक था।

तत्कालीन समाज का स्वरूप—जैसा कि ऊपर कहा गया है, जन-साधारण की दृष्टि में स्वयं स्रष्टा ने ही समाज का वर्गीकरण विभिन्न जातियों में करके उनके कर्म निर्धारित किये।[२३] इस धारणा का उल्लेख हमें कई जातक कथाओं में मिलता है। क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा गहपति (वैश्य) उच्च जाति के माने गये।[२४] धर्मशास्त्र में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि है, पर बौद्ध पालि-वाङ्मय में क्षत्रिय का। तत्पश्चात् स्थान आता है— गहपति (वैश्य), सेट्ठि (श्रेष्ठि) तथा साधारण वैश्यों का जिनके अन्तर्गत उच्चवर्गीय शिल्पियों का भी बोध होता है। परन्तु, तत्कालीन समाज में साधारण वैश्य उस समादर के भागी न थे जो गहपतियों एवं सेट्ठियों को मिलता था। वैश्य वर्ग के पश्चात् नाम आता है भूमिहीन श्रमिकों का। अंत में उल्लेख मिलता है— चंडाल, निषाद, वेण, रथकार, पुक्कुस आदि हीन जातियों का जो दरिद्रता तथा भोजन-वस्त्राभाव के शिकार थे।[२५]

सामान्यतया सभी अन्य जातियों का स्थान ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों से निम्न होने के फलस्वरूप इन उच्च वर्णों की कन्याएँ निम्न वर्णों के लिए अलभ्य थीं। सिगाल-जातक के अनुसार एक नापितपुत्र किसी लिच्छवि-कन्या पर आसक्त हो गया। परन्तु जब उसने उस कन्या को पत्नी-रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की तो उसके पिता ने कहा—'निषिद्ध वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा से कोई लाभ नहीं; कहाँ वह सिंहनी-सम क्षत्रिय-दुहिता और कहाँ तुम शृगाल सदृश नापित-पुत्र!'[२६]

इस काल के समाज में लोगों के अन्तर्जातीय खान-पान सम्बन्धी विचारों में हम एकरूपता नहीं पाते। समाज का एक वर्ग अन्तर्जातीय खान-पान में थोड़ा प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में था, तो दूसरा वर्ग इसके विपक्ष में। शाक्यवंशी महानाम ने कोशल-नरेश प्रसेनजित् के दूतों को छलपूर्वक आश्वस्त किया कि उन्होंने अपनी दासीपुत्री वासभखत्तिया के साथ एक ही थाली में भोजन किया, यद्यपि उन्होंने यथार्थतः ऐसा नहीं किया था। उन्होंने तो ऐसा नाटक रचा जिससे दूतों को विश्वास हो गया कि वासभखत्तिया उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहधर्मचारिणी-गर्भोद्भवा कन्या थी।[२७] आपस्तम्ब के विचार में ब्राह्मण स्नातक को ब्राह्मणेतर जातियों के गृह में भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए।[२८] उन्होंने खान-पान सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे इस तथ्य का संकेत मिलता है कि स्वच्छता की भावना तथा अपराध की प्रवृत्ति के निरोधात्मक प्रयास के रूप में सामाजिक वहिष्कार ने प्रमुख रूप से भोजन-सम्बन्धी स्पृश्या-स्पृश्य की धारणा को जन्म दिया।[२९] शस्त्रजीवियों (क्षत्रियेतर), शिल्पियों, चिकित्सकों, संदेशवाहकों तथा गुप्तचरों के कर्मों को अपवित्र मानकर उनके हाथ का भोजन अग्राह्य माना गया होगा। मद्यप, बन्दी या कर्त्तव्यच्युत ब्राह्मण के हाथ का भोजन भी निषिद्ध समझा गया। इसका कारण निःसन्देह सामाजिक वहिष्कार द्वारा अपराध करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना था। तत्कालीन समाज में भोजन-सम्बन्धी उन प्रतिबन्धों का अभाव दीखता है जो अवान्तर-कालीन समाज में प्रचलित हो गये। जाति-विशेष में जन्म ग्रहण करने मात्र से किसी व्यक्ति का छूआ भोजन अग्राह्य नहीं माना जाता था। आपस्तम्ब भी ब्राह्मण परिवार के लिए शूद्र पाचकों को नियुक्त करने की अनुमति देते हैं, यदि वे किसी द्विजाति के निरीक्षण में कार्य करें और स्वच्छता के नियमों का पालन करें।[३०] इस बात की भी व्यवस्था मिलती है कि आपत्काल में किसी भी जाति के हाथ का भोजन ग्रहण किया जा सकता है।

ब्राह्मण की स्थिति— बौद्ध लेखकों ने ब्राह्मणों की नष्ट धर्मावस्था का ही विशेष वर्णन किया है। उनके अनुसार ब्राह्मणों ने अपने प्राचीन आदर्शों का सर्वथा त्याग कर सभी प्रकार के सांसारिक सुख-भोगों में अपने को लिप्त कर रखा था तथा अब्राह्मणोचित कर्मों, जैसे—अपने शरीर के अंगों को वस्त्राभूषणों तथा आलेपनों द्वारा सुसज्जित करना, सुस्वादु भोजन करना, मद्य पीना, बृहदाकार रथों की सवारी करना, परिचारिकाओं से परिवृत रहना, प्रचुर धन-संग्रह करना, इत्यादि को करने लगे थे।[३१] दूसरी ओर ब्राह्मण-रचित धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों के आदर्श चित्रण की प्रमुखता है। इस अवस्था में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-वाङ्मय तथा धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों का परस्पर-विरोधी चित्रण किया गया है। परन्तु इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि धर्म-शास्त्र में भी अयोग्य ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है और बौद्ध-वाङ्मय में भी आदर्श ब्राह्मणों के लिए श्रद्धा के भाव व्यक्त किये गये हैं। बौद्ध लेखक यह भी स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण धर्मनिष्ठ होते थे। वस्तुतः समाज में मूर्ख तथा विद्वान् दोनों श्रेणी के ब्राह्मण विद्यमान थे और बौद्ध-ग्रंथों तथा धर्मशास्त्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के तुलनात्मक अध्ययन से ही तत्कालीन समाज के ब्राह्मणों का वास्तविक चित्र सुलभ हो सकता है। पालि-पिटक के अनुसार इस युग के ब्राह्मणों की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम श्रेणी उन ब्राह्मणों की थी जो शास्त्रसम्मत ब्राह्मण-कर्म करते। वेदों का अध्ययनाध्यापन करने वाले, पुरोहित एवं तपस्वी इस वर्ग के सदस्य थे। जातक कथाओं में प्रायः ऐसे ब्राह्मणों का वर्णन मिलता है जो अल्प-वय में ही अथवा गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित होकर तपोभूमि का मार्ग अपनाते थे।[३२] बौद्ध लेखकों के अनुसार सच्चे ब्राह्मण तीनों वेदों में पारंगत एवं इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि अनेक विद्याओं के मर्मज्ञ होते थे।[३३] सुनेत्र तथा सेल सदृश अनेक ब्राह्मण प्रकांड पंडित भी थे जिनके सन्निकट सैकड़ों शिष्यों का जमघट रहता था।[३४] ऐसे ब्राह्मणों को दिशा-प्रमुख आचार्य कहा जाता था।[३५] बौद्ध लेखकों ने ब्राह्मण आचार्यों की घोर भर्त्सना की है कि वे अपना सम्पूर्ण ज्ञान शिष्यों को नहीं दिया करते थे। परन्तु उनकी यह आलोचना सर्वथा उपयुक्त नहीं जान पड़ती क्योंकि ऐसे भी उच्चादर्शसम्पन्न एवं कर्त्तव्यनिष्ठ ब्राह्मण आचार्यों का अभाव नहीं दीखता जो सुयोग्य शिष्यों को अपना सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं दिखलाते थे। भगवान् बुद्ध के गुरु आलार कालाम ने शिक्षण काल के अन्त में कहा—'अब जितना मैं जानता हूँ उतना ही आप भी जानते हैं। हममें अब कोई अन्तर नहीं रहा।' यही सच्चे आचार्य का आदर्श था और विद्वान् ब्राह्मणों ने प्रायः इसका पालन भी किया।

बुद्ध-कालीन समाज का बहुसंख्यक जन-समुदाय उस वेद-विहित लौकिक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था जिसमें वैदिक यज्ञों की प्रधानता थी। परिणामतः तत्कालीन समाज में पुरोहित वर्ग अत्यन्त समादृत हुआ। याजक के रूप में उन्हें गायें, वस्त्राभूषण, शयन-सामग्री आदि अनेकानेक वस्तुएँ दानस्वरूप मिलती रहीं।[३६] उन्हें राजाओं द्वारा भूमिदान भी मिला करता था जिसकी संज्ञा ब्रह्मदेय्य पड़ी। कई ब्राह्मणों को ब्रह्मदेय्य के रूप में ग्राम मिले थे। ब्राह्मण सोणदण्ड को ब्रह्मदेय्य में चम्पा ग्राम मिला,[३७] मगधवासी ब्राह्मण कूटदन्त को बिम्बिसार ने खानुमत नामक ग्राम दिया[३८] और इसी प्रकार कोशलराज ने भी ब्राह्मणों का समादर किया।[३९] समय-समय पर ब्राह्मण-वाचनिक नामक धार्मिक उत्सव का आयोजन कर ब्राह्मणों के आशीर्वचन प्राप्त किये जाते; ऐसे अवसर पर भोज भी होते थे। ऐसे आयोजनों के ही आधुनिक संस्करण हिन्दू समाज में प्रचलित कथावाचन प्रतीत होते हैं। राज-पुरोहित की प्रतिष्ठा की अपनी विशिष्टता थी, क्योंकि वे राजसभा के एक प्रमुख

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पदाधिकारी भी थे।[४०] राजा के शैशव और किशोरावस्था में वे उसके गुरु होते थे और प्राय: इसके पश्चात् भी उनका यही स्थान रहता था।[४१] वे न्याय विभाग का शासन भी संभालते थे।[४२] राजा के सखा के नाते वे द्यूत-क्रीड़ा में उनका साथ देते[४३], उत्सवों के अवसर पर शोभा-यात्रा में राजा के साथ हस्ति आरोहण करते[४४] और दुर्भाग्य के दिनों में भी दोनों का संग नहीं छूटता था।[४५]

दूसरा वर्ग उन ब्राह्मणों का था जो शास्त्रानुमोदित ब्राह्मणोचित कर्मों से विमुख हो गये थे, और यह अस्वाभाविक भी नहीं था, क्योंकि समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा आर्थिक आवश्यकताओं ने अनेक ब्राह्मणों को इसके लिए वाध्य किया कि वे अपने पैतृक कर्मों— अध्यापन एवं पौरोहित्य का त्याग कर अन्य पेशे स्वीकार करें। समाज में जो नये परिवर्तन हो रहे थे और उनसे जो समस्याएँ उपस्थित हो रही थीं उन सभी से धर्मशास्त्रकार अवगत थे, अतएव उन्होंने ब्राह्मणों के लिए यह व्यवस्था की कि वे जीविकार्थ ब्राह्मणेतर वर्णों के कर्म करें। आपस्तम्ब[४६] और गौतम[४७] के अनुसार उनको आपत्काल में वाणिज्य एवं कृषि-कर्म करने की राय दी गयी है। मनु का कहना है कि वे क्षत्रिय अथवा वैश्य का कर्म कर सकते हैं।[४८] बौद्ध लेखकों के विवरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण अनेक प्रकार के कर्म करने लगे थे, जैसे—कृषि, शिल्प, व्यापार, सैनिककर्म, प्रशासन इत्यादि।[४९]

समाज में वैभव-सम्पन्न ब्राह्मणों का भी अभाव नहीं था और उन्हें महासाल कहा जाता था। सोणदण्ड, कूटदन्त, तारुक्ख, तोदेय्य, कसिभारद्वाज, पोक्खरसाति इत्यादि महासाल ब्राह्मणों के प्रति कोशल और मगध के निवासी अत्यन्त श्रद्धालु थे।[५०] धर्मभीरु जनता पर इनका बड़ा प्रभाव था। ऐसे महासाल ब्राह्मण विपुल भू-सम्पत्ति के स्वामी थे। कसिभारद्वाज के अधिकार में जितना खेत था उसे जोतने के लिए पाँच सौ हलों की आवश्यकता पड़ती थी।[५१] केणिय जटिल में इतना वैभव-सामर्थ्य था कि अपने विवाह तथा महायज्ञ के शुभ अवसर पर उन्होंने मगधराज बिम्बिसार को आमन्त्रित कर उनका यथोचित सत्कार किया था।[५२]

दीर्घ-निकाय के ब्रह्मजालसूत्र में निषिद्ध कर्मों में रत ब्राह्मणों की एक लंबी सूची सुलभ है। दश-ब्राह्मण-जातक में निषिद्ध कर्मरत दस प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है, यथा—चिकित्सक, परिचारक, निग्गाहक (जो कुछ पाये बिना पिंड नहीं छोड़ते), लकड़हारे, वणिक, अम्बष्ठ तथा वैश्य (कृषि एवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यापार में संलग्न), गोघातक, गोप-निषाद, लुब्धक और वे जो स्नान-काल में राजा की सेवा करते। अन्य जातक कथाओं में भी चिकित्सक[५३], कृषक[५४], वणिक[५५], वड्ढकि[५६] अजपाल,[५७] धनुर्धारी,[५८] तथा निषाद[५९] ब्राह्मणों के उल्लेख मिलते हैं। कई ब्राह्मणों का कर्म स्वप्नों की व्याख्या तथा भाग्य-सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करना था और वे लक्खण-पाठक कहे जाते थे।[६०] जो ब्राह्मण व्यक्ति के विभिन्न अंग-लक्षणों के आधार पर उसका भूत, भविष्य तथा आचरण बतलाते थे वे अंगविद्या पाठक कहे जाते थे।[६१] इसी प्रकार असिलक्षण पाठक तलवारों का गुण-दोष बतलाते थे।[६२] ब्राह्मणों में भूत-पूजक और तंत्रज्ञ भी थे। वे वेदभमंत्र[६३], पृथ्वी-विजयमंत्र[६४], चिंतामणि विद्या[६५] आदि मंत्रों के साधक थे और कुछ तो भूतापसारण कर्म भी करते थे।[६६] जातक कथाओं के उपर्युक्त विवरण में थोड़ी अतिरंजना हो सकती है, क्योंकि ब्राह्मणों का लुब्धक और गोघातक के रूप में भी उल्लेख किया गया है। ये कर्म ब्राह्मण के लिए सर्वथा अग्राह्य थे, परन्तु इतना स्पष्ट है कि आर्थिक आवश्यकताओं से बाध्य होकर ही ब्राह्मणों ने जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश किया होगा और परिस्थिति-वश ऐसे कर्मों को भी स्वीकार किया होगा जो उनके लिए सर्वथा निषिद्ध थे, यथा— लुब्धक कर्म, बढ़ईगिरी, परिचारक का काम इत्यादि। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदाध्ययनाध्यापन तथा यजन-याजन का कर्म ब्राह्मणों के अल्पसंख्यक वर्ग में ही सीमित रहा और अधिकांश ब्राह्मणों ने परिस्थितिवश विभिन्न प्रकार के कर्मों को ग्रहण किया।

क्षत्रिय की स्थिति— ब्राह्मण-रचित ग्रन्थों में ब्राह्मण-वर्ण का स्थान सर्वोपरि है, परन्तु बौद्ध-साहित्य में क्षत्रिय का। वर्णों की सूची में उनका स्थान प्रथम आता है।[६७] स्वयं भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण अम्बष्ठ से कहा—'हे अम्बष्ठ स्त्री से स्त्री की तुलना की जाय अथवा पुरुष से पुरुष की, क्षत्रिय ही श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण हीन।'[६८] दीर्घ-निकाय एवं अंगुत्तर-निकाय के अनुसार क्षत्रिय अपने को जन्मना सर्वाधिक निष्कलंक मानते थे।[६९] उनमें किस भाँति अहं भावना और श्रेष्ठता की चेतना प्रबल हो गयी और किस तरह ब्राह्मण होने के नाते पोक्खरसाति को प्रसेनजित् से तथा अम्बष्ठ को शाक्यों से अपमानित होना पड़ा उसका हम उल्लेख कर चुके हैं। इस संदर्भ में भगवान् बुद्ध तथा वर्द्धमान महावीर के जन्म की कथाएँ भी उल्लेखनीय हैं। जातक निदानकथा में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने मनुष्ययोनि में जन्म ग्रहण करने के पूर्व विचार किया कि किस कुल में जन्म लेना श्रेयस्कर होगा और सभी वर्णों के गुण-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोषों पर चिंतन करते हुए वे इस निर्णय पर पहुँचे कि क्षत्रियकुल ही लोकसम्मत है, जिसमें उन्हें जन्म लेना चाहिए।[७०] इसी प्रकार की कथा जैन ग्रन्थ कल्पसूत्र में भगवान् महावीर के जन्म के विषय में मिलती है। भगवान् महावीर को देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश करने पर अपनी भूल ज्ञात हुई, तो वे त्रिशला नाम की क्षत्रियाणी के गर्भ में प्रविष्ट हो गये।[७१] सोनक-जातक में राजा अरिन्दम अपनी जन्मना श्रेष्ठता की तुलना पुरोहित-पुत्र सोनक से करते हुए कहते हैं— 'यह ब्राह्मण तो हीनजन्मा है, और मैं हूँ पवित्र क्षत्रियकुलोत्पन्न।'[७२]

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्षत्रियों में इस प्रकार श्रेष्ठता की भावना पनपने के क्या कारण थे ? इस प्रश्न का उत्तर मिलता है वर्णधर्म का अनुसरण करनेवाली तत्कालीन समाज-व्यवस्था से जिसमें एकमात्र क्षत्रिय ही राजत्व का उपभोग करने का अधिकारी था। इस विशेषाधिकार के फलस्वरूप क्षत्रिय वर्ग को निसर्गतः अन्य जातियों की तुलना में सर्वाधिक प्रभुता, प्रतिष्ठा एवं सम्मान मिले। इसी कारण बौद्ध एवं ब्राह्मण-रचित ग्रन्थों में समान रूप से राजा को मनुष्यों में श्रेष्ठतम कहा गया है। ब्राह्मण अपने तप एवं ज्ञान के बल पर समाज में पूजित हुए, परन्तु क्षत्रिय भी इन्हीं गुणों से समन्वित थे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों ही अभिजात वर्ग के सदस्य थे और उनकी संतान को ज्ञानार्जन के समान अवसर मिले। ब्राह्मण कुमार तथा क्षत्रिय कुमार के एक ही गुरु से विद्यादान प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं,[७३] अतः क्षत्रियों ने यह स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण उनसे विद्वता में श्रेष्ठ हैं। उपनिषद् काल में क्षत्रियों ने यह भी निदर्शित कर दिया कि उनका तत्त्व-ज्ञान ब्राह्मणों के तुल्य ही नहीं, अपितु उनसे बढ़कर है। बुद्ध-युग में नवीन धार्मिक चेतना के जन्मदाता बुद्ध तथा महावीर सदृश महापुरुषों को जन्म देने के कारण इस जाति के सदस्यों में गर्व का होना भी स्वाभाविक ही था। यदि बौद्ध शास्त्रकारों ने क्षत्रिय वर्ण को सभी वर्णों से ऊपर स्थान दिया, तो कोई अस्वाभाविक कार्य नहीं किया।

पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि राजमन्त्री, सेनानायक, प्रशासकीय उच्च पदाधिकारी तथा सामन्त प्रायः क्षत्रिय ही हुआ करते थे; केवल मंत्रिपद में अधिकतर ब्राह्मणों को नियुक्त किया गया। क्षत्रिय जाति प्रमुखतः युद्धजीवी थी, परन्तु आर्थिक परिस्थितिवश ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों को भी अनेक प्रकार के कर्मक्षेत्रों में प्रवेश करने के लिए बाध्य होना पड़ा और उन्होंने वणिक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हस्त-शिल्पी, कुम्भकार, गायक-वादक, पाचक आदि का कर्म भी किया।[७४]

वैश्य की स्थिति—पालि-पिटक में वैश्य वर्ण के लिए वेस्स, गहपति, सेट्ठि, कुटुम्बिक इत्यादि संज्ञाएँ प्रयुक्त की गयी हैं। गहपति (गृहपति) शब्द से सामान्यतया किसी भी वर्ण के सदस्य का बोध होता है, परन्तु बौद्ध लेखकों ने जिस संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया है उससे वैश्य जाति का ही बोध होता है। फिक महोदय का यह तर्क सबल नहीं है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी गहपति कहलाते थे अतः इस शब्द से वैश्य जाति का बोध नहीं होता।[७५] पालि-साहित्य में जहाँ भी गहपति शब्द का प्रयोग ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय गृहस्वामी के लिए हुआ, वहाँ स्पष्ट रूप में ब्राह्मण-गहपति या क्षत्रिय-गहपति शब्द आये हैं और वैश्य के अर्थ में मात्र गहपति शब्द प्रयुक्त हुआ है। वैश्य-कुल को गहपति-कुल कहा गया। जातियों की सूची में भी गहपति शब्द ब्राह्मण-क्षत्रिय के पश्चात् और शूद्र के पूर्व आता है।[७६] यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है कि जिन कुलों को गहपति-कुल कहा गया उनके वंशानुगत स्वरूप को भी व्यक्त किया गया। गहपति-कुल के सदस्य अपने पैतृक कर्म का त्याग करने पर भी गहपति-कुलोत्पन्न कहलाते रहे। परिस्थिवश साग-सब्जी का क्रय-विक्रय करने अथवा मजदूरी करने पर भी वे गहपति ही कहे गये।[७७] गहपति का विवाह भी स्वजाति में ही सम्पन्न होता था।[७८] इन सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि-वाङ्मय में गहपति का प्रयोग वैश्य जाति के लिए किया गया है।

कुटुम्बिक शब्द का अर्थ भी गृहस्वामी है, परन्तु पालि-वाङ्मय में इसका प्रयोग प्रायः सम्पन्न वैश्य गृहपति के अर्थ में किया गया है। नगरवासी कुटुम्बिक प्रमुख रूप से व्यापारी थे और वे धान्य-क्रय-विक्रय,[७९] सूद में रुपये लगाना,[८०] इत्यादि व्यवसाय करते, लेकिन जो कुटुम्बिक ग्रामवासी थे वे सम्पन्न किसान हुआ करते थे।[८१] कई कुटुम्बिक बड़े धनाढ्य थे।

सेट्ठि (श्रेष्ठिन् = सेठ) उन वैश्यों को कहा जाता था जो वैश्य-वर्ग के अभिजात एवं सर्वाधिक धनाढ्य सदस्य थे। सेट्ठियों को वैश्य जाति के अंतर्गत ही नहीं, वरन् समाज में भी विशेष मान और मर्यादा मिले। सेट्ठिपुत्रों की शिक्षा-दीक्षा क्षत्रिय-ब्राह्मण कुमारों के संग होती थी और इनके विवाह भी सेट्ठि-वर्ग के अंतर्गत हुआ करते थे। अपने धन-वैभव के बल पर इन्होंने समाज में अपने प्रभाव-क्षेत्र को व्यापक बनाया था। समाज के विभिन्न वर्ग इनके अनुग्रह से प्रभावित हुए बिना न रह सके। महावग्ग के अनुसार राजगृह के एक सेट्ठि ने राजा एवं व्यापार-निगमों का बड़ा उपकार किया।[८२]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे सेट्ठि ने, जो मगधवासी था, भिक्षु-संघ को अस्सी करोड़ कार्षापणों का दान दिया।[८३] श्रावस्ती नगर के प्रमुख सेट्ठि अनाथ पिंडिक ने भी भिक्षु-संघ को प्रभूत दान दिया। किस प्रकार इस सेठ ने जेतवन की सम्पूर्ण भूमि को स्वर्ण मुद्राओं से आच्छादित कर क्रय किया यह कथा लोक-विश्रुत है। जातक कथाओं में कतिपय सेट्ठियों का उल्लेख राजसभा के उच्च पदाधिकारी के रूप में भी हुआ है। ऐसे सेट्ठि प्रतिदिन एकाधिक बार राजदर्शनार्थ राज-सभा में जाते थे।[८४] महाजनक-जातक के अनुसार सेट्ठिजन राजसभा में अमात्यमंडल एवं ब्राह्मणों के साथ समान आसन में विराजते थे। ऐसे भी वर्णन मिलते हैं कि राजपदाधिकारी सेट्ठि को प्रव्रजित होने के लिए भी अनिवार्यतः अपने स्वामी की अनुमति लेनी पड़ती थी।[८५] राजसभा से सेट्ठि-जनों के इस संपर्क को देखकर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में वाणिज्य और उद्योग विषयक परामर्श देने के लिए व्यापारी वर्ग के एक प्रतिनिधि को भी राजसभा में स्थान दिया गया होगा।

वस्तुतः सेट्ठि बड़े व्यापारी थे। कई तो बैंकपति थे और कई सार्थवाह। पण्यों से लदे अपनी बैलगाड़ियों के काफिले लेकर व्यापार हेतु सुदूर प्रदेशों में जाने वाले सार्थवाह कहलाये। पालि-पिटक के अनुसार सार्थवाहों के काफिले देश के पूर्व भाग से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व आते-जाते रहते, जिससे सामग्री का आदान-प्रदान चलता रहता।[८६] इस युग के बड़े नगरों में अनेका-नेक सार्थवाहों का वास था जो पण्य-पूर्ण शकट-समूह के साथ विभिन्न नगरों में जाया करते थे। श्रावस्ती के श्रेष्ठि अनाथ पिंडिक अपने पण्यपूर्ण शकट-समूह के साथ प्रायः राजगृह आते रहते थे। एक सार्थवाह के कारवाँ में पाँच सौ तक बैलगाड़ियाँ रहती थीं।[८७] इन काफिलों को बीहड़ वन-मार्गों एवं दुर्गम मरुस्थलों को तय करना पड़ता तब कहीं ये अपने गन्तव्य तक पहुँच पाते। स्वभावतः सार्थवाहों का कार्य साहसपूर्ण था। पग-पग में जीवन का खतरा बना रहता—किसी भी क्षण किसी दस्युदल द्वारा आक्रांत किये जाने अथवा किसी मरुस्थल में भटक कर जीवन से हाथ धोने या घोर कष्ट का सामना करने की संभावना बनी रहती थी। परन्तु, नाना कष्टों को झेलकर भी सार्थवाहों ने सुदूर प्रदेशों में जाकर व्यापार किया और उन्होंने निःसंदेह देश की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के सदृश गहपति (वैश्य) भी अपनी सामाजिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मान-मर्यादा के प्रति चैतन्य हो गये थे। पालि-वाङ्मय में गहपति उच्च-कुलोद्भव कहे गये हैं। महावग्ग में वाराणसीवासी सेट्ठिपुत्र यश को कुलपुत्र कहा गया है।[८८] राजसभा में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय के पश्चात् उन्हें ही सम्मान मिला।

शूद्र की स्थिति—पालि-पिटक एवं धर्मसूत्रों के अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बौद्ध-युग में अनेक उपजातियों को शूद्र माना गया। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि किन विशिष्ट जातियों को शूद्र कहा जाता था, किन्तु जिस रूप में निम्न जातियों की सामाजिक अवस्था का वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें शूद्र-वर्ण के अंतर्गत माना जाता था। शूद्र प्रमुखत: सेवक और मजदूर के रूप में कार्य करते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश शूद्रों को कृषि से सम्बद्ध कार्यों में नियुक्त किया जाता था। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र से इस बात का आभास मिलता है कि ऐसे शूद्रों के पास इतनी भू-संपत्ति नहीं रहती थी कि वे राज्य को उसका कर देते।[८९] इन्हें भतक और कर्मकर कहा जाता था।[९०] जातकों से ज्ञात होता है कि मजदूर (कर्मकर) की मजदूरी प्रतिदिन डेढ़ माषक थी।[९१] पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार उसे चार माषक मात्र मिलते थे।[९२] कौटिलीय अर्थशास्त्र में खेतीहर मजदूर की मजदूरी निर्धारित की गयी है—भोजन के साथ $\frac{2}{3}$ माषक।[९३] अत: उसकी दैनिक मजदूरी दो जनों के भोजन के मूल्य के लगभग पड़ती थी। यह मजदूरी इतनी नहीं थी जिससे श्रमिक वर्ग सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता। भृतकों की आय साधारण अवश्य थी, परन्तु उन्हें समाज में हेय-दृष्टि से नहीं देखा जाता था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो आपत्काल में उच्चवर्ण के सदस्य इस कर्म का आश्रय नहीं लेते। एक जातक कथा में ब्राह्मण-कन्याओं के जीवन निर्वाह के लिए भत्ति का आश्रय लेने का उल्लेख मिलता है।[९४] पाणिनि और पतंजलि ने नगरवासी होने के कारण संभवत: नागरिक क्षेत्र के श्रमिकों का उल्लेख किया है, अत: वे जातकों तथा अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक मजदूरी का वर्णन करते हैं।

शूद्र-वर्ण का एक वर्ग शिल्पियों का था। इस वर्ग ने इस युग की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में प्रमुख भूमिका अदा की। लोहार और बढ़ई आदि शिल्पियों के उपयोग के लिए हथौड़े, ऋकच (आरा), तक्षणी इत्यादि औजारों के साथ कृषि-कर्म में प्रयुक्त हल और कुल्हाड़ी-जैसे उपकरणों के निर्माता ये ही थे। तकनीकी क्षेत्र में समाज के क्रमिक विकास के क्रम में धीरे-धीरे नवीन पेशेवर जातियों का उद्भव होता जा रहा था। पेशे और शिल्प कालान्तर में पैतृक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होते गये और उनमें संलग्न लोगों की विशिष्ट जातियाँ बनती गईं। इस प्रकार जो शिल्पी जातियाँ बन गईं उनमें बुनकर (पेशकार, तन्तुवाय),[९५] बढ़ई (तच्चक),[९६] लोहार (कम्मार=कर्मार),[९७] दन्तकार,[९८] कुम्हार (कुम्भकार)[९९] आदि के उल्लेख मिलते हैं। इन जातियों में सजातीय विवाह की प्रथा प्रचलित हुई और प्रत्येक जाति का एक प्रमुख भी होने लगा जो जेट्ठक कहलाया, जैसे—मालाकार-जेट्ठक,[१००] वड्ढकि-जेट्ठक,[१०१] कम्मार-जेट्ठक[१०२] इत्यादि। कुम्भकार, लोहार, दंतकार, बढ़ई आदि जातियाँ अलग-अलग ग्रामों में वास करने लगीं और जाति के आधार पर गाँवों के नामकरण होने लगे, जैसे–कुम्भकारग्राम,[१०३] कम्मारग्राम,[१०४] वड्ढकिग्राम[१०५] आदि।

अनेक शूद्र-जातियाँ ऐसी भी थीं जो असंगठित, अव्यवस्थित तथा भ्रमणशील रहती थीं। इनका प्रमुख कर्म था— जनता का मनोरंजन। इस प्रकार की जातियों में नट (नाचने तथा गाने-बजाने वाले),[१०६] लंघ-नटक (करिश्मा दिखाने वाले),[१०७] मायाकार,[१०८] सँपेरे (अहिगुण्डिक),[१०९] नेवला पालनेवाले,[११०] गंधर्व (गायक-वादक),[१११] भेरी वादन करनेवाले,[११२] शंख-वादक,[११३] सर्पदंश का विष दूर करनेवाले (विसवेज्जा)[११४] आदि का उल्लेख बौद्ध-पिटक में किया गया है। इन घुमक्कड़ों की अपने कर्मों के अनुसार विशिष्ट जातियाँ बन गयीं अतः हमें भेरीवादक-कुल,[११५] शंखवादक-कुल,[११६] नटक-कुल,[११७] गंधव्ब-कुल[११८] इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार की और भी कई जातियाँ थीं परन्तु उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित था। इस वर्ग की जातियों में गोपालक, पशुपालक, तृणहारक (घास काटनेवाले), लकड़हारे, वनकम्मिक (वनों में काम करनेवाले), आराम-गोपक (उपवनों की रखवाली करने वाले) आदि के उल्लेख मिलते हैं।[११९] इन जातियों का सम्बन्ध मुख्यतया ग्रामीण जीवन से था। जैसा कि मज्झिम-निकाय से ज्ञात होता है, शिल्पी जातियों के समान ये जातियाँ भी अलग-अलग ग्रामों में बसने लगीं थीं।

हीन-जातियाँ—पालि-पिटक में चंडाल (चांडाल), नेसाद (निषाद), पुक्कुस (पौल्कष), वेण तथा रथकार—इन पाँच जातियों को हीन-जाति में परिगणित किया गया है।[१२०] इन जातियों के सदस्यों को नीचकुलोत्पन्न कहा गया और इनके कर्म भी नीच-सिप्प कहलाये। पालि-ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि आरंभ में हीन-जाति तथा हीन-सिप्प (शिल्प) में भेद था, परन्तु कालान्तर में दोनों अभिन्न हो गये और उपर्युक्त जातियों के सदस्य हीनकर्मा होने के कारण समाज में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिरस्कृत समझे जाने लगे। वस्तुतः जन्मना तथा कर्मणा ये जातियाँ अधम मानी जाने लगीं और उच्च जाति के लोग इनका अनादर करने लगे। गाली के रूप में चांडाल और वेण का प्रयोग किये जाने के उदाहरण भी जातक कथाओं में उपलब्ध होते हैं। एक क्रुध रानी का प्रसंग आता है जिसने क्रोधावेश में अपनी पुत्री को कहा— तू वेणी है, चांडाली है।[१२१] इसी प्रकार एक ब्राह्मण ने अपनी दुश्चरित्रा पत्नी को पाप चांडाली कहा।[१२२]

हीन-जातियों में चांडालों की अवस्था सर्वाधिक शोचनीय थी। अभागे चांडालों को समाज में सर्वत्र तिरस्कृत होना पड़ता और बेचारे नगर-सीमा से हटकर अपने घर बनाते।[१२३] चांडाल अस्पृश्य तो थे ही, जातक कथाओं के अनुसार वे अदर्शनीय भी थे। इस कारण उन्हें नगर-प्रवेश का दुस्साहस नहीं होता था और वे नगर-प्रवेश-द्वार के निकट ही अपनी कला का प्रदर्शन कर जीविकोपार्जन करते थे।[१२४] शृगाल-जातक में चांडाल की तुलना शृगाल से की गयी है, क्योंकि जिस प्रकार पशुओं में शृगाल है उसी प्रकार मनुष्य-जाति में चांडाल। चांडाल इतने अपवित्र समझे जाते कि उनके स्पर्श से हवा भी दूषित हो जाती। इसके सम्बन्ध में एक कथा मिलती है—जिस मार्ग से एक ब्राह्मण जा रहा था, दूसरा राहगीर भी उसी मार्ग से जा रहा था। ब्राह्मण ने अपने साथी राहगीर का परिचय पूछा। राहगीर ने उत्तर दिया, 'मैं चांडाल हूँ।' हवा का रुख चांडाल से होकर ब्राह्मण की ओर था। चांडाल के स्पर्श से दूषित वायु मेरे शरीर को दूषित कर देगी ऐसा मन में सोच ब्राह्मण दूसरी ओर लपकते हुए बोला—'अरे अशुभ चांडाल, दूसरी ओर जाओ।'[१२५] जातक कथाओं में चांडालों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन उपलब्ध होता है। मातंग-जातक ने एक अभागे चांडाल का वर्णन इस प्रकार किया है—मातंग नामक एक चांडाल वाराणसी नगर के निकट चांडाल ग्राम में रहता था। एक दिन वह कार्यवश नगर की ओर चल पड़ा। जब वह नगर-प्रवेश कर रहा था उसी समय दीर्घ मांगलिका नाम की श्रेष्ठि-दुहिता पालकी में सवार होकर कहीं जा रही थी। पालकी पर पर्दा पड़ा था, पर श्रेष्ठि-दुहिता की दृष्टि चांडाल पर पड़ गयी तो उसने पूछा— 'यह पुरुष कौन है?' उत्तर मिला— देवि, यह चांडाल-पुत्र है। श्रेष्ठि-पुत्री के मुँह से निकला— 'ओह, मैंने तो अशुभ-दर्शन किया' और उसने अपने नेत्रों को सुगंधित जल से धोकर पवित्र किया। श्रेष्ठि-दुहिता के साथ जो लोग थे उन्होंने कहा— 'अरे, दुष्ट चांडाल, आज तुम्हारे दर्शन हो जाने के फलस्वरूप हमें मुफ्त में भात और शराब न मिल पायगी।' ऐसा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कह क्रोधावेश में उन लोगों ने मातंग की लात-जूतों से अच्छी पूजा की और उसे चेतनाशून्य छोड़कर चलते बने।[१२६] इसी प्रकार की एक अन्य कहानी चित्तसंभूत-जातक में मिलती है। उज्जैनी नगर की राजपुरोहित-कन्या और श्रेष्ठि-पुत्री बहुत-सा खाद्य-भोजन लेकर उद्यानक्रीड़ा के लिए निकलीं। उन्होंने नगर-प्रवेश-द्वार के निकट दो चांडाल-पुत्रों चित्त और संभूत को शिल्प दिखलाते देखा तो पूछा— 'ये कौन हैं ?' उत्तर मिला— चांडाल पुत्र। अदर्शनीय देखा, तो अपने नेत्र सुगंधित जल से धोकर पवित्र किया। जनता चिल्लायी— 'अरे दुष्ट चांडालो, आज तुमने हमें बिना मूल्य के भात और सुरा से वंचित कर दिया'। फिर चांडालों की मरम्मत कर उन्हें अतीव पीड़ा पहुँचायी गयी। जब चांडाल बंधुओं की चेतना लौटी तो वे इस निर्णय पर पहुँचे कि उनके सभी कष्टों का मूल कारण चांडाल-कुल में जन्म पाना है। अतः उन्होंने चांडाल-कर्म को त्याग देने का संकल्प किया। वे तक्षशिला चले गये और अपना परिचय ब्राह्मण के रूप में देकर एक आचार्य के शिष्य हो गये। एक दिन वे निकट के ग्राम में मंगल-पाठ के लिए गये। भोजन के समय उनको उष्ण खीर परोसा गया। संभूत ने उष्ण खीर का कौर मुँह में डाला। उसका मुँह जलने लगा तो चित्त पंडित की ओर देखकर उसने चांडाल भाषा में कहा—'अरे, ऐसा गर्म है !' चित्त ने भी चांडाल भाषा में ही उत्तर दिया— 'निगल, निगल'। फिर उनका भेद खुल गया, तो विद्यार्थी समुदाय चिल्ला पड़ा—'अरे दुष्ट चांडालो, इतने दिनों तक तुमलोगों ने अपने को ब्राह्मण कहकर हमें ठगा।' वे उन्हें पीटने लगे। तब एक सत्पुरुष ने उनकी रक्षा की और कहा—'यह तुम्हारी जाति का दोष है, जाओ, कहीं प्रव्रजित हो जाओ।'[१२७]

जातक कथाओं में वर्णित चांडाल जाति की हीनावस्था की पुष्टि धर्मशास्त्र से भी होती है। आपस्तम्ब चांडाल को अस्पृश्य और अदर्शनीय मानते हैं।[१२८] यदि किसी ग्राम में चांडाल आ जाय तो उस समय आपस्तम्ब और गौतम वेद का अध्ययन स्थगित करने का आदेश देते हैं।[१२९] तपोवन में भी यदि वह दिखाई पड़ जाय तो इसी नियम के पालन का विधान है। मनु कहते हैं कि यदि कोई चांडाल देख रहा हो तो उस समय ब्राह्मण को भोजन नहीं करना चाहिए।[१३०] मनुस्मृति में कहा गया है कि चांडालों की बस्तियाँ ग्राम से बाहर हों, वे केवल मिट्टी के पात्र काम में लावें, कुत्ते तथा गदहे उनकी सम्पत्ति हों। वे मृतकों के वस्त्र धारण करें, लोहे के आभूषण पहनें, टूटे बर्तनों में भोजन करें और यत्र-तत्र घूमते रहें।[१३१] इस प्रकार हम पाते हैं कि चांडालों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

को समाज में नीच और अधम माना जाता था और चांडालयोनि में जन्म पाने का अर्थ था जीवन के सबसे बड़े अभिशाप का भागी बनना।

समाज में चांडाल कौन-कौन कर्म करते थे, इसका भी उल्लेख जातक कथाओं में यत्र-तत्र हुआ है, जिनसे पता चलता है कि उन्हें प्रायः निम्न कोटि के कामों में लगाया जाता था। मृतकों को जलाना उनका प्रमुख काम था। मनु के अनुसार जिन मृतकों के सम्बन्धी न हों उनके शव ढोने का काम चांडालों से कराना चाहिए।[१३२] सड़कों में झाड़ू लगाने और जीर्ण वस्तुओं के उद्धार के काम भी उनसे लिये जाते थे।[१३३] कुछेक को अपराधियों को कोड़े लगाने या उनका अंगच्छेद करने जैसे कामों के लिए नियुक्त किया जाता था।[१३४] मनु का कहना है कि जिन अपराधियों को मृत्युदण्ड मिला हो उनकी हत्या का काम चांडालों से लिया जाय।[१३५] कई चांडाल ऐंद्रजालिक बन जाते थे।[१३६]

प्रायः चांडालों को देखने मात्र से आँखों को पता चल जाता था कि वे कौन हैं। चांडाल बालक अथवा बालिकाएँ जब चीथड़ों में लिपटे तथा हाथ में भिक्षा-पात्र लिए हुए[१३७] नगर में प्रवेश करतीं, तो उन्हें देख कर ही दया आ जाती होगी। चांडाल लोग प्रायः लाल या पीले रंग के कपड़े पहना करते थे।[१३८] उनके अधोवस्त्र प्रायः जीर्ण रहते और शरीर के ऊपरी भाग का दुपट्टा लाल होता। वे एक कायबंधन भी पहना करते थे जिसके ऊपर एक गंदा कपड़ा ओढ़ा जाता।[१३९] वे अपना सिर भी पीले कपड़े से बाँधा करते।[१४०]

इसमें कोई संदेह नहीं कि चांडाल समाज में तिरस्कृत जाति थी, परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि ज्ञानी पुरुष को चांडालपुत्र होने पर भी समाज में समुचित प्रतिष्ठा मिली। समाज के बुद्धिवादी वर्ग के विचार में ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो, समुचित आदर का भागी है। वह चांडाल हो अथवा पुक्कुस, अपने गुणों के अनुरूप उसे समाज में मान पाने का अधिकार है। जातक कथाओं में ऐसे सत्पुरुषों के वर्णन मिलते हैं जो अपने ज्ञान के कारण समाज में पूजित हुए। मातंग थे तो चांडाल, पर वे तपोबल से महात्मा हो गये, अतः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने भी उनकी सेवा की।[१४१] एक ज्ञानी चांडाल के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण एक ब्राह्मण युवक को उस चांडाल के चरणों में नत-शीष होना पड़ा।[१४२] एक अन्य ब्राह्मण एक चांडाल महापुरुष का शिष्य हो गया और उसने अपने गुरु की सब प्रकार से सेवा-शुश्रूषा की।[१४३] इस प्रकार की कथाओं में सत्य का अंश कितना है यह कहना कठिन है। यदि किसी चांडाल को समाज में उच्च

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान मिला भी तो उसे अपवाद ही माना जायगा। सामान्यतया चांडाल अभागे ही रहे। उत्तर-कालीन धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने भी उन्हें निम्न-स्थान ही दिया। अत्रि-स्मृति में चांडाल की छाया के स्पर्श का भी निषेध किया गया है।[१४४]

चांडालों के समान निषाद भी नगरों से बाहर रहा करते थे। इनका प्रमुख पेशा जंगलों में विचरण और आखेट करना था।[१४५] मनुस्मृति के अनुसार इनका कर्म मछली मारना था।[१४६] संभवत: अपनी कर्म-प्रकृति के फलस्वरूप इनका स्थान भी समाज में हीन हो गया। प्राचीन यूनान में पशुघातकों का स्थान समाज में निम्न ही रहा।[१४७]

पुक्कुस का स्थान हीन जातियों की सूची में दूसरा है।[१४८] मनु के अनुसार इनका उद्‌भव शूद्रा नारी और निषाद के समागम से हुआ।[१४९] यह धारणा उस काल की है जब अंतर्जातीय विवाहों को सर्वथा निषिद्ध माना जाने लगा। संभवत: पुक्कुस जाति भी चांडाल के समान तिरस्कृत रही। पुक्कुसों को भी निम्नस्तर के कर्म में नियुक्त किया जाता था। संभवत: सफाई का काम ही इनका मुख्य पेशा था, क्योंकि इनके द्वारा मंदिरों एवं प्रासादों से मुरझाए फूलों को स्थानान्तरित कराये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[१५०]

वेण और रथकार को भी हीन-जातियों की श्रेणी में स्थान देने का कारण भी उनके कर्मों के प्रति समाज में हीन-भावना का पनपना ही है। वे बाँस और लकड़ी के सामान बनाने का काम करते थे, जिसे निम्न-कोटि का काम माना जाता था। पालि-पिटकों में अनेक प्रकार के काम का उल्लेख निम्न-स्तर के कर्म के रूप में हुआ है। नलकार (टोकरी बनाने वाला),[१५१] वेणुकार (बाँसुरी निर्माता)[१५२] पेशकार (बुनकर),[१५३] नापित (या नहापित),[१५४] सर्पदंश का विष दूर करने वाले (वेसवेज्जा),[१५५] दर्जी (तुण्णकम्मका),[१५६] सुरा-विक्रयी (वारुणि-वाणिजा)[१५७] तथा नाविक आदि को[१५८] हीन कर्म करनेवाला कहा गया है। कसाई (ओरब्भिक), चिड़ीमार (शकुनिक), शिकारी (लुद्दक = लुब्धक), मछुआ (मच्छघातक) आदि भी इसी श्रेणी में आते हैं,[१५९] क्योंकि इनके कर्म खूनी बतलाये गये हैं।

इस प्रकार अनेक जातियाँ अपने कर्मों की प्रकृति के कारण हीन कहलाईं और समाज में उनका स्थान निम्न माना गया। परन्तु इन जातियों के अनेक सदस्यों को यह सौभाग्य भी प्राप्त होता रहा कि उनको राजकुल में नियुक्त

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किया गया ? राजकुम्भकार, राजुपट्टान-नलकार, राज-मालाकार आदि इसी वर्ग के थे।[१६०] स्वभावतः ही इनका स्थान अपनी जाति के साधारण सदस्यों से उच्चतर रहा। नापित निम्न जाति का था, परन्तु राज-नापित तो राजा से मित्रवत् व्यवहार करता था।[१६१] वह राजकुल में अनेक प्रकार से राजा की सेवा करता; राजा की हजामत बनाता, उनके बालों को सँवारता, द्यूत-क्रीड़ा के लिए अष्टापद को व्यवस्थित करता इत्यादि। कभी-कभी तो राज-नापित को जीविकोपार्जन के लिए सम्पूर्ण ग्राम ही उपलब्ध हो जाता था।[१६२]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३

दास-प्रथा

वर्ण-व्यवस्था के समान ही दास-प्रथा भी भारतीय समाज में अति प्राचीन काल में ही प्रचलित हुई। हड़प्पा-युगीन समाज में भी दासों के अस्तित्व का अनुमान लगाया जाता है।[१] वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा स्मृतिग्रंथ सभी दास-दासियों का उल्लेख करते हैं। कौटिल्य के अनुसार यदि म्लेच्छ अपनी संतान का विक्रय करें अथवा उन्हें बंधक में दें तो वे दंड के भागी नहीं होते, पर आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता।[२] मनु भी कहते हैं कि दास बनाने के लिए शूद्रों का क्रय करना चाहिए।[३] बौद्ध पालि-साहित्य में तो दासों के जीवन से सम्बद्ध सामग्री की प्रचुरता है। प्राचीन भारत में दास-प्रथा थी तो अवश्य, परन्तु इस देश के समाज में दासों की वैसी दुरवस्था नहीं थी जैसी प्राचीन यूनान तथा रोम में अथवा अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में अमेरिका में थी। जहाँ इन पाश्चात्य देशों में दास-स्वामी अपने दासों के साथ क्रूरतम व्यवहार करते थे, वहाँ भारतवर्ष में किसी बाह्य पर्यवेक्षक को पारिवारिक भृत्यों तथा दासों में विभेद करना संभव न हो सका। यही कारण है कि मेगास्थनीज ने अपने भारत-विवरण में दासों के अस्तित्व तक का उल्लेख नहीं किया है।

पालि-पिटक तथा समकालीन संस्कृत-साहित्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दासों के क्रय-विक्रय तथा दान सामान्य बातें थीं। राजकुल···, धनाढ्य नागरिक परिवार तथा सामान्य ग्रामीण गृह में समान रूप से दास-दासी रखे जाते थे। हमें दास-दासी क्रय-विक्रय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नन्द-जातक (जातक सं० ३९) में एक सद्धिविहारिक (बौद्ध विहार का अन्तेवासी) की तुलना शत-मुद्रा-क्रीत दास से की गयी है। सत्तुभस्त-जातक (संख्या-४०२) के अनुसार जब एक ब्राह्मण ने भिक्षा माँग कर सात सौ कार्षापण उपार्जित कर लिया, तो उसने सोचा—'इतनी मुद्राओं से दास-दासियाँ खरीदी जा सकती हैं,' परन्तु इस प्रसंग में दास-दासियों की संख्या का उल्लेख न होने से एक दास अथवा दासी के निश्चित मूल्य का पता नहीं चलता। अतः इस

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध में किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने में कठिनाई हो जाती है। जैसा कि नन्द-जातक में उल्लेख मिलता है, सम्भवतः एक दास का मूल्य लगभग एक सौ कार्षापण रहा होगा, यद्यपि इसमें सकारण कमी-वेशी होती रहती होगी। हृष्ट-पुष्ट दास का मूल्य दुर्बल शरीरवाले की अपेक्षा कुछ अधिक पड़ता होगा। इसी प्रकार एक सामान्य रूप-रंग वाली दासी की तुलना में रूपवती दासी का मूल्य भी अधिक चुकाया जाता होगा। विक्रयी और क्रेता की आवश्यकताओं अथवा परिस्थितियों का प्रभाव भी दास-दासी के मूल्य-निर्धारण में पड़ना स्वाभाविक था।

दास-दासी क्रय के समान दास-दासी का दान भी समाज में अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा। वैदिक युग के राजे अपने पुरोहितों को यज्ञ एवं राज्याभिषेक समारोहों के समय बड़ी संख्या में दास-दासी प्रदान करते थे। महाभारत काल में महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ में नियुक्त ८८,००० ब्राह्मण स्नातकों को ३०-३० दासियों का दान दिया।[४] पालि-पिटक में भी दास-दासी दान के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस प्रथा के प्रचलन के कारण ही भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए दान में दास अथवा दासी स्वीकार करने का निषेध किया। जुण्ह-जातक (४५६) के अनुसार एक राजा से एक ब्राह्मण को अन्य सामग्री के साथ एक सौ दासियों का दान प्राप्त हुआ।[५] क्षत्रप उषवदात के नासिक अभिलेख में क्षत्रप नरेश नहपान द्वारा ब्राह्मणों को दान में कन्या-प्रदान करने का उल्लेख किया गया है। जो कन्याएँ दान में दी गईं वे अवश्य ही दासियाँ रही होंगी। राज-परिवारों में दास-दासी दान की प्रथा किसी-न-किसी रूप में आधुनिक युग तक चलती रही, पर अब इसका लोप हो चुका है।

दासता के कारण तथा दास-स्वामियों का व्यवहार— पालि-पिटक, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में अनेक प्रकार के दासों का वर्णन उपलब्ध है, जिनसे भारतीय समाज में इस प्रथा के उद्भव एवं विकास के कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है। पालि-त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है[६] और उनकी संख्या अर्थशास्त्र में पाँच[७] तथा मनुस्मृति[८] में सात है। दासों के इस वर्गीकरण के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि युद्ध, धनाभाव, दुर्भिक्ष तथा ऋण-ग्रस्तता दास-प्रथा के उद्भव के मूल कारण हुए। समाज में दासों के अस्तित्व का सर्वप्रथम कारण हुआ—युद्ध। जब युद्ध में एक पक्ष की विजय और दूसरे का पराभव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता था, तो विजयी दल के सैनिक पराजित पक्ष के सैनिकों तथा आक्रांत राज्य के नागरिकों को यथासाध्य बन्दी बना कर ले जाते थे। वस्तुतः इन युद्धबन्दियों का जीवन विजयी राजा की दया पर निर्भर करता। इन्हें जो जीवनदान मिलता वह अपनी स्वतन्त्रता खोकर, क्योंकि ये विजयी राजा के दास बनकर ही जी पाते थे। इस श्रेणी के दासों को मनु ने ध्वजाहृत की संज्ञा दी है। युद्धबन्दियों में कुछ तो बेच दिये जाने लगे और अन्य दान में दिये जाने लगे। इन दोनों प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है। कई अवस्थाओं में तो दासत्व स्वेच्छया स्वीकार किया जाता था—जब किसी परिवार की आर्थिक स्थिति अत्यन्त विषम हो जाती तो गृहस्वामी अपनी पत्नी और सन्तान या स्वयं को बन्धक रखते थे। बहुत का यही हाल दुर्भिक्ष के दिनों में होता था जब बुभुक्षित लोगों को दास बनने के लिए बाध्य होना पड़ता। ऋण के बोझ से दबे व्यक्ति भी ऋणमुक्त होने के लिए दासत्व का सहारा लेते थे। इस स्थिति में वे या तो जिस व्यक्ति का उनपर ऋण होता, उसका दासत्व ऋणमुक्त होने की अवधि तक के लिए स्वीकार करते, अथवा स्वयं किसी परिवार में बन्धक रहकर महाजन का कर्ज चुकाते। एक वर्ग उन दासों का था जो जन्मदास कहे जाते थे और माता-पिता के दास होने से उन्हें भी दास होना पड़ता था। इससे प्रतीत होता है कि पराधीन माता-पिता की सन्तान को स्वतन्त्र नागरिकता का अधिकार नहीं था। कभी-कभी अपराध-कर्मियों को उनके अपराधों के दण्डस्वरूप दास बना दिया जाता था।

दास संज्ञा पराधीनता का द्योतक है और पराधीन व्यक्ति के भाग्य में सुख कहाँ? दासों के सुख-दुख के विधाता तो उनके स्वामी थे, जो अपने उग्र अथवा मृदु स्वभाव के अनुसार अपने अधीनस्थ दासों के प्रति व्यवहार करते होंगे। पालि-पिटक में वर्णन आता है कि कुछ दासपति तो अपने दासों की त्रुटियों के लिए उन्हें दण्डित करते थे और अन्य कुछ उनके प्रति दया-भाव दिखलाते थे। जिन दासपतियों का स्वभाव क्रूर था वे अपने दासों को पीड़ा पहुँचाते थे। कटाहक-जातक का एक दास भाग्यवश अपने स्वामी का भांडागारिक तो हो गया, पर उसे सदा इस बात का भय बना रहता था कि न जाने किस क्षण भाग्य उसका साथ छोड़ दे। वह अपने मन में सोचा करता— 'क्या ये मुझे सदा भांडागारिक बना कर रखेंगे? किसी-न-किसी दिन इन्हें मुझमें कोई त्रुटि दिखलायी पड़ेगी तो मार पड़ेगी, मैं बन्दी बना दिया जाऊँगा, मेरे शरीर को

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दागा जायगा और मुझे दासों का भोजन खाने के लिए दिया जाने लगेगा।'[९] दूसरी कहानी है एक दासी की जिसे उसके स्वामी मजदूरी करने के लिए भेजते थे। एक दिन दुर्भाग्यवश वह कमाकर कुछ न ला सकी। फिर क्या था! उसे घर से बाहर फेंक दिया गया और उसके स्वामी तथा स्वामिनी दोनों ने उसे कोड़े लगाये।[१०] मनु ने भी स्वामियों को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे अपराध करने पर अपने दासों को रज्जु-प्रहार से दण्डित करें,[११] परन्तु समाज में ऐसे भी व्यक्ति थे जो अकारण दासों को पीड़ा पहुँचाते थे। अंगुत्तर-निकाय में वर्णन मिलता है कि क्रूर दास-स्वामी के दास जब कार्यरत रहते, तो दण्ड के भय से उनके मुख अश्रुपूर्ण होते और कई तो रुदन भी करते रहते।[१२] तक्क-जातक (६३) में वाराणसी की एक श्रेष्ठी-कन्या का वर्णन मिलता है जो अत्यन्त क्रूर थी और अकारण अपने दासों तथा कर्मकरों को मारती रहती। वेस्सन्तर-जातक में एक क्रूर ब्राह्मण द्वारा दास-दासी को कष्ट देने का मार्मिक वर्णन किया गया है—'एक ब्राह्मण को राजा वेस्सन्तर ने अपने पुत्र एवं पुत्री को दान में दे दिया। वह लोभी ब्राह्मण उन दोनों के हाथ लता से बाँधकर और उसका एक छोर स्वयं पकड़कर उन्हें खींचता हुआ ले चला। उसने एक हाथ में डंडा भी पकड़ रखा था। उसे लम्बा मार्ग तय करना था, अतः जब रात्रि का आगमन हो जाता, तो वह उन दोनों बच्चों को पौधों से बांध देता और स्वयं वन-जन्तुओं के भय से किसी पेड़ पर चढ़ जाता।'[१३] इस प्रकार के वर्णन में कितनी सत्यता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बौद्ध लेखकों ने ब्राह्मणों को बदनाम करने के लिए शायद उनके सामान्य दोष को भी अतिरंजित कर दिया है।

जातक कथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज में क्रूर दासपतियों का सर्वथा अभाव तो नहीं था, परन्तु उनकी संख्या कम थी। दासों के विषय में उपलब्ध सामग्री से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि सामान्यतया दासों का जीवन दुखमय नहीं था। धर्मप्रधान कुलों में दास तथा कर्मकर सुख-पूर्वक रहते थे— उनके साथ सद्व्यवहार किया जाता था और उन्हें भोजन भी अच्छा मिलता था। किसी-किसी दास को तो अपने स्वामी के परिवार के सदस्य की ही भाँति कई सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती थीं। कटाहक था तो दासपुत्र ही, परन्तु अपने स्वामिपुत्र के साथ रहकर उसने पढ़ना-लिखना सीखा और उसे दो-तीन शिल्पों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी ज्ञान हो गया। अन्त में उसे उस परिवार का भांडागारिक बना दिया गया।[१४] जब एक राज-पुरोहित को राजा ने वरदान दिया तो उसने घर जाकर अपनी पत्नी, पुत्र और दासी से पूछा— 'राजा ने मुझे वर दिया है, मैं क्या माँगू ?' दासी ने कहा—'मेरे लिए ऊखल, मूसल और सूप माँगना।'[१५] जब एक ब्राह्मण कुमार की मृत्यु हो गयी और उसके पार्थिव शरीर का अग्नि-संस्कार किया जाने लगा तो उस परिवार की दासी के शुष्क नेत्रों को देखकर एक व्यक्ति ने कहा—'निःसन्देह तुम्हारे स्वामी के पुत्र ने तुम्हें अपवचन कहा होगा, मारा होगा, कष्ट दिया होगा, इसी कारण तुम प्रसन्न हो, तुम्हें रुलाई नहीं आ रही है।' उस दासी ने उत्तर दिया— 'स्वामी, आप ऐसे वचन न बोलें, मेरे साथ इस प्रकार की बातें नहीं हुई हैं, मेरे स्वामी के पुत्र के हृदय में तो मेरे लिए क्षमा, प्रेम और दया की भावनाएँ थीं और व मेरे लिए उसी प्रकार थें जिस प्रकार कोई पुत्र माँ का स्तनपान कर पलता है।'[१६] नन्द-जातक में नन्द नामक दास का वर्णन अपने स्वामी के अनन्य विश्वासपात्र के रूप में किया गया है। इस प्रकार के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश दास-स्वामी अपने दासों के प्रति मानवोचित व्यवहार करते थें। प्राचीन भारत के विधि-निर्माताओं ने भी दासों के हितों की उपेक्षा नहीं की। कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि दासों के प्रति दुर्व्यवहार अपराध माना जायगा— 'यदि कोई स्वामी अपने दास को मारता है, अथवा उससे निम्नस्तर का काम लेता है, तो उसे अपने दास के क्रय-मूल्य से वंचित कर दिया जायगा। यदि कोई स्वामी दासी-कन्या अथवा बन्धक में दी गयी लड़की के साथ बलात्कार करता है, तो उसे न केवल क्रय-मूल्य से ही वंचित होना पड़ेगा वरन् दण्डस्वरूप शुल्क भी देना होगा।'[१७]

बौद्ध-जातकों में गृहस्वामी के युवा-पुत्रों और उनकी युवती दासियों के प्रेम-सम्बन्धों के वर्णन भी मिलते हैं। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के प्रेम की इति किस तरह होती होगी ? इस विषय में कौटिल्य का यह मत है कि यदि किसी दासीपुत्री को अपने स्वामी से गर्भ रह जाय तो उस अवस्था में वह अपनी दासता से मुक्त मानी जायगी।[१८] इस विधान से प्रतीत होता है कि संभवतः दासीकन्या अपने स्वामी की पत्नी बन जाती होगी। जातक कथाओं से इस अनुमान का समर्थन होता है। तिस्सकुमार राजगृह के एक धनाढ्य श्रेष्ठि के एकमात्र पुत्र थे। जब वे प्रव्रजित होकर भिक्षुसंघ में प्रविष्ट हुए, तो उनके माता-पिता को घोर कष्ट हुआ। उस परिवार की एक दासीकन्या

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने श्रेष्ठि-दंपति के कष्ट से द्रवित होकर तिस्सकुमार को संन्यासमार्ग से विरत करने का निश्चय किया। श्रेष्ठिपुत्र उस दासीकन्या के रूप-लावण्य पर विमोहित हो गया और उसने भिक्षु-जीवन का परित्याग कर किया।[१९] भिक्षु-संघ का त्याग करने के पश्चात् श्रेष्ठिपुत्र का अपनी दासीकन्या से क्या सम्बन्ध रह गया इस विषय में कहानीकार मौन है, पर श्रेष्ठिपुत्र को अपनी दासी-कन्या में अनुरक्ति के कारण ही संन्यास से विरक्ति हुई, अतः उनके प्रेम की तर्कसंगत परिणति दाम्पत्य में दीखती है। उद्दालक-जातक में भी एक राज पुरोहित के दासी-प्रेम का वर्णन है। राज-पुरोहित को अपनी प्रेमिका दासी-कन्या से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम उद्दालक रखा गया। जब वह वयस्क हुआ और बड़ा ज्ञानी तथा तपस्वी हो गया, तो उसकी भेंट अपने पिता से हुई। पिता ने अपने पुत्र का परिचय पाकर कहा— 'तुम ब्राह्मण हो इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।' इस वर्णन से यह संकेत मिलता है कि दासीपुत्रों को अपने पिता की जाति की सदस्यता मिल जाती होगी। कोशल-नरेश का विवाह वासभखत्तिया से हुआ था जो शाक्यवंशी महानाम क्षत्रिय की एक दासीपुत्री थी।[२०] यद्यपि यह सम्बन्ध कष्टपूर्वक संपन्न किया गया था, परन्तु वासभ-खत्तिया के पुत्र को कोशल का युवराजत्व प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने भी कहा कि पितृ-कुल को ही प्रधानता देनी चाहिए (मातिगोतं किं करिस्सति पिति गोत्तमेव पमानम्)

जातकों ने उच्चवर्ण की कन्याओं के साथ कुछ दासों के प्रेम का भी वर्णन किया है। चुल्लक-सेट्ठि-जातक (४) के अनुसार राजगृह के एक श्रेष्ठि की कन्या को अपने दास से प्रेम हो गया। इस भेद के खुल जाने के भय से श्रेष्ठिकन्या अपने प्रेमी के साथ भाग गयी। उस दास से उसे दो पुत्र हुए। जब प्रथम पुत्र कुछ बड़ा हुआ तो उसको अपने सम्बन्धियों के विषय में जिज्ञासा हुई। उसने अपनी माता से इस सम्बन्ध में पूछा तो उसने उत्तर दिया—'पुत्र, तुम एक बड़े श्रेष्ठि के दौहित्र हो।' जब पुत्र ने अपने नाना के घर जाने का जिद्द की तो उसके माता-पिता राजगृह गये। परन्तु न तो पुत्री को पिता के सम्मुख जाने का साहस हुआ और न पिता को ही पुत्री को देखने की इच्छा हुई। अन्त में श्रेष्ठि ने अपने दौहित्रों को तो रख लिया, किन्तु पुत्री और जामाता को पर्याप्त धन देकर विदा कर दिया। वस्तुतः समाज के लिए यह असह्य था कि उच्च-वर्ण की कन्या निम्न-वर्ग के किसी युवक से प्रेम या विवाह कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बैठे । इस प्रकार के किसी भी सम्बन्ध को प्रोत्साहन नहीं दिया गया, परन्तु यदि उच्च-वर्ण की कन्या किसी दास अथवा निम्नजाति के युवक से प्रेम कर बैठती तो उस सम्बन्ध को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ता था । इस विषय में दासों की अपेक्षा दासियों की स्थिति अधिक अच्छी थी, क्योंकि यदि वे सुन्दरी होतीं तो उन पर उनके युवा स्वामियों के प्रेमासक्त होने की अत्यधिक संभावना रहती थी ।

दासों के काम—जिस प्रकार के कर्मों में दासों को नियुक्त किया जाता था उन कर्मों की प्रकृति के अनुरूप संज्ञाओं का उपयोग उन दासों के लिए बौद्ध लेखकों ने किया है, जैसे—जो दास खेत, कर्मशाला अथवा दुकान में काम करते थे उनको कम्मन्तदास कहा गया;[२१] जो वस्त्र बुनने और धोने का कर्म करते थे वे क्रमशः पेशकरदास और रजकदास कहलाये ।[२२] इसी प्रकार दासियों के लिए नारी-दासी, देवदासी, कुम्भदासी, वन्नदासी, वीहिकोट्टिकदासी इत्यादि संज्ञाएँ मिलती हैं ।[२३] इस तरह प्रतीत होता है कि दासों से अनेक प्रकार के काम लिये जाते थे और उन दासों की संख्या न्यून थी जो कटाहक के समान भांडागारिक या कोषाध्यक्ष अथवा अपने स्वामी के निजी सचिव के पदों पर नियुक्त किये जाते थे । अधिकांश दास प्रायः गृहकार्यों में लगाये जाते थे जो प्रत्येक परिवार की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे । राजकुलों में अथवा धनाढ्य श्रेष्ठिकुलों में नियुक्त तथा सामान्य गृहपतियों के घर काम करनेवाले दासों के कार्य समान नहीं हो सकते थे । दासों से प्रायः दो प्रकार के कर्म कराये जाते थे— एक तो गृहकार्य था और दूसरा, अपने स्वामी की सेवा । पालि-पिटकों में दास-दासियों को अनेक प्रकार के गृहकार्यों में संलग्न वर्णित किया गया है, जैसे—रसोइये का काम (पाचक-कर्म)[२४], जलाशय से जल लाना,[२५] बर्तन धोना,[२६] अन्नागार की रखवाली करना और धूप में धान सुखाना[२७] इत्यादि । कृषकों की दासियाँ अपने स्वामी के लिए खेत में भोजन पहुँचाती थीं ।[२८] किसी-किसी परिवार में दास-दासी को मजदूरी करने के लिए अन्यत्र भेजा जाता था ।[२९] स्वामी-स्वामिनी सेवा-सम्बन्धी कई कार्यों का भी उल्लेख मिलता है । धनी परिवारों की गृहस्वामिनियाँ जब स्नान के लिए जलाशय की ओर प्रस्थान करतीं, तो दासियाँ उनका साथ देतीं । जब वे जलाशय में प्रवेश करतीं, तो दासियाँ उनके वस्त्राभूषणों की रखवाली करतीं ।[३०] गृहस्वामी अथवा गृहस्वामिनी के भोजन करते समय तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक कार्य भी दास-दासियों द्वारा ही संपन्न किये जाते ।[३१] इस प्रकार के कर्म ऐसे नहीं थे जिन्हें हीन कहा जाय । कौटिल्य ने दास-दासियों से गर्हित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्म कराने का निषेध किया है। उन्होंने दास-दासियों से मुर्दा ढोने, मल-मूत्र साफ कराने, उच्छिष्ट भोजन की सफाई और नग्नस्नान के समय दासी से काम लेने आदि का निषेध किया है।[३२] कौटिल्य की इस व्यवस्था से तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

दास-मोक्ष—जो युद्धबंदी दास बना दिये जाते थे उनका अपने पक्ष की विजय हो जाने पर स्वतन्त्रता प्राप्त करना स्वाभाविक था। परन्तु ऐसा तो विशेष परिस्थिति-वश ही संभव था। युद्ध तो नित्य होते नहीं। दासों के क्रय-विक्रयादि जब सामान्य रूप में समाज में प्रचलित हो गये उस स्थिति में उनके मोक्ष की बात विचित्र लगती है। पर यह भारतीय समाज की अपनी विशेषता रही है जिससे अंततः दासों का दासत्व समाप्त कर दिया जाता था। पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि दास द्वारा संन्यास स्वीकार कर लेने से, अथवा अपने स्वामी की इच्छा से, अथवा अपने स्वामी को मुक्ति-शुल्क चुका देने से दासत्व का अन्त हो जाता। दीर्घ-निकाय में कहा गया है कि यदि कोई दास संन्यासी हो जाता है तो वह अभिवादन और उच्चासन तथा भिक्षु-जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं, यथा—चीवर, पिण्ड-पात्र, आसन आदि का अधिकारी माना जायगा।[३३] सोणनन्द-जातक (५३२) में वर्णित है कि एक ब्राह्मण गृहपति ने प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय अपने सभी दासों को मुक्त कर दिया। वेस्सन्तर-जातक की कहानी के अनुसार शुल्क देकर दासत्व का अन्त सम्भव था। राजा वेस्सन्तर ने जब अपनी सन्तान दान के रूप में एक ब्राह्मण को दे दी तो अपने पुत्र से कहा—'पुत्र, जाओ तुम अपनी मुक्ति के लिए इस ब्राह्मण को शत स्वर्ण निष्क देना और यदि तुम अपनी भगिनी को भी मुक्त करना चाहोगे तो उसके लिए ब्राह्मण को दास-दासी, हाथी, घोड़े, बैल और स्वर्ण निष्क सौ-सौ की संख्या में देना।'[३४] दासों की मुक्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से निश्चित बातें ज्ञात होती हैं। कौटिल्य के अनुसार जो दास दंड-स्वरूप अथवा युद्धबन्दी होने के कारण दास बनाये जाते थे वे शुल्क देकर मुक्त हो सकते थे। क्रीतदास को उतना ही शुल्क देना पड़ता था जितने में उसके स्वामी ने उसे क्रय किया हो। यदि किसी को अर्थदंड चुकाने की असफलता के कारण दास बनना पड़ता, तो अर्थदंड की राशि का भुगतान कर देने पर उसे मुक्ति मिल जाती। यदि दास-स्वामी मुक्ति-शुल्क पाकर भी किसी दास को मुक्त नहीं करता था तो उसे द्वादशपण दंड का भागी माना जाता था। यदि दासी को अपने स्वामी से सन्तान-लाभ हो जाता तो माता और सन्तान दोनों स्वतन्त्र माने जाते।'[३५] मज्झिम-निकाय के रट्ठपाल-सुत्त से ज्ञात होता है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने स्वामी को कोई सुखद संवाद देने से भी कभी-कभी दास को पुरस्कार-स्वरूप मुक्त कर दिया जाता था।[३६] दासों को मुक्त करने की प्रथा का उल्लेख नारद-स्मृति[३७] में भी मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में दास-मोक्ष की परम्परा लम्बी अवधि तक प्रचलित रही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४

विवाह

हिन्दू-समाज में अति प्राचीन काल से विवाह को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। ऋग्वेद-कालीन समाज ने गार्हस्थ्य, यज्ञ तथा प्रजोत्पादन के लिए विवाह की अनिवार्यता को अंगीकार किया।[१] शतपथ-ब्राह्मण में नारी का वर्णन पुरुष की अर्धांगिणी के रूप में करते हुए कहा गया है, कि जबतक पुरुष विवाहित नहीं हो जाता और न प्रजोत्पादन ही करता है, तबतक वह वस्तुतः अपूर्ण रहता है।[२] विवाहोपरान्त ही वह सच्चे अर्थ में पूर्णत्व को प्राप्त करता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् में विवाह की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की गयी है— 'आरम्भ में पुरुष एक था। पश्चात् उसने अपने को दो भागों में विभाजित किया। इस प्रकार नर-नारी की सृष्टि का प्रारम्भ हुआ'।[३] पत्नी को अर्धांगिणी-पद पर प्रतिष्ठित करने के कारण ही पत्नी के अभाव में पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं दिया गया। प्राचीन हिन्दू-परिवार में पुत्र का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण था, इस कारण भी पत्नी-पद की अत्यधिक गरिमा रही। ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार पत्नी को जाया इसलिए कहा जाता है कि पति अपनी पत्नी के गर्भ में प्रवेश कर पुनः पुत्र-रूप में जन्म पाता है।[४] इस प्रकार धर्म और समाज दोनों ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह को अनिवार्य बनाया। पालि-पिटकों में भी इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। परन्तु पुरुष की अपेक्षा नारी के लिए विवाह की अनिवार्यता पर अधिक बल दिया गया है और इस सम्बन्ध में उपलब्ध प्रसंगों से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में अविवाहित स्त्रियों के प्रति अश्रद्धा की भावना थी। अंगुत्तर-निकाय में कहा गया है कि पुरुष नारी का आच्छादन है, आश्रय है और वही उसका अलंकरण है।[५] एक जातक कथा में यह विचार व्यक्त किया गया है कि नारी के शरीर का वास्तविक आच्छादन तो उसका पति ही है, जिसके अभाव में बहुमूल्य वस्त्र धारण करने पर भी वह अपने को निर्वस्त्र ही समझे।[६]

एकपत्नीत्व एवं बहुपत्नीत्व—हिन्दू-परिवार आदि-काल से पितृ-प्रधान रहा, अतः पुत्र-वृद्धि हेतु बहुपत्नीत्व को समाज में मान्यता मिली। पालि-पिटक में बहु-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मज्झिम-निकाय के रट्ठपाल-सुत्त में एक ब्राह्मण गृहपति के पुत्र रट्ठपाल की अनेक भार्याओं का उल्लेख किया गया है। अंगुत्तर-निकाय में चार सुन्दरी पत्नियों वाले एक सुखी-सम्पन्न गृहस्थ का वर्णन मिलता है।[७] थेरीगाथा में थेरी इसिदासी के पूर्वजन्म की कथा के प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि उसका विवाह एक श्रेष्ठिपुत्र से हुआ। उस श्रेष्ठिपुत्र को पहले से ही एक भार्या थी जो शीलवती, गुणवती तथा यशवती थी।[८] एक जातक में ऐसे ब्राह्मण की कहानी मिलती है जिसने अपनी चार पुत्रियों का विवाह एक गुणवान् पुरुष से कर दिया।[९] कहानियों की सत्यता पर अविश्वास करना स्वाभाविक है, परन्तु पारस्कर-गृह्यसूत्र में ब्राह्मण को चार, क्षत्रिय को तीन और वैश्य को दो पत्नियाँ रखने की अनुमति प्रदान की गयी है।[१०] आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र में ऐसे मंत्र भी बतलाये गये हैं जिनका प्रयोग सौत को वशीभूत करने के लिए किया जाता था।[११]

ऊपर के उद्धरणों से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि समाज में बहु-पत्नीत्व मान्य था, किन्तु यह कहना कठिन है कि कितने प्रतिशत पुरुष एकाधिक विवाह करते थे। आपस्तम्ब उस समय तक पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं देते हैं जबतक उसकी प्रथम भार्या धर्मकार्य में अपने पति का साथ देने तथा प्रजोत्पादन में समर्थ रहती है। उनके मत में जब प्रथम भार्या धर्मकार्य में अपने पति का साथ देने योग्य न रह जाय अथवा बाँझ हो जाय तभी पुरुष को पुनर्विवाह करना चाहिए।[१२] हिन्दू-धर्म में पितृऋण की कल्पना की गयी है जिसके अनुसार जबतक पुत्रलाभ नहीं होता, मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता है। ज्यों-ज्यों यह धारणा प्रबल होती गयी, त्यों-त्यों पुत्र का महत्त्व बढ़ता गया और पुत्र के अभाव में पुनर्विवाह भी आवश्यक होता गया। परन्तु वस्तुतः यह हिन्दू-समाज का आदर्श नहीं माना गया है। दम्पती शब्द से एक पति और एक पत्नी की जोड़ी का बोध होता है। धर्मशास्त्र-रचयिताओं ने जो व्यवस्था दी है वह बहुपत्नीत्व का समर्थन करना नहीं है। उन्होंने तो अवस्था-विशेष में बहुपत्नीकता को मान्यता प्रदान किया— अर्थात् जब पत्नी चिर-रुग्नता के कारण धर्मकार्य में असमर्थ हो जाय अथवा बाँझ हो जाय तो पुरुष को अपना पुनर्विवाह करना चाहिए, परन्तु न तो अधिकांश पत्नियाँ चिर-रुग्णता को प्राप्त करती होंगी और न बाँझपन को ही। यह भी ध्यान देने की बात है कि दाम्पत्य सम्बन्ध के मूल में पारस्परिक प्रेमासक्ति की प्रधानता रहती है जिसके कारण प्रायः पति पुनर्विवाह से विरत होते रहे हैं। इसके साथ ही परिवार की आर्थिक परिस्थिति पर भी बहुत-कुछ निर्भर करता है। एकाधिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्नियाँ वही व्यक्ति रख सकता है जिसमें उनके भरण-पोषण का सामर्थ्य हो।

उपलब्ध प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुपत्नीकता का प्रचलन मुख्यतः समाज के राजन्य वर्ग तथा अभिजात कुलों में ही सीमित रहा। राजाओं के अन्तःपुरों में सुन्दरियों का सदा जमघट रहता था। कभी युद्ध में विजश्री प्राप्त करने के कारण, तो कभी उपहार में, तो कभी स्वयंवर में उन्हें राजकन्याओं को उपलब्ध करने का सौभाग्य मिलता रहा। महाभारत का कथन है कि राजाओं को बहुपत्नीकता से कोई अधर्म नहीं होता।[१३] राजाओं में तो यदा-कदा ही मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सदृश एक पत्नीव्रती का उदाहरण मिलता है। जातकों में जिन राजाओं का उल्लेख है उनमें एकमात्र सुरुचि ही एक पत्नीव्रती हैं, शेष बहुपत्नीचारी हैं। जातकों में कहीं तो राजाओं के सैकड़ों रानियों का उल्लेख मिलता है,[१४] तो कहीं इस विचार की अभिव्यक्ति मिलती है कि सौत का होना स्त्री के लिए अभिशाप है।[१५] बुद्ध के समकालीन सभी राजाओं की अनेक पत्नियाँ थीं— बिंबिसार, प्रसेनजित्, उदयन, अजातशत्रु, सभी बहुपत्नीचारी थे। अतः राजाओं की बहुपत्नीकता में सन्देह की बात ही नहीं रह जाती है। जो नागरिक धनाढ्य थे उनके एकाधिक विवाह करने की सम्भावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि विवाह-सम्बन्ध-निर्धारण में मध्यस्थता तथा पारस्परिक वार्ता का आश्रय लिया जाता था, जिसका उपक्रम होता था वर के अभिभावक द्वारा। वर के माता-पिता अपने पुत्र के लिए उपयुक्त कन्या की तलाश में अपने आदमियों को भेजा करते थे।[१६] इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वर स्वयं कन्या को पसंद करता। कई माता-पिता इस लिए चिंतित रहा करते कि उनकी प्राप्तयौवना कन्या किसी भी वर को पसंद नहीं आती।[१७] इस बात का भी पता चलता है कि विवाह-योग्य कन्या के एकाधिक प्रणयी होने पर सफलता उसी को प्राप्त होती थी जिसके पक्ष में कन्या के पिता का निर्णय होता। अनोपम के अनेक प्रणयी थे जो मूल्यवान् उपहार लेकर उसके पास जाते और उसके पिता के पास अपने दूतों को भेजते थे।[१८] एक ब्राह्मण की चार कन्याएँ थीं और चारों के एक-एक प्रणयी थे।[१९] सामाजिक परम्परा के अनुसार वर-वधू के अभिभावकों द्वारा विवाह-सम्बन्ध के उपक्रम किये जाते थे, परन्तु वयस्क वर-वधू की आकांक्षाओं तथा अभिरुचियों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो जातकों में युवतियों के प्रणयियों के उल्लेख नहीं मिलते।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जाति, कुल तथा गोत्र विचार—बुद्ध-काल में जातिगत भावनाएँ प्रबल हो गयी थीं, अतः सामान्यतया यह पसंद नहीं किया जाता था कि अंतर्जातीय विवाह-सम्बन्धों के कारण किसी कुल का रक्त-दूषण हो। कुल की पवित्रता की रक्षा के विचार से सजातीय विवाह को सर्वोत्तम माना गया और अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। समाज का वातावरण जातीय मिश्रण के विरुद्ध था और शास्त्रकार अंतर्जातीय विवाहों को निरुत्साहित करने के लिए चेष्ठावान् रहे। बौद्ध-पिटक में वर्णित विवाहों में सम्बद्ध पक्षों को सदा समान जाति तथा कुल का बतलाया गया है—ब्राह्मण,[२०] क्षत्रिय,[२१] श्रेष्ठि,[२२] भांडागारिक[२३] आदि अपनी संतान के विवाह स्वजाति के अंतर्गत समान सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक स्थिति के कुलों में संपन्न करते थे। जब वे अपने पुत्र के लिए कन्या की खोज में दूत भेजते तो उनसे कहा करते— सजातीय और समान कुल की कुमारी का चयन करना।[२४] इस विचार का समर्थन धर्मशास्त्र से भी होता है, क्योंकि वे सजातीय कन्या के पाणिग्रहण की व्यवस्था देते हैं।[२५]

वर-वधू का सजातीय होना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था, अपितु दोनों पक्ष एक दूसरे के कुल का भी ध्यान रखते थे। जातक कथाओं में जहाँ कहीं भी विवाह का वर्णन मिलता है, सर्वत्र जाति और कुल का एक साथ उल्लेख किया गया है।[२६] वर-पक्ष का सदा यह प्रयत्न रहता था कि कन्या कुलवती हो। धर्मशास्त्र की यह व्यवस्था है कि विवाह-वार्ता के समय सम्बद्ध पक्षों के मातृ-पितृ-कुल की परीक्षा होनी चाहिए—यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मातृ अथवा पितृ—किसी भी कुल में कोई दोष या कलंक तो नहीं है।[२७] मनु का कथन है कि विवाह-सम्बन्ध सदैव उत्तम कुलों में किये जाने चाहिए जिससे कुल का उत्कर्ष होता रहे,[२८] परन्तु इस विषय में उनके विचार रूढ़ नहीं हैं, क्योंकि वे यह भी कहते हैं कि यदि निम्न-कुलोत्पन्ना वधू कन्यारत्न हो, तो उस दशा में कुल की उपेक्षा की जा सकती है।[२९] समाज का एक वर्ग इस विचारधारा का पोषक अवश्य रहा होगा कि किसी भी जाति की रूप-गुण-सम्पन्न कन्या से विवाह करने में कोई दोष नहीं है, तभी मनु ने इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं, और जातकों में भी कतिपय ऐसे विवाह-सम्बन्धों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें कन्या के कुल पर ध्यान नहीं दिया गया।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सामान्यतया विशेष परिस्थितियों में ही कुल की उपेक्षा की जाती थी। जाति तथा कुल की उपेक्षा की संभावनाएँ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्राय: समाज के अभिजात वर्ग में थीं और इस वर्ग में यदा-कदा अन्तर्जातीय विवाह संपन्न होने के उल्लेख जातकों में मिलते हैं। इन अन्तर्जातीय विवाहों में वर तो उच्चकुल का होता था और कन्या निम्नकुल की। यह प्रथा धर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुरूप थी, क्योंकि धर्मशास्त्रकार प्रतिलोम-विवाह का तो निषेध करते हैं, पर वे अनुलोम-विवाह को मान्यता देते हैं। तदनुसार, ब्राह्मण का विवाह सभी वर्ण की कन्याओं से संभव है, क्षत्रिय ब्राह्मणी के अतिरिक्त सभी से विवाह करने का अधिकारी है, वैश्य स्वजाति की अथवा शूद्रा पत्नी प्राप्त कर सकता है और शूद्र मात्र शूद्रा से विवाह का अधिकारी है।[३०] परन्तु सभी वर्णों के लिए शूद्रा के साथ समंत्र-विवाह का निषेध मिलता है। जातकों में धर्मशास्त्रानुमोदित अनुलोम-विवाह के उल्लेख मिलते हैं और कतिपय कथाओं से यह भी ज्ञात होता है कि प्रतिलोम-विवाह समाज में अमान्य था। सेनापति अहिपारक ने एक श्रेष्ठिकन्या से विवाह किया।[३१] एक राजा एक शाक-विक्रयी की कन्या पर आसक्त हो गया और उसने उसे अपनी अर्धांगिनी बना लिया।[३२] इन विवाहों के मूल में प्रेम था और इन प्रेम-विवाहों में जाति पर विचार नहीं किया गया, परन्तु समाज ने ऐसे विवाहों को मान्यता नहीं दी जिसमें वर निम्न-वर्ण का होता और कन्या उच्च-वर्ण की। लिच्छवि-कन्यासक्त एक नापितपुत्र को उसके पिता ने कहा 'पुत्र, तुम हीन-जन्मा नापितपुत्र हो और अनुरक्त हो गये जाति-सम्पन्ना, क्षत्रिय-दुहिता लिच्छवि-कुमारी पर! यह तुम्हारे उपयुक्त नहीं है, मैं तुम्हारे लिए सजातीय तथा सगोत्र कन्या का प्रबंध करूंगा।'[३३]

बौद्ध-युग में विवाह के समय गोत्र-विचार किये जाने के भी उल्लेख मिलते हैं, परन्तु एक समय ऐसा भी था जब गोत्र का विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऋग्वेद में गोत्र शब्द का प्रयोग गोशाला के अर्थ में हुआ। कालान्तर में गोत्र के अर्थ में पर्याप्त परिवर्तन हो गया और गोत्र तथा कुल के अर्थ अभिन्न हो गये। जब कोशलराज प्रसेनजित् ने अंगुलिमाल के माता-पिता के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की तो उसने कहा—'महाराज, मेरे पिता तो गार्ग्यगोत्री थे और माता मैत्रायणी गोत्र की थी।'[३४] पालि-पिटक में कहीं तो गोत्र की भिन्नता नाम से बतलायी गयी है और कहीं जाति से,[३५] जिससे प्रतीत होता है कि गोत्र शब्द कुल-विशेष की वंश-परम्परा का बोधक बन गया। ब्राह्मण-ग्रंथों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह आभास मिलता है कि स्वकुल में विवाह निषिद्ध माना जाने लगा। पाणिनि के अष्टाध्यायी तथा पातंजल महाभाष्य में जिस प्रकार युगल गोत्रों के संयुक्त शब्दों के उल्लेख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलते हैं[३६] उनसे यही प्रतिभासित होता है कि समाज में सगोत्र विवाह को अमान्य समझा जाने लगा था। जातकों के कुछ उद्धरणों से प्रतीत होता है कि बुद्ध-काल में गोत्र तथा विवाह के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। मज्झिम-निकाय के अनुसार यदि कोई पुरुष किसी नारी से प्रेम करता, तो उसके लिए यह जानना हितकर था कि वह जिस युवती पर प्रेमासक्त है, वह क्षत्रिया है या ब्राह्मणी है या वैश्य है या शूद्रा है, वह अमुक गोत्र की है और उसका अमुक नाम है।[३७] कच्छप-जातक की एक गाथा से भी यही अर्थ झलकता है कि प्राय: असगोत्र विवाह को मान्यता मिलती थी।[३८] इस विषय में गौतम, बौधायन, आश्वलायन तथा पारस्कर के मौन से प्रतीत होता है कि सगोत्र विवाह उस हद तक अमान्य न हो पाया था जैसा कि उत्तर-कालीन समाज में हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धकालीन समाज में एक वर्ग द्वारा तो सगोत्र विवाह का सक्रिय विरोध किया गया, पर दूसरा वर्ग इस विषय में मौन रहा।

प्राचीन काल के समाज में कई ऐसी प्रथाएँ प्रचलित थीं जो हमारी आज की सामाजिक मान्यताओं की कसौटी पर सर्वथा अग्राह्य सिद्ध होंगी। इस कोटि की एक प्रथा थी—स्वभगिनी का पाणिग्रहण। इस प्रथा को प्राचीन मिस्र और ईरान में प्रश्रय मिला था। भारतीय समाज में यह प्रथा कभी प्रचलित रही अथवा नहीं यह विषय विवादास्पद है। ऋग्वेद में यम और यमी का आख्यान मिलता है, परन्तु इसे भ्राता एवं भगिनी के विवाह का प्रभाव नहीं माना जा सकता। बौद्ध-ग्रंथों में वर्णन मिलता है कि शाक्यवंशियों ने वंश-रक्षा के लिए अपनी भगिनियों से विवाह किया,[३९] परन्तु यह आपत्कालीन व्यवस्था थी, कोई मान्य सामाजिक रिवाज नहीं। वस्तुत: सर्वत्र सभ्यता का विकास क्रमिक रूप में हुआ और भारत सदृश विशाल देश के किसी कोने में यदि कभी इस तरह की प्रथा प्रचलित रही, तो इसमें न तो आश्चर्य ही होना चाहिए और न लज्जा। वैदिक युग में ही ऐसे सम्बन्धों को निषिद्ध मान लिया गया था, फिर भी कतिपय जातकों में भाई-बहन विवाह के उदाहरण दिये गये हैं।[४०] परन्तु ये उदाहरण केवल राजकुलों के हैं और सम्बन्धित भाई-बहन न तो एक पिता की संतान हैं और न एक माता की। एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई-बहन में विवाह हुआ हो। अत: इस विषय में यही कहा जा सकता है कि सभ्य भारतीय समाज ने कभी इस प्रथा को प्रश्रय नहीं दिया।

प्राचीन भारत में यदि भाई-बहन के रिश्ते में विवाह करने की अनुमति

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दी गयी तो मात्र मातुल-दुहिता के साथ। बौद्ध लेखक तथा ब्राह्मण धर्मशास्त्रकार दोनों मातुल-दुहिता का पाणिग्रहण करने की प्रथा का उल्लेख करते हैं। पालि-पिटक में तो चचेरी बहन के साथ विवाह के भी कतिपय उदाहरण दिये गये हैं,[४१] जिनका धर्मशास्त्र में उल्लेख न होने के कारण समाज के उच्च वर्ग में इस प्रथा की अमान्यता प्रमाणित होती है। बौधायन[४२] के अनुसार मातुल-दुहिता से विवाह करने की प्रथा केवल दक्षिण भारत में प्रचलित थी, पर पालि-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में भी न्यूनाधिक रूप में ऐसे विवाह सम्बन्ध होते थे। जातक कथाओं में काशी तथा शिवि राज्य के राजकुमारों द्वारा अपनी भगिनियों के, जो उनकी मातुलदुहिताएँ थीं, पाणिग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं।[४३] मगधराज अजातशत्रु का विवाह अपने मामा कोशलनरेश की पुत्री वाजिरा के संग हुआ था।[४४] भगवान् महावीर के अग्रज नन्दिवर्द्धन ने भी अपनी मातुल-दुहिता ज्येष्ठा के साथ विवाह किया था। राजकुल में असामान्य सम्बन्धों का होना कोई अन-होनी बात नहीं मानी जाती रही है; परन्तु, जातक कथाओं[४५] में जिस ढंग से मातुल-दुहिता के संग विवाह के प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि समाज के सामान्य कुलों में भी इस प्रथा को हेय नहीं माना जाता था। धर्मशास्त्र तथा बौद्ध-पिटक के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि उत्तर भारत में द्विजाति-वर्ग ने मातुल-दुहिता के साथ विवाह को गर्हित माना, परन्तु समाज के निम्नवर्ग ने इस कोटि के विवाह-सम्बन्धों को निषिद्ध नही समझा।

विवाहयोग्य वय--विवाह-सम्बन्ध सम्पन्न करने के प्रसंग में वर-वधू की उम्र पर विचार करना अनिवार्य माना जाता था। बुद्धकाल-पूर्व के साहित्य में विवाह-सम्बन्धी जो प्रसंग उपलब्ध हैं उनसे स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्रायः पूर्ण यौवन-प्राप्त युवकों तथा युवतियों के ही विवाह सम्पन्न हुआ करते थे। लगभग यही स्थिति बुद्धकाल में भी रही। पालि-पिटक में षोडषी कन्या का विवाह सर्वोत्तम माना गया है। थेरीगाथा के अनुसार इसिदासी का पूर्वजन्म में सोलह वर्ष की उम्र में विवाह हुआ था।[४६] पुनः, धम्मदिन्ना, कुण्डलकेशा आदि भिक्षुणियों के कुमारी अवस्था में प्रव्रज्या ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं।[४७] ये भिक्षु-णियाँ लगभग १६ वर्ष अथवा विवेकबुद्धि उदय होने की वय तक अविवाहित रही होंगी, ऐसा अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा। धम्मपद-टीका में उल्लेख मिलता है कि षोडषियाँ पुरुष-समागमार्थ उत्कंठित हो जाती थीं।[४८] इस वय की युवतियाँ विवाहयोग्या, सौंदर्यमयी एवं सर्वलक्षण-सम्पन्ना मानी जाती थीं।[४९] सोलह वर्ष की वय में ही मद्रराजकन्या फुसति का पावन परिणय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पन्न हुआ।[५०] जब काशिराजकुमारी षोडषी हो गयी तो उसके पिता अपनी कन्या के विवाह के लिए चिंतित रहने लगे।[५१] बौद्ध-ग्रंथों में वर्णित प्रेम-प्रसंगों तथा प्रेमी-प्रेमिका पलायन[५२] की कथाओं से भी यही निर्णय किया जा सकता है कि सामान्यतया लगभग सोलह की वय से पूर्व किसी कन्या का विवाह नहीं होता था।

गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में वधू के लिए नग्निका विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस कारण कुछ टीकाकारों ने यह अर्थ निकाला कि अपने विवाह के समय कन्या इतनी अल्पवय की होती थी कि उसमें अपने शरीरावयवों को वस्त्र से ढँकने की समझ का भी अभाव रहता था। नग्निका शब्द की यह व्याख्या सही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि टीकाकारों ने ही इसके परस्पर-विरोधी अर्थ लगाये हैं। गोभिल-गृहसूत्र की टीका गृह्यसंग्रह में नग्निका का अर्थ बतलाया गया है—वह कन्या जो रजस्वला नहीं हुई है,[५३] परन्तु हिरण्य-गृह्यसूत्र के टीकाकार मातृदत्त का कहना है कि नग्निका उस कन्या को मानना चाहिए जिसका रजोदर्शन-काल सन्निकट है, अर्थात् जो पुरुष समागम के योग्य हो चुकी है।[५४] मानव-गृह्यसूत्र ने कुमारी कन्या के लिए नग्निका विशेषण का प्रयोग किया है।[५५] हिरण्य-गृह्यसूत्र का कथन है कि विवाह के समय कन्या का नग्निका होने के साथ अखंडित कुमारी होना भी अनिवार्य है।[५६] उसी कन्या के कौमार्य-भंग की आशंका उचित कही जायगी जो प्राप्त-यौवना हो। पुनः सूत्र-साहित्य में जिस रूप में विवाहों के वर्णन उपलब्ध हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वधू अपने विवाह के समय कदापि अल्पवय बालिका नहीं रहती थी। महाभारत में भी ऐसा प्रसंग आता है जिसमें नग्निका शब्द सोलह वर्ष की कन्या के लिए प्रयुक्त हुआ है।[५७] पाणिनि ने विवाह-योग्य कन्या को वर्या कहा है, जिसका अर्थ होता है—वह कन्या जिससे प्रेम करने में किसी प्रकार का विघ्न न हो।[५८] धर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार कन्या का विवाह रजस्वला होने के पश्चात् तीन वर्षों के अन्दर सम्पन्न हो जाना चाहिए, अर्थात् १४-१६ वर्ष की वय में।

पालि-पिटक तथा समकालीन धर्मशास्त्र में प्राप्त स्पष्ट प्रमाणों के अनुसार इस युग में सामान्यतया कन्या का विवाह रजस्वला होने के पश्चात् तत्काल कर देना श्रेयस्कर माना जाता था। वशिष्ठ[५९] और बौधायन[६०] के धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति[६१] के अनुसार कन्या को ऋतुमती होने के पश्चात् तीन वर्षों से अधिक समय तक पितृगृह में वास नहीं करना चाहिए, अर्थात् पिता इस अवधि में अपनी कन्या के विवाह की व्यवस्था अनिवार्यतः करे। गौतम तो यहाँ तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहते हैं कि यदि कन्या का पिता अपनी पुत्री के ऋतुमती होने के पश्चात् तीन मास के अन्दर उसका विवाह करने में असफल हो जाता है, तो कन्या स्वयं ही उपयुक्त वर की खोज में स्वतंत्र हो जाती है।[६२] गृह्यसूत्र-रचयिताओं ने विवाह की चतुर्थरात्रि में पति-पत्नी समागम का विधान किया है, जिसे चतुर्थीकर्म की संज्ञा दी गयी।[६३] चतुर्थीकर्म का वही अर्थ है जो गर्भाधान का। अतः विवाह की चतुर्थ रात्रि को गर्भाधान के उपयुक्त मानने का यह अर्थ हुआ कि विवाहित कन्या पूर्ण-यौवना रहती थी। सूत्रकालोत्तर साहित्य से यह बात स्पष्टतर हो जाती है कि सामान्यतया किसी कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने के पूर्व सम्पन्न नहीं किया जाता था। कौटिल्य[६४] तथा मनु[६५] के मत में रजोदर्शन के तीन वर्षों के पश्चात् यदि अविवाहिता कन्या समान जाति तथा कुल के पुरुष को वरण करती है तो उसमें कोई दोष नहीं है। यह मत पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रकारों द्वारा व्यक्त विचार का समर्थन है।

जातकों में कहीं-कहीं वर की वय भी १६ वर्ष बतलायी गयी है।[६६] जातकों का यह कथन भी अयथार्थ नहीं जान पड़ता क्योंकि यदि कन्या १४-१५ वर्ष की रहती, तो उसका विवाह १६ वर्ष के वर से करने में किसा प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती थी। षोडषी कन्या का विवाह सर्वोत्तम मानने का यह तात्पर्य नहीं है कि इससे कुछ कम अथवा अधिक वय में किसी कन्या का विवाह होता ही नहीं था। दुम्मेध-जातक (५०) में कहा गया है कि सोलह वर्ष की वय में ही राजकुमारों को तीनों वेदों तथा अष्टादश शिल्पों का ज्ञान करा दिया जाता था। इस प्रकार के कथन को शत-प्रतिशत सत्य नहीं माना जा सकता, पर इससे प्रतीत होता है कि सामान्यतया लोगों का विद्यार्थी-जीवन सोलह वर्ष की वय में समाप्त हो जाता था। सूत्रों की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य बालकों के उपनयन संस्कार क्रमशः आठ, ग्यारह तथा द्वादश वर्ष की उम्र में सम्पन्न किये जाते थे और इन वर्णों के सदस्य १२ अथवा २४ अथवा ३६ अथवा ४८ वर्ष की वय तक वेदों का अध्ययन करते, अर्थात् प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए द्वादश वर्ष का समय दिया जाता।[६७] इस व्यवस्था का पालन वस्तुतः ब्राह्मण वर्ण के एक वर्ग-विशेष द्वारा ही किया जाता था; साधारण द्विजाति तो वेदों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की अवधि तक ही अपना अध्ययन सीमित रखता था।[६८] संभवतः विद्यार्थी-जीवन का प्रारंभ सात-आठ वर्ष की उम्र में किया जाता था। मिलिन्द-पन्हो के अनुसार ब्राह्मणपुत्र को सात वर्ष की वय में शिक्षारंभ कर देना चाहिए।[६९] यदि सात-आठ वर्ष की उम्र में विद्यारंभ होता, तो व्यक्ति १६-१८ वर्ष की वय में इतना ज्ञान अर्जित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
कर लेता जिससे उसमें संसार-प्रवेश कर जीवन-निर्वाह करने की क्षमता आ जाती। यह आवश्यक नहीं था कि सभी व्यक्ति उच्च-शिक्षा प्राप्त करते। सामान्यतया सभी में इसके लिए न तो योग्यता ही रहती है और न रुचि ही। जनमत सभी के लिए लम्बी अवधि के विद्यार्थी-जीवन के पक्ष में नहीं रहा होगा। अधिकांश माता-पिता की यह अभिलाषा रहती होगी कि उनके पुत्र अपने जीवन के १६-२० वसंत देखने के पश्चात् घर के काम-काज की देखभाल आरंभ कर दें। जैसा कि ऊपर विचार व्यक्त किया जा चुका है, विवाह के समय कन्या की उम्र लगभग १६ वर्ष रहती थी। कामसूत्र के अनुसार वर की वय वधू से तीन वर्ष अधिक होनी चाहिए,[७०] अतएव वर की उम्र अट्ठारह से बीस वर्ष के मध्य मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।

समाज का बहुमत बाल-विवाह को विपक्ष में था, प्राप्तयौवना कन्या का विवाह सर्वमान्य था, परन्तु विवाह-प्रथाओं में प्रायः एकरूपता का सदा अभाव रहा है। बुद्धकालीन समाज में भी बेमेल विवाह होते थे। वृद्ध व्यक्ति भी युवतियों से विवाह करने के लिए लालायित रहते थे, अतः सुत्त-निपात में वृद्ध-विवाह का निषेध किया गया है।[७१] यद्यपि वृद्ध प्रत्याशी युवा वधू का पाणिग्रहण करने में प्रायः असफल हो जाया करते थे, किन्तु वूढ़ों के विवाह कर लेने के कुछ उदाहरण जातकों में उपलब्ध होते हैं। एक धनाढ्य वृद्ध श्रेष्ठि की पत्नी नवयुवती थी, अतः उसे सदा इस बात की आशंका सताया करती कि उसकी पत्नी उसके मरणोपरान्त किसी नवयुवक से विवाह कर लेगी, और दोनों मिलकर उसकी सम्पूर्ण अर्जित संपत्ति को अपने आमोद-प्रमोद में नष्ट कर देंगे।[७२] वृद्ध-विवाह की दूसरी कहानी वेस्सन्तर-जातक (५४७) में मिलती है—एक ब्राह्मण था, जुजक नाम का। उसने अमित्त-तापना नाम की एक नवयुवती से विवाह किया। जब वह नवयुवती पानी भरने लिए कुएँ पर गयी तो वहाँ एकत्र अन्य महिलाओं ने कहा—'निःसंदेह तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे शत्रु थे, तभी तो उन्होंने तुम्हें इस वृद्ध के गले मढ़ दिया।' इस कहानी से प्रतीत होता है कि समाज में वृद्ध-विवाह का उपहास किया जाता था। महाभारत में कहा गया है कि कोई भी तरुणी साठ वर्ष के बूढ़े पति को प्यार नहीं कर सकती।[७३] इस तरह के विवाहों की संख्या अधिक नहीं जान पड़ती क्योंकि प्रायः धनवान वृद्ध ही कन्या के माता-पिता की निर्धनता का लाभ उठाकर अपना विवाह करने में सफल होते थे।

वर-वधू गुण-दोष—वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में विवाह का सर्वाधिक महत्त्व है, इसलिए धर्मशास्त्र ने इसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना। हिन्दू-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृष्टिकोण से विवाह एक ऐसा शरीर-संस्कार है जिससे व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अतः वर-वधू के गुण-दोष का समुचित विचार करके ही विवाह का निश्चय करना उचित है, इस मत की अभिव्यक्ति धर्मशास्त्र तथा पिटकों में हुई है। बौद्धयुग के अभिभावक अपनी संतान के भावी सुख-सौभाग्य के प्रति पूर्ण सजग थे और वे इस बात के लिए सतत यत्नशील रहे कि वर-वधू का उचित चयन किया जाय ताकि उनका दांपत्य-जीवन मैत्रीपूर्ण एवं आनन्दमय हो। वर-वधू के व्यक्तिगत गुण-दोष के सम्बन्ध में पालि-ग्रन्थ इतना मात्र कहते हैं कि कन्या के सौंदर्य तथा शील का विचार अपेक्षित है। वर-वधू के चयन के सम्बन्ध में भी उनसे इतना ही ज्ञात होता है कि विवाहेच्छुक व्यक्ति द्वारा स्वयं ही अथवा उसके माता-पिता द्वारा वधू का चयन किया जाता था।

वर-वधू चयन के विषय में गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है। तदनुसार वरपक्ष को बुद्धिमती, रूपवती, सुलक्षणा एवं स्वस्थ वधू को पसंद करना चाहिए।[७४] आपस्तम्ब के अनुसार जिस कन्या की शारीरिक रचना में कोई दोष हो उसे अस्वीकार कर देना उचित है। उसी कन्या का चयन करना चाहिए जो शरीर और मन से पूर्ण स्वस्थ हो, मानसिक अस्वास्थ्य से ग्रस्त तथा शरीर से रुग्ण कन्या विवाह के लिए उपयुक्त पात्र नहीं मानी जा सकती।[७५] ये विचार केवल सूत्र-साहित्य में ही व्यक्त नहीं किये गये हैं, सूत्रकाल-पूर्व भी इस विचार की अभिव्यक्ति मिलती है कि विवाह उसी कन्या से करनी चाहिए जो सुन्दरी हो। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार नारी-सौंदर्य के दो प्रमुख लक्षण माने गए—उसका कृशोदरी एवं नितम्बिनी होना।[७६] परन्तु वस्तुतः प्रेमी का सौंदर्यबोध सापेक्ष वस्तु होती है, और जो नारी किसी पुरुष-विशेष की हृदय-वीणा के तारों को अनायास झंकृत कर दे, वही अन्य पुरुष की दृष्टि में अनाकर्षक भी हो सकती है। इस तथ्य को हृदयंगम करके ही आप-स्तंब ने कहा कि सुखी दाम्पत्य-जीवन के लिए आवश्यक है कि जिस कन्या में वर के मन और चक्षु का निबन्धन हो जाय, उसी कन्या को पत्नी-रूप में स्वीकार करना श्रेयस्कर है।[७७] जातकों से ज्ञात होता है कि जिस कन्या को प्रकृति ने सौंदर्य का वरदान नहीं दिया, वे उस समय तक अविवाहित रह जातीं थी जबतक उन्हें कोई विवाहेच्छुक व्यक्ति पसन्द नहीं कर लेता। निःसंदेह ऐसी कन्याएँ अपने माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय बन जाती थीं।[७८]

वधू के समान वर का भी विशिष्ट गुण-सम्पन्न होना आवश्यक माना जाता था। परन्तु वर की पात्रता के लिए उसका सच्चरित्र एवं बुद्धिमान होना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
ही पर्याप्त कहा गया है। कन्या के पिता की यह अभिलाषा रहती थी कि उसका जामाता ऐसा सदाचारी व्यक्ति हो जो समाज में समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल हो सके। एक जातक कथा के अनुसार एक नवयुवती से विवाह करने के लिए कई व्यक्ति इच्छुक थे, पर उस कुल के पुरोहित ने कन्या के पिता को परामर्श दिया कि कन्या शीलसम्पन्न वर को दी जाय।[७९] यही विचार बौधायन का है।[८०] आश्वलायन कहते हैं कि बुद्धिमान् पुरुष को कन्या-प्रदान करनी चाहिए।[८१] आपस्तम्ब के मत में वर का सच्चरित्र, सुलक्षणसंपन्न, बुद्धिमान् तथा आरोग्यवान् होना आवश्यक है।

विवाह प्रकार—हिन्दू-धर्मशास्त्र में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच, इन आठ प्रकार के विवाहों के वर्णन किये गये हैं। दूसरी ओर पालि-निकाय में उल्लेख मिलते हैं केवल ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व तथा राक्षस के। दैव-विवाह के उल्लेख के अभाव का कारण प्रतीत होता है बौद्ध लेखकों द्वारा ब्राह्म तथा प्राजापत्य से दैव के भेद की अस्वीकृति। इसी प्रकार पैशाच-विवाह को विवाह माना ही न गया हो। ऐसा भी हो सकता है कि दैव तथा पैशाच-विवाह के उल्लेख का कोई समुचित प्रसंग ही न आया हो। आर्ष-विवाह वस्तुतः आसुर का ही प्रच्छन्न रूप था, और पालि-निकाय में इन दोनों के भेद को स्पष्ट करना अनावश्यक समझा गया होगा, अतः इसका उल्लेख नहीं हुआ। धर्मशास्त्र के अनुसार समाज में ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह लोकप्रिय हुए। लोक-कथाओं में प्रायः उन विवाहों के वर्णन को प्राथमिकता मिली जिनमें नवयुवक तथा नवयुवती के पारस्परिक प्रेम अथवा बल-प्रयोग की प्रधानता होती है, परन्तु यही बात समाज में प्रचलित सामान्य विवाह-प्रथा के साथ लागू नहीं होती। ब्राह्म और प्राजापत्य पद्धतियों के विवाह तो सामाजिक जीवन की नित्य-प्रति की सामान्य घटनाएँ रही हैं जिनमें वैचित्र्य का अभाव होता है। अतः जातकों में इन विवाहों के उल्लेख के प्रसंग कम आये हैं, फिर भी जो कुछ सामग्री इस विषय में उपलब्ध होती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्धकालीन समाज में विवाहों का स्वरूप न्यूनाधिक वही था जो ब्राह्म तथा प्राजापत्य विधियों से वैवाहिक कार्य संपन्न किये जाने वाले आज के हिन्दू विवाह में दिखलायी पड़ता है। उन दिनों भी वर-वधू के अभिभावक अपनी संतान के विवाह-सम्बन्ध निश्चित करते थे, किसी शुभ घड़ी में वैवाहिक धर्म-विधियाँ संपन्न की जाती थीं,[८२] निश्चित तिथि को वरपक्ष कन्यागृह पहुँचता,[८३] और विवाहोपरान्त वर अपनी वधू को यान में आसीन कराकर सदलबल स्वगृह ले जाता।[८४] परन्तु विवाह की धर्मविधियों तथा अन्य संबद्ध विषयों में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बौद्ध लेखक मौन रह जाते हैं। इनका सविस्तार वर्णन केवल गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में उपलब्ध होता है। पाणिनि धर्मविधि का उल्लेख तो करते हैं पर तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के विवाहों के सम्बन्ध में कुछ नहीं बतलाते।[८५] इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह ही लोकप्रिय थे।

कन्या के पिता को पर्याप्त धनराशि प्रदान कर पत्नी उपलब्ध करने की प्रथा को धर्मशास्त्र में आसुर-विवाह की संज्ञा दी गयी। संभवतः इस प्रथा का उद्‌भव असुर-संप्रदाय में होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। पालि-पिटक में धन द्वारा पत्नी उपलब्धि के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन समाज में आसुर-विवाह के प्रचलन का समर्थन होता है। एक जातक के अनुसार एक वृद्ध ब्राह्मण ने भिक्षाटन द्वारा सहस्र कार्षापण इकट्ठा किया। उन कार्षापणों को एक ब्राह्मण के पास रखकर वह पुनः भिक्षाटन के लिए चल पड़ा। कुछ दिनों के पश्चात् जब वह वापस लौटा तो खर्च हो जाने के कारण उसे अपने एक सहस्र कार्षापण तो वापस नहीं मिले पर बदले में मिल गयी—एक ब्राह्मण कन्या।[८६] पत्नी के लिए प्रयुक्त 'कीतो धनेन बहुना,[८७] भरिया या पि धनेन होति कीतो,[८८] या च भरिया धनकीता'[८९] सदृश उक्तियों की गणना भी आसुर-विवाह के प्रबल प्रमाणों में की जा सकती है। इस श्रेणी के विवाह के लिए यह भी आवश्यक नहीं था कि वर अपनी पत्नी का मूल्य सदा धन के रूप में चुकाता। कभी-कभी वर अपने पत्नीकुल में सेवाकार्य करके अपनी लक्ष्य-सिद्धि में समर्थ हो जाता था। महा-उम्मग-जातक में उल्लेख मिलता है कि एक व्यक्ति ने अपनी भावी ससुराल में सात वर्षों तक कार्य किया जिसके बदले में उस कुल की कन्या से उसका विवाह कर दिया गया।[९०]

धर्मशास्त्रकारों ने कन्या-विक्रय की प्रथा का घोर विरोध किया, परन्तु आर्येतर जातियों में इसकी लोकप्रियता के कारण वे इसे अमान्यता प्रदान करने में सफल न हो सके। इस प्रथा को किसी-न-किसी रूप में उन्हें वैध स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। आर्ष-विवाह, जिसमें कन्या के पिता को वर के पिता की ओर से गाय अथवा सांड़ की एक जोड़ी भेंट करने का विधान है, आसुर-विवाह का ही प्रच्छन्न रूप है। मनु पत्नी-विक्रय का निषेध तो करते हैं, परन्तु वे यह भी कहते हैं कि कन्या-शुल्क जमा करने के पश्चात् यदि वर की मृत्यु हो जाय, तो उस कन्या का विवाह मृत-वर के अनुज से कर देना चाहिए।[९१] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय विरोध के बावजूद आसुर-विवाह की प्रथा समाज में प्रचलित रही और शास्त्रकारों को इसके लिए

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनिच्छापूर्वक अपनी स्वीकृति देनी पड़ी। मनु द्वारा इसका घोर विरोध उनका व्यक्तिगत विचार प्रतीत होता है। समाज के द्विजाति-वर्ग में भी कन्या-विक्रय को प्रश्रय उन धनवान वृद्धों द्वारा मिला जो पुनर्विवाह के लिए लालायित रहते थे और साथ ही कन्या के उन अभिभावकों द्वारा जो निर्धनता के शिकार थे।

गांधर्व अथवा प्रेम-विवाह का भी समाज में पर्याप्त प्रचलन था। जातकों से प्रतीत होता है कि समाज के अभिजात-वर्ग में गांधर्व-विवाह लोकप्रिय हुआ। महा-उम्मग-जातक के अनुसार मिथिला के युवराज महोसध को एक ग्रामीण बाला से प्रेम हो गया तो उन्होंने उससे विवाह कर लिया। कट्ठहारि-जातक में उल्लेख मिलता है एक राजा का जिसने अपने पुष्पोद्यान में एक नवयौवना को क्रीड़ा करते देखा तो उस पर मुग्ध हो उससे विवाह कर लिया। एक अन्य कहानी के अनुसार वाराणसी के एक दिशाप्रमुख आचार्य के एक शिष्य को एक स्थानीय नवयुवती से प्रेम हो गया तो उसने उससे विवाह कर लिया और अपना अध्ययन भी जारी रखा[९२]। बुद्ध के समकालीन वत्सराज उदयन की प्रेमकथाएँ लोक-विश्रुत हैं। धर्मशास्त्र-रचयिताओं की दृष्टि में गांधर्व एवं क्षात्र अथवा राक्षस-विवाह क्षत्रियोचित थे। वात्स्यायन के मत में तो गांधर्व-विवाह ही सर्वोत्तम है, क्योंकि इसके मूल में होता है—प्रेम, जो विवाह का वास्तविक लक्ष्य है।

जातक कथाओं में राक्षस अथवा क्षात्र-विवाह, अर्थात् बल-प्रयोग द्वारा कन्याहरण के भी अनेक उदाहरण दिये गये हैं, जैसे—एक चोर-प्रमुख ने एक ग्रामीण बाला का अपहरण कर उससे विवाह कर लिया;[९३] एक राजा ने अपने शत्रुराजा की हत्या कर उसकी रानी को अपनी पत्नी बनाया।[९४] अति प्राचीन काल में शक्ति-प्रयोग द्वारा पत्नी प्राप्त करने की प्रथा का उद्भव हुआ। पश्चात् समाज के योद्धा-वर्ग में यह प्रचलित हो गया। जिस युग में शारीरिक शौर्य ही पुरुष में नारी के आकर्षण का केन्द्र-विन्दु बना था, उस समय राक्षस-विवाह की लोकप्रियता में संदेह नहीं रह जाता। एक युग वह भी था जब पत्नी-प्राप्ति के लिए पराक्रम-प्रदर्शन अनिवार्य माना जाता था। सीता-स्वयंवर तथा द्रौपदी के विवाह के लिए आयोजित स्वयंवर में भगवान् राम तथा अर्जुन ने अपने अप्रतिम बाहुबल द्वारा ही सफलता प्राप्त की। इन स्वयंवरों को क्षात्र-विवाह का रूपान्तर मानना सर्वथा उपयुक्त है। आज भी कई आदिम जातियों में विवाह के अवसर पर युद्ध की नकल की जाती है। वर अपनी पत्नी को बलपूर्वक वधूपक्ष से छीनने का प्रयास करता है, और कन्या-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पक्ष वाले उसे बचाने का। यह छीना-झपटी का नाटक अतीत के कन्याहरण का ही रूपान्तर है। मध्यप्रदेश तथा छोटानागपुर के कुछ क्षेत्रों में बारात-मिलन के समय युद्ध-नृत्य देखने को मिलता है। इस तरह की प्रथाएँ राक्षस-विवाह की प्राचीनता के द्योतक हैं और संभवतः यह विवाह की प्राचीनतम प्रथा है।

पुर्नविवाह तथा विवाह-विच्छेद— प्राचीन भारत के समाज में पुरुष का स्थान नारी से उच्च होने के कारण उसने स्वभावतः पुनर्विवाह के अधिकार का उपभोग किया। पर क्या नारी भी अपने पति के मरणोपरान्त अपना पुनर्विवाह करने में स्वतंत्र थी ? यह प्रश्न जटिल है और भिन्न-भिन्न काल में विचारकों के मत भी इस विषय में भिन्न रहे। वैदिक काल के समाज में विधवाओं की समस्या का हल निकाला गया—नियोग प्रथा में। नियोग की प्रथा वैदिक भारत में ही सीमित नहीं थी, यह अन्य देशों की तत्कालीन सभ्यताओं में भी प्रचलित थी। वैदिक समाज में न केवल नियोग, परन्तु विधवा-विवाह को भी मान्यता मिली, इसके कतिपय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार यदि पुनर्भू नारी अपने नये पति के साथ देवताओं को पञ्चौदन अर्पित करती, तो उन दोनों का साथ भविष्य में नहीं छूटता।[९५] पुनर्भू शब्द का प्रयोग उत्तरकालीन साहित्य में उस विधवा के लिए किया गया है जिसका पुनः विवाह हो जाता था। तैत्तिरीय-संहिता में द्वैधिषव्य शब्द भी संभवतः विधवा के पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[९६]

बुद्ध-काल में विधवा-विवाह की मान्यता के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी प्रमाण मिलते हैं। इसका कारण समाज के विभिन्न वर्ग में प्रचलित प्रथाओं की असमानता प्रतीत होती है। धर्मशास्त्र में समाज का आदर्श चित्र उपस्थित करने की चेष्टा के कारण विधवा-विवाह का प्रायः निषेध मिलता है, अतः निषेधात्मक व्यवस्था का अर्थ अस्तित्व का अभाव मानना उचित नहीं। धर्मशास्त्रकारों का दृष्टिकोण बाल-विधवा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था, अतः कतिपय धर्मशास्त्र-रचयिताओं ने विधवा-विवाह की अनुमति दी, तो कुछ ने इसका निषेध भी किया। लोक-कथाओं में केवल बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के वर्णन नहीं मिलते, पर उन विधवाओं के पुनर्विवाह के भी जो ससन्तान थीं। धर्मशास्त्र की व्यवस्था का पालन प्रमुखतया समाज के द्विजाति-वर्ग में हुआ, और जन-साधारण ने स्थानीय प्रथाओं को अधिक महत्त्व दिया। अतएव उच्च-जातियों में तो विधवा-विवाह विशेष परिस्थितियों में ही संपन्न हो पाते थे, पर समाज के निम्न-वर्ग में यह प्रथा सामान्य-रूप में प्रचलित रही। विधवा-विवाह को मान्यता न मिलने के कारण समाज के किन्हीं वर्गों में नवयुवती विधवाओं के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भ्रष्टाचारमय जीवन में संलिप्त होने की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। समाज के उच्चकुल की विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति उपलब्ध होने पर भी निःसन्तान विधवाओं का पुनर्विवाहित होना उनकी अपेक्षा आसान होता जिनपर अपनी सन्तान के पालन-पोषण का भार था। एक वृद्ध श्रेष्ठि, जिसकी पत्नी नवयुवती थी, सोचा करता—'मेरी पत्नी मेरे मरणोपरांत किसी नवयुवक से अपना विवाह कर लेगी और मेरी संपूर्ण चल-संपत्ति को अपने पति के साथ ऐश करने में विनष्ट कर देगी, जिससे मेरे पुत्र के लिए कुछ भी नहीं बच पायगा।'[९७] जब एक राजा परलोकवासी हो गया तो उसकी विधवा रानी ने उस राज्य के राजपुरोहित से अपना विवाह कर लिया।[९८] इनके विपरीत अंगुत्तर-निकाय में यह उदाहरण मिलता है कि जब एक व्यक्ति मरणासन्न हो गया तो उसकी पत्नी ने उसे आश्वासन दिया—'स्वामी, आप चिंता न करें, मैं कदापि विवाह न करूँगी और अपनी संतान तथा गृहस्थी की समुचित देखभाल करती रहूँगी।'[९९] समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जहाँ विधवा-विवाह के प्रति किसी प्रकार के सामाजिक विरोध का आभास नहीं मिलता। उच्छंग-जातक में समाज के इस वर्ग में प्रचलित विधवा-विवाह का यह उदाहरण मिलता है—'एक स्त्री के पति, पुत्र तथा भ्राता को राजकर्मचारी दस्यु समझ पकड़कर ले गये। उस स्त्री ने राजद्वार में दया-याचना की। राजा ने उस स्त्री से कहा—इन तीनों में जिस एक को तुम चाहो मुक्त किया जा सकता है। उस स्त्री ने उत्तर दिया—देव, मैं दूसरा पति और पुत्र तो प्राप्त कर सकती हूँ पर मेरे माता-पिता मृत हो चुके हैं, जिससे भाई ही मेरे लिए दुर्लभ है, अतः मुझे मेरा भाई ही मिले।'[१००]

धर्मशास्त्र के विधान से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में यत्र-तत्र नियोग तथा विधवा-विवाह दोनों ही प्रचलित थे। शास्त्रकारों ने औरस-पुत्र के पश्चात् दूसरे स्थान पर नियोग-पुत्र को रखा। जो विधवा अपना पुनर्विवाह कर लेती थी उसे पुनर्भू की संज्ञा दी गयी।[१०१] वशिष्ठ ने उस विधवा को कुमारी स्वीकार किया जिसका मात्र मंत्र-संस्कार तो हुआ पर पति से शरीर-सम्बन्ध नहीं हो सका।[१०२] इस तरह की विधवा को वे पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान करते हैं। कौटिल्य के मत में निःसंतान विधवा को पति की मृत्यु के पश्चात् सात बार रजस्वला होने पर पुनर्विवाह कर लेना चाहिए, किन्तु जिनकी संतान हो उसे वर्ष-भर प्रतीक्षा करनी चाहिए।[१०३] इस विषय में मनु के विचार परस्पर-विरोधी हैं।

प्राचीन भारतीय परिवार के पितृ-प्रधान स्वरूप के कारण नारी को परिवार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की सम्पत्ति माना जाता था और संभवतः इसी कारण धर्मशास्त्रकारों के मत में विधवा को प्रायः अपने मृत-पति के परिवार के ही किसी पुरुष को अपना पति स्वीकार करना चाहिए। इस मत का दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि पूर्व-काल में नियोग का व्यापक प्रचलन था। इस बात की संभावना को भी ध्यान में रखा गया होगा कि अन्यत्र विवाह करने वाली विधवा मृत-पति के परिवार से चल-संपत्ति का कुछ भाग अपने साथ न ले जाय। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यदि विधवा किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह कर लेती जो उसके श्वसुर को स्वीकार्य न होता, तो उस अवस्था में उसे अपने विवाह के समय पति तथा श्वसुर से प्राप्त समस्त वस्त्राभूषणादि से वंचित होना पड़ता।[१०४]

प्राचीन भारत में नारी के पुनर्विवाह की समस्या उस समय भी उठती थी जब उसका पति संन्यासी हो जाता अथवा विदेश-यात्रा से वापस नहीं आता। उपनिषद्काल में संन्यास-जीवन की ओर लोगों की अभिरुचि में अप्रत्याशित वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप तरुणियाँ पतिविहीना होने लगीं। बुद्ध-काल में संन्यासियों, भिक्षुओं तथा श्रमणों की संख्या में पूर्वापेक्षा अत्यधिक वृद्धि हुई। बौद्ध-संघ में प्रवेश करने वालों में उन युवकों की संख्या न्यून नहीं थी जिन्होंने अपनी नवयुवती पत्नियों को असहाय छोड़ दिया। यही वह प्रमुख कारण था कि राजगृह में जब भगवान् बुद्ध का प्रथम पदार्पण हुआ, तो मगधवासी ब्राह्मणों ने नारी के वैधव्य के अग्रदूत के विरोध के लिए जनता का आह्वान किया।[१०५] यह विरोध बौद्ध-धर्म के प्रचार एवं प्रसार को अवरुद्ध करने में सफल नहीं हुआ। बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता में दिनों-दिन वृद्धि होती गयी और भिक्षुओं की संख्यावृद्धि के साथ परित्यक्ता नारियों की संख्या भी निरंतर बढ़ती गयी। इस अवस्था में कुछ नारियों ने अपने पति के चरण चिह्नों पर चलना पसन्द किया, पर कई ने पुनर्विवाह कर घर बसाना श्रेयस्कर समझा। कभी-कभी तो प्रव्रज्या लेते समय स्वयं पति ने अपनी पत्नी को पुनर्विवाह के लिए प्रेरित किया।[१०६] धर्मशास्त्र में इस बात की व्यवस्था है कि यदि पति संन्यासी हो जाय अथवा विदेश चला जाय तो प्रतीक्षा की एक निश्चित अवधि के पश्चात् पत्नी अपना नया पति चुन लेने के लिए स्वतंत्र हो जाती है। वशिष्ठ के मत में सन्तानवती ब्राह्मणी को भी पाँच वर्ष ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, जिसके पश्चात् उसे किसी निकट सम्बन्धी से विवाह कर लेना चाहिए, परन्तु पति-कुल में सुयोग्य पात्र का अभाव होने पर ही अन्यत्र विवाह का विचार किया जा सकता है।[१०७] कौटिल्य के अनुसार ससन्तान विधवा के लिए एक वर्ष मात्र की प्रतीक्षावधि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर्याप्त है; किन्तु यदि उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध हो अथवा उसके ज्ञाति उसका निर्वाह करें, तो उसे दो से आठ वर्षों तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् उपयुक्त वर ढूँढ़ लेना चाहिए।[१०८] मनु के मत में पति की विदेश-यात्रा के उद्देश्य के अनुरूप प्रतीक्षा की अवधि तीन से आठ वर्षों तक होनी चाहिए।[१०९]

पति-पत्नी द्वारा पारस्परिक सहमति से विवाह-विच्छेद कर पुनर्विवाह करने के भी कुछ उदाहरण पालि-पिटक में उपलब्ध होते हैं। धर्मशास्त्र में अपवाद-स्वरूप विवाह-विच्छेद की अनुमति दी गयी। धर्मशास्त्र में वस्तुत: समाज का आदर्श चित्रण होने के कारण समाज के निम्न-वर्ग में प्रचलित कतिपय प्रथाओं का, जिन्हें निषिद्ध माना गया, उल्लेख करना अनावश्यक समझा गया। परन्तु बौद्ध पालि-वाङ्मय में प्रसंगवशात् समाज की अच्छाइयों और बुराइयों का वास्तविक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया, जिससे प्रतीत होता है कि समाज के कुछ वर्गों में विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह की घटनाओं का घटित हो जाना कोई अनहोनी बात नहीं थी। मज्झिम-निकाय के पियजातिक-सुत्त के अनुसार एक स्त्री के निकट सम्बन्धियों ने उसका विवाह अन्य पुरुष से करने का निश्चय किया, वह भी अपने पति को नहीं चाहती थी।[११०] कुस-जातक (५३१) में बतलाया गया है कि मद्र-राजकुमारी फुसति ने अपने कुरूप पति का परित्याग कर किसी अन्य राजकुमार से विवाह करने का निश्चय किया। इस सम्वाद को सुनकर अनेक राजकुमार फुसति को हस्तगत करने के लिए सदलबल पहुँच गये, परन्तु सभी को राजकुमार कुस के बाहुबल से पराजित होकर निराश लौट जाना पड़ा। यद्यपि इस कहानी में पुनर्विवाह संपन्न नहीं कराया गया है, परन्तु नारी द्वारा विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह के निश्चय के उल्लेख से समाज में इस प्रथा की मान्यता का समर्थन होता है। धर्मशास्त्र द्वारा विशेष परिस्थिति में विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह का समर्थन किया गया है। तदनुसार वशिष्ठ ने पति के नपुंसकत्व या चरित्रहीनता अथवा विक्षिप्तता के आधार पर उसका परित्याग कर नारी को अन्यत्र विवाह करने की अनुमति प्रदान की।[१११] कौटिल्य ने पति-पत्नी में निरन्तर वैमनस्य की विद्यमानता के कारण दोनों पक्ष की सहमति से विवाह-विच्छेद का विधान किया है।[११२] इस प्रकार कौटिल्य ने उन धूर्त तथा मतलबी पति या पत्नी पर प्रतिबन्ध लगाया जो अपने स्वार्थवश दूसरे के परित्याग का षड्यन्त्र रचते। परन्तु मौर्य-पूर्व काल में इस तरह के प्रतिबन्ध के अस्तित्व की कल्पना करना वास्तविकता की अस्वीकृति होगी और यदि ऐसा रहा भी हो तो उसे सक्रिय रूप देना सम्भव न हो पाता। कौटिल्य ने जो नियम बनाये उनको समाज में लागू करना सहज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था क्योंकि मौर्य-शासन अत्यन्त दक्ष था।

यह निर्धारित करना सम्भव नहीं है कि विवाह-विच्छेद तथा पुर्नविवाह करनेवालों की प्रतिशत संख्या कितनी रही होगी। जैसा कि ऊपर कहा गया, समाज के निम्नवर्ग में इनका प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक था। सामाजिक रीति-रिवाजों का नियमन प्रायः कुलाचार तथा स्थानीय परम्पराओं द्वारा होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कुल-परम्पराओं के प्रति विशेष अनुरक्ति होती है, अतः वे पति में प्रगाढ़ अनुराग का अभाव होने पर भी प्रायः विवाह-विच्छेद का सहारा लेना पसन्द नहीं करती होंगी, जैसा कि एक जातक कथा में कहा गया है कि एक स्त्री अपने पति से असंतुष्ट थी, पर उसने उसका परित्याग नहीं किया। कारण पूछने पर उसने उत्तर निया— 'इस कुल की परम्परा में पति-परित्याग का स्थान नहीं है, अतः अनिच्छापूर्वक ही सही, मैं अपने पति के साथ दाम्पत्य-जीवन का निर्वाह कर रही हूँ।'[११३] पति भी प्रायः विवाह-विच्छेद के लिए इच्छुक नहीं रहा करते थे इसके भी उल्लेख मिलते हैं। एक ब्राह्मणी ने दुराचार किया, पर उसके पति ने अपनी पत्नी का परित्याग कर पुर्नविवाह करने के विरुद्ध मत व्यक्त किया।[११४] इन उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि दाम्पत्य-जीवन की कटुता की चरम अवस्था को छोड़कर विवाह-विच्छेद का आश्रय नहीं लिया जाता था और समाज के निम्नवर्ग में इसका अनुपात अपेक्षाकृत अधिक रहता था। नारद[११५] तथा पराशर[११६] के समय तक परिस्थिति अपरिवर्तित रही, क्योंकि इन्होंने विशेष परिस्थिति में विवाह-विच्छेद का विधान किया है। परन्तु कालान्तर में सामाजिक रीति-रिवाजों में कई परिवर्तन हो गये और बारहवीं शताब्दी के धर्मशास्त्र-रचयिताओं ने विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद तथा पुर्नविवाह को कलिवर्ज्य की सूची में रखा।

दाम्पत्य-जीवन—पालि-पिटक तथा तत्कालीन धर्मशास्त्र से व्यक्त होता है कि बुद्धकालीन-समाज में पति-पत्नी का दाम्पत्य-जीवन प्रायः आदर्श एवं आनन्दमय था—पारस्परिक सम्मान तथा प्रगाढ़ प्रेम से पूर्ण। परन्तु जातक कथाओं में दुःखी दाम्पत्य-जीवन के अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं, जिनका कारण प्रायः स्त्री की दुष्टता बतलाया गया है, परन्तु कुछ में पति की धूर्त्तता का भी उल्लेख किया गया है। कथाकारों ने प्रायः साधारण घटनाओं को भी अतिरंजित कर दिया है, अतः वे पूर्ण विश्वस्त नहीं माने जा सकते। बौद्ध लेखकों का लक्ष्य था—कथा के माध्यम से भिक्षुओं को स्त्री-साहचर्य से विरक्त करना, अतः जातकों में स्त्री-जाति को दुष्टता का अवतार बना दिया गया। बौद्ध धर्माचार्यों ने स्त्री-सम्पर्क

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से भिक्षुओं को दूर रखने का प्रयत्न किया, क्योंकि नारी-सौन्दर्य की माया किसी भी समय उन्हें भिक्षु-जीवन के आदर्श से च्युत कर सकती थी। पुरुष का विवेक नारी के निकट विनष्ट हो जाता है इस धारणा को अंगीकार करने के कारण बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में नारी का वर्णन सर्वत्र दुराचारिणी के रूप में किया गया। एक जातक कथा का कथन है कि स्त्री स्वभाव को समझ पाना असम्भव है, उनका चित्त चंचल होता है, जैसा कि बानर का।[११७] दूसरी जातक कहानी में बतलाया गया है कि एक पति ने अपनी पत्नी की प्यास बुझाने के लिए अपना रक्त दिया, परन्तु उस दुष्टा ने एक अपंग दस्यु के प्रति प्रेमासक्ति के फलस्वरूप अपने पति को त्याग दिया।[११८] कई कहानियों में वर्णन मिलता है कि किस प्रकार दुराचारिणी पत्नियाँ अपने पति की अनुपस्थिति में अपने प्रेमियों के संग मौज किया करती थीं[११९]। दुष्टा-पत्नियाँ जनता के बीच अपने पति को उपहास का पात्र तक बना देतीं।[१२०] कई कहानियों में वर्णन मिलते हैं कि स्त्री अपने प्रेमी के साथ भागी जा रही और उसका पति उनका पीछा कर रहा है[१२१]। चुल्लवग्ग ने स्त्रियों के अवैध गर्भधारण करने तथा गर्भपात कराने का वर्णन किया है।[१२२]

स्त्रियों के दुश्चारित्र्य-वर्णन के समान जातकों में पुरुषों के व्यभिचार के भी उदाहरण दिये गये हैं। तदनुसार कई पति अपनी पत्नी की उपेक्षा कर दूसरों की स्त्री में अनुरक्त हो व्यभिचार करने लगते थे।[१२३] स्त्रियाँ भी अपने दाम्पत्य जीवन से विरक्त होकर भिक्षुणियाँ बन जाती थीं।[१२४] कभी-कभी पुरुष अपनी व्यभिचारिणी पत्नी की अच्छी तरह मरम्मत करके घर से निकाल भी देते थे।[१२५] ऐसा भी होता था कि साधारण भूल के कारण पुरुष स्त्री-त्याग का विचार कर लेता। काना नाम की एक लड़की अपने पितृगृह गयी। उसके पति ने उसे लाने के लिए तीन बार अपना दूत प्रेषित किया, पर वह ससुराल नहीं आयी। इस बात पर क्रुद्ध होकर उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया।[१२६] समाज में ऐसे पुरुषों का भी अस्तित्व था जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए पत्नी का परित्याग कर सकते थे। ऐसे ही पति का वर्णन एक जातक कथा में किया गया है। जब एक सेनापति ने राजा को अपनी पत्नी में अनुरक्त देखा, तो वह अपने स्वामी को तुष्ट करने के लिए पत्नी-परित्याग को प्रस्तुत हो गया।[१२७]

वस्तुतः समाज में सभी तरह के मनुष्यों का अस्तित्व होता है। न तो गुणवान् व्यक्तियों का अभाव रहता है, और न मूर्खों का; संत हैं तो असंत भी विद्यमान हैं। न तो समाज में सती-साध्वी स्त्रियों का कभी अभाव रहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है और न पत्नीव्रत पुरुषों का। अतः बौद्ध-वाङ्मय में जहाँ स्त्री-पुरुष-दुश्चारित्र्य सम्बन्धी अनेक उदाहरण दिये गये हैं, वहाँ इसके भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि दाम्पत्य-जीवन प्रायः सुखमय था। पति-पत्नी के लिए सर्वोत्तम आदर्श माना गया था—आनन्दमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करना। वयोवृद्ध जन नवविवाहित दम्पति को आशीर्वाद देते थे कि उनके दाम्पत्य-जीवन में अटूट मैत्री का साम्राज्य बना रहे।[१२८] धर्मशास्त्रकार भी पति-पत्नी की सौंदयानुभूति तथा उनके भौतिक एवं धार्मिक अभिन्नता की परिकल्पना करते हैं।[१२९] पालि एवं संस्कृत वाङ्मय में समान रूप से पत्नी को अपने पति का अंतरंग मित्र स्वीकार किया गया है। अपने पति के प्रति प्रगाढ़ अनुरागमयी स्त्री परलोक में भी पति-संयोग की कामना करती थी।[१३०] पुरुष भी अपनी सच्चरित्रा पत्नी पर गर्व का अनुभव करता था।[१३१] सुजाता,[१३२] संबुला[१३३] आदि स्त्रियाँ साध्वी, गुणवती तथा कर्त्तव्य-परायणा थीं और उन्होंने अपने दाम्पत्य-जीवन में सुख, एकचित्तता, तथा अनन्य-भाव का अनुभव किया, ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है। संबुला के पति को कुष्ठ हो गया था लेकिन उस साध्वी एवं पति-परायणा नारी ने वन में रहकर उनकी सेवा-सुश्रूषा की।

साध्वी स्त्रियों के समान पत्नी-निष्ठ पुरुषों के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक जातक कथा में यह विचार व्यक्त किया गया है कि पुरुष के लिए अपनी प्रेममयी पत्नी से बढ़कर प्रिय कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती है।[१३४] ऐसे पति के उदाहरण उपलब्ध होते हैं जो व्यभिचारिणी पत्नी का भी परित्याग करना अनुचित मानते थे।[१३५] दुश्चरित्रा पत्नी का परित्याग शास्त्र-सम्मत था और इस प्रकार के उदाहरण जातकों में दिये गये हैं। साध्वी पत्नी का परित्याग शास्त्र-विरुद्ध था, अतः इसे लोककथाओं में भी प्रश्रय नहीं मिला। धर्मशास्त्र में दाम्पत्य-व्रतभंग को अधम पाप की संज्ञा दी गयी है। अतः न तो स्त्री के लिए पुरुष का त्याग, न पुरुष के लिए अपनी साध्वी पत्नी का परित्याग, शास्त्रसम्मत माना जा सकता है। आपस्तंब ने कहा है कि यदि पुरुष अपनी साध्वी पत्नी का परित्याग कर दे, तो उसे इसके प्रायश्चित के लिए गर्दभ-चर्म धारण कर सात घरों में भिक्षा मांगनी चाहिए।[१३६] मनु पत्नी-परित्यागी के लिए आर्थिक दंड की व्यवस्था करते हैं।[१३७] इसी प्रकार पति-परित्यागिनी नारी के लिए कृच्छ्र नामक प्रायश्चित की व्यवस्था है।[१३८]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९

गणिकाएँ

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल में तथा तदनन्तर भारत में नगर-सभ्यता का पूर्वापेक्षा विशेष विकास हुआ। महापरिनिब्बाण-सुत्त में उल्लिखित ६ प्रमुख महानगर—चम्पा, राजगृह, साकेत, श्रावस्ती, कौशाम्बी और वाराणसी, तथा वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु, उज्जैनी प्रभृति वैभवशाली नगरों को उस युग के व्यावसायिक एवं सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। पाटलिपुत्र ग्राम को अजातशत्रु के राजत्वकाल में महत्त्व दिया गया और वहीं से इसका विकास क्रमशः होने लगा और इसने शीघ्र ही मगध-साम्राज्य की राजधानी के पद को प्राप्त कर महानगरों में अपना प्रमुख स्थान बना लिया। इन समृद्ध नगरों के विलासप्रिय नागरिकों को आमोद-प्रमोद की वे सभी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं जो ग्रामीण जीवन में दुर्लभ मानी जाती हैं। नागरिक जन अनेकानेक प्रकार के आनन्दोपभोगों में लिप्त रहा करते थे। उनके विलासमय जीवन में गणिकाओं को प्रमुख स्थान मिला। बौद्ध-पिटक के अनुसार नगरों की शोभा में गणिकाओं ने चार चाँद लगा दिये थे। नगरवासी अपने नगर की गणिका के सौंदर्य पर गर्व का अनुभव करते थे। गणिका के अभाव को किसी भी प्रमुख नगर के जीवन की महती त्रुटि समझी जाती थी, तभी तो राजगृह के नागरिकों ने वैशाली का अनुसरण कर अपने नगर के लिए भी गणिका की व्यवस्था की। राजगृह के एक प्रमुख श्रेष्ठि ने वैशाली नगरी का अवलोकन किया। उसने वहाँ के नागरिकों को सभी प्रकार से समृद्ध एवं संतुष्ट पाया। राजगृह वापस आने पर उसने मगधराज श्रेणिय बिम्बिसार के पास जाकर निवेदन किया—'महाराज, वैशाली नगरी समृद्ध एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न है......वहाँ अम्बपाली नाम की गणिका का वास है जो परम सुंदरी, रमणीया, नयनाभिरामा, परम सुंदर-वर्णा, गायन-वादन-नृत्य-विशारदा तथा अभिलाषीजन-बहुदर्शनीया है। महाराज प्रसन्न हों, हम भी एक गणिका का अभिषेक करें।'[१] उस समय राजगृह नगर में सालवती नाम की एक नवयुवती थी जो परम सुंदरी, रमणीया, दर्शनीया तथा परम सुंदर-वर्णा थी। उसे ही गणिका पद के उपयुक्त पाकर उसका गणिकाभिषेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पन्न किया गया।[२] जिस प्रकार सालवती को गणिका-पद पर प्रतिष्ठित किया गया, उससे प्रतिभासित होता है कि गणिका-पद को प्राप्त करना किसी नारी के लिए समाज में अप्रतिष्ठासूचक नहीं माना जाता था। इस पद पर प्रतिष्ठित हो संभवतः नारी भी उन दिनों अपने को गौरवान्वित अनुभव करती थी। समाज में अम्बपाली और सालवती का स्थान सामान्य गणिका से सर्वथा भिन्न था, क्योंकि वे राजगणिका-पद को सुशोभित करती थीं और वस्तुतः वे अभिजातकुल-भोग्या बनी रहीं।

विनय-पिटक में उपलब्ध प्रमाणों से विदित होता है कि तत्काकीन समाज में गणिकाओं को समुचित सम्मान मिला। वे अभिजात-वर्ग की सौंदर्योपभोग-लिप्सा की तुष्टि का साधन-मात्र न थीं, उन्होंने गायन-वादन-नृत्य-कला का यथोचित संरक्षण भी किया। गणिकाओं के माध्यम से जन-मानस का सौंदर्यानुराग प्रबुद्ध एवं परितुष्ट होता था। वे महोत्सवों पर राजप्रासाद में लोक-रंजनार्थ संगीत-नृत्य के हृदयग्राही प्रदर्शन करती थीं। भगवान् बुद्ध द्वारा अम्बपाली का आतिथ्य स्वीकार करने तथा उसके द्वारा अम्बपाली वन का भिक्षु-संघ को दान करने की घटनाओं से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज ने गणिकाओं को हेय दृष्टि से नहीं देखा।[३] भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ अम्बपाली ने अनेक सुशोभित रथों को लेकर जिस ठाटबाट से कोटिग्राम के लिए प्रस्थान किया उससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि उसका रहन-सहन राजसी था।[४] गणिका की कोख से जन्मे व्यक्ति का समाज में तिरस्कार भी नहीं किया गया। यदि गणिकापुत्र प्रतिभासंपन्न होता तो उसे अपनी योग्यता के अनुरूप उच्चपद को प्राप्त करने में बाधा नहीं पड़ती थी। इसका सबल प्रमाण तो यही है कि प्रख्यात राजवैद्य जीवक का जन्म राजगृह की गणिका सालवती के गर्भ से हुआ था।[५]

जातक कथाओं में अनेक गणिकाओं के वर्णन से प्रतीत होता है कि उनको अपने व्यवसाय से इतनी आय हो जाती थी कि वे विलासमय जीवन व्यतीत करने के सभी साधन जुटाने में समर्थ थीं। सामा,[६] सुलसा,[७] काली[८] आदि गणिकाएँ प्रतिरात्रि एक सहस्र कार्षापण अर्जित कर लेती थीं। वस्त्र, अंग-राग तथा माला में ही काली का दैनिक व्यय पाँच सौ कार्षापण तक पहुँच जाता था।[९] जो रसिक उसके पास रात्रि व्यतीत करने जाता उसे अपने वस्त्र उतार कर गणिका द्वारा प्रदत्त परिधान धारण करना पड़ता। ग्राहकों द्वारा किसी गणिका को प्रतिरात्रि सहस्र कार्षापण देने के कथन में अतिशयोक्ति अवश्य है। वस्तुतः राजगणिका की दैनिक आय पचास से सौ कार्षापण के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीच थी जो विलासमय जीवन व्यतीत करने के लिए पर्याप्त कहा जा सकता है। सालवती को प्रतिरात्रि सौ कार्षापण प्राप्त होते थे,[10] पर अम्बपाली को केवल पचास।[11] इसका कारण राजगृह एवं वैशाली के जीवन-स्तर का वैषम्य प्रतीत होता है। मगध-साम्राज्य की राजधानी में विलासिता की वस्तुओं के लिए अधिक धन व्यय करने में सक्षम नागरिकों की संख्या अन्य नगरों से अपेक्षाकृत अधिक रही होगी।

सामान्य नारी के समान गणिका के आचरण में भी महानता एवं क्षुद्रता के गुणावगुणों का होना स्वाभाविक है। जातक कथाओं में सद्गुणसम्पन्न तथा दुराचारिणी दोनों प्रकार की गणिकाओं के उदाहरण मिलते हैं। काली नाम की गणिका में प्रबल आत्म-सम्मान का भाव तो था ही, साथ ही उसमें सामाजिक मान्यताओं के निर्वाह की अपूर्व क्षमता भी थी। उसका तुण्डिल नामक भाई बड़ा दुश्चरित्र, शराबी तथा जुआड़ी था और उसके धन का दुरुपयोग किया करता था। उसने अपने भाई के सुधार करने का प्रयत्न किया, पर व्यर्थ। एक दिन तुण्डिल को लोगों ने खूब पीटा और उसके वस्त्र भी छीन लिये। जब वह अपनी बहन के पास चिथड़ों में लिपटा हुआ पहुँचा तो उसने अपनी दासियों द्वारा उसे भगा दिया।[12] एक अन्य गणिका एक नवयुवक पर अनुरक्त हो गयी। वह नवयुवक उसे एक सहस्र कार्षापण देकर कहीं चला गया, तो वह गणिका तीन वर्षों तक उसकी प्रतीक्षा करती रही। वह निर्धन हो गयी, पर उसने किसी अन्य पुरुष से ताम्बूल तक स्वीकार नहीं किया।[13] सुलसा नाम की गणिका का वर्णन एक अति बुद्धिमती तथा साहसी नारी के रूप में मिलता है। वह एक दस्यु पर आसक्त हो गयी। उसने उसकी प्राणरक्षा की और अन्य पुरुषों के संपर्क में आना बन्द कर दिया, परन्तु वह दस्यु धूर्त निकला। उसके मन में पाप हो गया। उसने अपनी प्रेमिका की हत्या कर उसके मूल्यवान् आभूषणों को हस्तगत करने का निश्चय किया और इस दुराकांक्षा की पूर्ति के विचार से एक दिन वह सुलसा को सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर एक पर्वत-शिखर पर ले गया। सुलसा ने परिस्थिति की गम्भीरता भाँपकर उस दस्यु से प्राणदान के लिए बड़ी विनती की पर उस क्रूर का हृदय नहीं पिघला। इस विकट स्थिति में भी उसने अपने मस्तिष्क का सन्तुलन नहीं खोया, और उसने उस दस्यु के आलिंगन के स्वांग की ओट में उसे पर्वत-शिखर के नीचे ढकेल दिया जिससे वह टुकड़े-टुकड़े हो गया।[14] इन कहानियों से विदित होता है कि गणिकाओं में भी कोमल भावनामयी नारी का हृदय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है, मानापमान तथा आत्मसम्मान की भावनाएँ रहती हैं और उनमें भी साहस का अभाव नहीं होता।

गणिका के आचरण के दूसरे पक्ष के वर्णन भी जातकों में उपलब्ध हैं। जिस प्रकार कतिपय गणिकाएँ गुणवती थीं, उसी प्रकार कई गणिकाएँ अविश्वसनीय तथा क्षुद्र-विचारशीला थीं। एक श्रेष्ठिकुमार अपनी प्रेमिका गणिका को प्रतिरात्रि सहस्र कार्षापण दिया करता, परन्तु एक रात वह विलम्ब से खाली हाथ पहुँचा तो उस गणिका ने उससे कहा—'आर्य, मैं गणिका हूँ, बिना सहस्र कार्षापण लिये किसी की अंकशायिनी नहीं बन सकती, अतः जब आपके पास एक सहस्र कार्षापण हों तो मेरे निकट आवें।' श्रेष्ठिपुत्र ने बड़ा अनुनय किया, पर व्यर्थ। उस गणिका ने अपनी दासियों को उसे बलपूर्वक निकाल देने का आदेश दिया। इस अप्रत्याशित व्यवहार का उस श्रेष्ठिकुमार के हृदय पर इतना कठोर आघात हुआ कि वह संसार त्याग कर संन्यासी हो गया।[१५] सामा नाम की गणिका ने एक दस्यु को देखा तो उस पर वह आसक्त हो गयी। उस दस्यु को राजपुरुष बांधकर ले जा रहे थे। उसे प्राप्त करने का कोई अन्य उपाय न देख उसने उस दस्यु के बदले में उस नवयुवक को बन्दी बना दिया जो उसे प्रतिदिन सहस्र कार्षापण दिया करता था।[१६] उसके इस विश्वासघात के कारण दस्यु तो बच गया, पर बदले में जान गयी उस निर्दोष नवयुवक की। इससे अधम कर्म और क्या हो सकता है?

जातक कथाओं में प्रायः उन गणिकाओं का वर्णन मिलता है जो समृद्ध थीं। अम्बपाली तथा सालवती राजगणिकाएँ थीं और वे सुशोभित करती थीं--राजधानियों को। समाज में उनको धन, आदर और यश मिले। परन्तु क्या यही बात एक सामान्य गणिका के विषय में कही जा सकती है? प्रायः समाज चाँदी-सोने के थोड़े से टुकड़ों के बदले शरीर-विक्रय के कर्म को हेय-दृष्टि से देखता था। इसे नीच-कर्म की संज्ञा दी गयी।[१७] नीचघर अथवा गणिकाघर[१८] और दुरत्थि-कुम्भदासी[१९] सदृश शब्दों से यही अर्थ प्रतिभासित होता है कि वेश्या-कर्म को समाज में सम्मान का स्थान कदापि नहीं दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६

खान-पान

मनुष्य की भोजन-सम्बन्धी आदतों का निर्माण प्रकृति करती है। जिस क्षेत्र में जो खाद्यान्न प्रकृति मनुष्य को उपलब्ध कराती है, वह उसीको विभिन्न रूप में ग्रहण करता है। पश्चिमोत्तर भारत में जौ और गेहूँ उपजते हैं और ये ही इस क्षेत्र के निवासियों के मुख्य खाद्यान्न हैं। पूर्व और दक्षिण भारत में चावल उपजता है, अतः इन क्षेत्रों के निवासी भात तथा चावल-निर्मित भोज्य पदार्थों को उदरस्थ करते हैं। पालि-पिटक में मज्झिम देश के जनजीवन का विशेष वर्णन होने के कारण वे अन्न के रूप में धान का अधिक उल्लेख करते हैं। बौद्ध-युग में धान की अनेक जातियों की खेती पूर्व भारत में होती थी। पालि-पिटक में सालि (शालि), वीहि (व्रीहि) तथा तंडुल जातियों के धान के उल्लेख किये गये हैं,[१] पर गृहसूत्रों में मात्र व्रीहि का।[२] पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में शालि, व्रीहि और महाव्रीहि का उल्लेख किया है[३] जिससे प्रतीत होता है कि व्रीहि की दो उपजातियाँ थीं—एक तो वह जिसका उपभोग उच्चवर्ण के लोग करते थे, और दूसरी वह जो जनसाधारण को नसीब होती। पतंजलि[४] ने मगध के शालि की बड़ी प्रशंसा की है और सुश्रुत[५] ने उल्लेख किया है, महाशालि का। ह्यूएनसांग को संभवतः शालि अथवा महाशालि चावल का भात नालन्दा में खाने को मिला, क्योंकि उसने मगध के चावल के विषय में लिखा है कि वह सामान्य चावल से सर्वथा भिन्न प्रकार का था—उसके दाने लम्बे थे, उसमें सुगन्ध थी और उसका वर्ण चमकीला था। इस चावल का प्रायः धनी-मानी व्यक्ति ही उपयोग करते थे।[६] ह्वुइली ने तो यहाँ तक लिखा है कि महाशालि धान की खेती केवल मगध में होती थी।[७] आज भी नालन्दा क्षेत्र के वासमती चावल का कोई मुकाबला नहीं। पाणिनि ने हायन, षष्टिका और नीवार का भी उल्लेख किया है[८] जो सम्भवतः धान की ही उपजातियाँ थीं। इनके अतिरिक्त यव और कंगू के उल्लेख मिलते हैं।[९] पाणिनि ने अन्न में गोधूम और गवेधूका का भी उल्लेख किया है।[१०] दाल की जातियों में खेती की जाती थी—कलाये, मुग्ग (मूंग), मास (मसूर) और कोलत्थि (कुलथी) की।[११]

जातकों से विदित होता है कि साधारण प्रकार का चावल तो जनता का भोजन था, परन्तु उच्चवर्ग के लोग महीन अथवा उत्कृष्ट कोटि के चावल का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भात खाते थे। लोग प्रायः पुराने चावल का भात विशेष चाव से खाते हैं और जातकों में उल्लेख मिलता है कि तत्कालीन समाज में तीन वर्ष पुराने चावल का भात पसन्द किया जाता था।[१२] इतना पुराना चावल प्रायः धनवान व्यक्तियों को ही मिल पाता होगा। जो निर्धन थे और जिन्हें दैनिक मजदूरी अथवा सेवक-कर्म पर जीवन-निर्वाह करना पड़ता, उन्हें तो मध्यम अथवा मोटा ही चावल बदा था।

भात के लिए पालि में भत्त अथवा भक्त शब्द मिलते हैं।[१३] पाणिनि ने ने इसे ओदन की भी संज्ञा दी है।[१४] भात ऐसा खाद्यान्न है जो अकेला नहीं खाया जा सकता, अतः जैसा कि आजकल की प्रथा है, सामान्यतया इसे सूप (दाल) और सब्जी के साथ खाया जाता था।[१५] जातकों के अनुसार मांस या मछली के साथ भात का भोजन अधिकांश लोगों का मनपसन्द भोजन था। जनसाधारण ही नहीं, तपस्वी भी इसे बड़े चाव से खाते थे।[१६] थोड़ा घी मिला देने पर तो यह और भी सुस्वादु हो जाता। सारिपुत्त ने बिम्बादेवी का भोजन सत्कार किया—भात, लाल मछली और ताजा घी परोस कर।[१७] पाणिनि के अनुसार भात के संग खाये जाने वाले अन्य खाद्य-पदार्थ थे—मांस, मछली, सूप, सब्जी, गुड़, घी आदि।[१८]

दूध-भात अर्थात् खीर भी लोगों का प्रिय आहार था। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को इस आहार का गुण बतलाया और उनके प्रातःकालीन जलपान के लिए इसे सर्वोत्तम कहा।[१९] खीर में शहद भी मिलाया जाता था।

यवागू एक लोकप्रिय तरल खाद्य था। इसे यव अथवा भात से बनाया जाता था। पूर्व भारत में आज भी यवागू भात निर्धन जनता का आहार है। यवागू भात तैयार करने के लिए रात्रि में भात और पानी मिलाकर रख दिये जाते हैं। प्रातःकाल इसमें सरसों का तेल, इमली, मिर्च और नमक मिलाकर खाया जाता है।

गरीब जनता का प्रमुख आहार सत्तू भगवान् बुद्ध के समय में भी खाया जाता था।[२०] पालि-लेखकों के साथ पाणिनि ने भी इसका उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार लोग सत्तू को पानी मिलाकर खाया करते थे।[२१] उदमन्थ या उदकमन्थ शब्द से विशेष प्रकार के सत्तू का बोध होता है जिसे भूजे हुए चावल से बनाया जाता है।[२२] आजकल इसे भूजिया का सत्तू कहते हैं। कुम्मास या कुलमास निर्धन जनता का आहार था।[२३]

मनुष्य की जिह्वा को नित्य-प्रति ग्राह्य आहार से तृप्ति नहीं मिल पाती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। उसे सदा शौक रहा है विशिष्ट पकवान एवं मिष्टान्न का। बुद्धकाल में पूवा लोगों का प्रिय पकवान था। इल्लीस-जातक के अनुसार पूवा बनाने के लिए आवश्यकता पड़ती थी— चावल, दूध, चीनी, घी और शहद की। आज भी मैदा, आटा या पीसे चावल से बने पूवे का विशेष प्रचार है।

पिट्ठखज्जक शब्द मिलता है, खाजा के लिए। इसे भी लोग खूब पसंद करते थे। सारिपुत्त को खाजे अतिप्रिय थे, पर उन्होंने इन्हें न खाने का प्रण कर लिया, क्योंकि खाजे उनकी जिह्वालोलुपता को जागृत कर देते थे।[२४] ब्रह्मछत्त-जातक (३३६) में वर्णन मिलता है कि एक राजा ने एक तपस्वी का सत्कार यवागू और पिट्ठखज्जक से किया। राजगृह के क्षेत्र में खाजा अत्यंत लोकप्रिय है और सिलाव, जो राजगृह के अतिनिकट है, अपने उत्कृष्ट खाजा के लिए प्रसिद्ध हो गया है। सम्भवतः बुद्धकाल में भी राजगृह में उत्कृष्ट खाजे बनते होंगे।

पाणिनि ने पलल नामक सुस्वादु मिष्टान्न का उल्लेख किया है, जिसे तिल के चूर्ण और चीनी अथवा गुड़ के मिश्रण से बनाया जाता था।[२५] इसका आधुनिक रूप तिलकुट है। प्राचीन मगध में इस मिष्टान्न का पर्याप्त प्रचार रहा होगा क्योंकि गया में आज भी उत्कृष्ट कोटि के तिलकुट बनते हैं।

पाणिनि ने पिष्टक का भी उल्लेख किया है,[२६] जिसे सुश्रुत विशिष्ट खाद्य (कृतान्तवर्ग) मानते हैं। पालि में पिट्ठ-खादनीय का उल्लेख मिलता है। पिष्टक चावल की लप्सी से बनता था और आज भी पूर्व भारत की ग्रामीण जनता इसे पीठा के नाम से बनाकर चाव से खाती है। पिष्टक का प्रचलन निम्न एवं मध्यवर्गीय परिवारों तक ही सीमित रहा होगा। इनके अतिरिक्त कई तरह के अन्य पकवान और मिष्टान्न बनते होंगे जिनके उल्लेख का प्रसंग ही न आया हो।

मनुष्य के आहार में अति प्राचीन काल से दुग्ध तथा दुग्ध-निर्मित खाद्य का प्रमुख स्थान रहा है। बुद्धकालीन साहित्य में भी दुग्ध के साथ दही, मक्खन और घी के उल्लेख मनुष्य के प्रिय आहार के रूप में मिलते हैं।[२७]

दुग्ध के समान फल और सब्जियों का भी मनुष्य के प्रमुख आहार में स्थान है। इस युग में भी आम, जामुन आदि अनेक प्रकार के फलों तथा कद्दू, कुम्हड़े, ककड़ी इत्यादि विभिन्न सब्जियों को भोजन का अंग बनाया गया।[२८]

मांसाहार— प्रागैतिहासिक युग का मनुष्य मांसाहारी था, और जब

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सभ्यता का विकास हुआ, तब भी मांस उसका एक मुख्य भोजन बना रहा। वैदिक आर्य मांसाहारी थे। ऋग्वेद में इन्द्र तथा अग्नि का वर्णन पशुमांस-भक्षी के रूप में उपलब्ध होता है।[२९] यज्ञाग्नि में अश्व, वृषभ, बैल, गाय, भेड़ आदि विभिन्न पशुओं की आहुति देने के उल्लेख मिलते हैं।[३०] उत्तर वैदिक युग में भी मांसाहार के प्रति लोगों की रुचि में परिवर्तन नहीं दीखता। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार मांस को उन दिनों सर्वोत्तम भोजन माना जाता था और याज्ञवल्क्य मुनि ने मांस भक्षण किया भी।[३१]

जब हम बुद्ध-युग में पहुँचते हैं तब भी मांसाहार के प्रचलन में कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं होती। पालि-पिटक से विदित होता है कि जैनियों तथा बौद्धों के अहिंसावाद के प्रचार के कारण जनता के आहार-सम्बन्धी व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अहिंसावाद के प्रचारक ही निवेदन करने पर मांस-भक्षण कर लेते थे। बौद्ध-भिक्षु भिक्षा में गृहस्थों द्वारा प्रदत्त मांस स्वीकार करते ही थे।[३२] महापरिनिब्बान-सुत्त के अनुसार भगवान् बुद्ध ने पावा में चुंद कर्मार-पुत्र के घर शूकर-मार्द्दव खाया।[३३] उनके मुख से यह भी कहलाया गया है कि वस्तुतः मांस खाने में कोई दोष नहीं, दोषी तो वह है जो जीवहिंसा करके मांस खाता है। बौद्धों का यह तर्क हृदयंगम नहीं किया जा सकता, क्योंकि खानेवालों की तुष्टि के लिए ही मांस बनाया जाता है, और यदि मांस खानेवाले ही न हों तो पशु-पक्षी का वध ही क्यों होगा? खाने और मारने वाले दोनों को हत्यापराध का समान भागी मानना चाहिए। वस्तुतः समाज में मांसाहार की लोकप्रियता के कारण बुद्ध ने इसका सर्वथा निषेध नहीं किया। मांसाहार-सम्बन्धी उनका निषेध भिक्षुओं तक ही सीमित रहा और यदि उन्हें भी गृहस्थ भिक्षा में मांस दे देते, तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे। जैन-मत में हिंसा का निषेध होने के कारण इस प्रकार की छूट नहीं दी गयी और जैन-मतावलम्बी विशुद्ध शाकाहारी बने।

पालि-निकाय में गोघातक, मेषघातक, अजघातक, शूकरघातक, मृगलुब्धक, शाकुनिक तथा हत्यागृहों के उल्लेख[३४] से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि समाज में मांसाहार के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप अनेक पेशेवर जातियों का प्रादुर्भाव हुआ जो पशु-पक्षियों को पकड़ने, मारने तथा मांस-विक्रय के कर्मों द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते थे। वे निगम तथा नगर के बाजार में विक्रय के लिए शकटों में भरकर मांस ले जाते।[३५] जब उत्सव मनाये जाते या विवाह-सदृश कोई अवसर आता तो लोग जी भर कर मांस खाते। राजकीय पाक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गृह में मांस-मछली का खुलकर उपयोग किया जाता था।[३६] वहाँ किस प्रकार पशु-पक्षी का वध होता था, इसका अनुमान अशोक के प्रथम शिला-अभिलेख से लगाया जा सकता है जिसके अनुसार प्रतिदिन सैकड़ों हजार प्राणियों का वध किया जाता था।

जातक कथाओं में बतलाया गया है कि ब्राह्मण बड़े चाव से मांस-मछली खाते थे। वे यज्ञ और श्राद्ध में मांसाहार ग्रहण करते; श्राद्ध में प्रायः बकरा काटा जाता।[३७] जातकों में वर्णित ब्राह्मणों के मांसाहार ग्रहण करने का समर्थन होता है, धर्मशास्त्र से। आपस्तम्ब ने वैदिक आचार्य के लिए मांसाहार का निषेध किया है—उपाकर्म और उत्सर्ग के मध्य की अवधि में,[३८] जिससे प्रतीत होता है कि वे वर्ष के अन्य महीनों में मांस खा सकते थे। इस व्यवस्था से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक आचार्य तथा पुरोहित के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों के लिए मांसाहार-सम्बन्धी प्रतिबंध नहीं लगाये गये। आपस्तम्ब ने यह भी कहा है कि मांस से अतिथि-सत्कार करने वाला व्यक्ति द्वादशाह-यज्ञ करने के तुल्य फल का भागी होता है।[३९] मधुपर्क में मांस खाने का रिवाज था और ब्राह्मण अतिथि के आतिथ्य में मांस की व्यवस्था न करने का कोई कारण नहीं दीखता। सम्भावना तो इस बात की जान पड़ती है कि आतिथ्यकर्त्ता अधिक पुण्यफल प्राप्त करने की आशा से ब्राह्मण अतिथि के आतिथ्य में यथासम्भव उत्कृष्ट भोजन की व्यवस्था करता होगा जिसमें मांस की प्रमुखता रहती होगी। मनु के अनुसार ब्राह्मण अतिथि को श्राद्ध में मांस खिलाना चाहिए।[४०] वे यह भी कहते हैं कि श्राद्ध में मांसाहार अस्वीकार करने वाला ब्राह्मण इक्कीस बार पशु-योनि में जन्म पाता है।[४१] मनु के इस कथन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यज्ञ तथा श्राद्ध-सदृश धार्मिक समारोह में तथा आतिथ्य में ब्राह्मण मांसाहार करते थे। यूनानी लेखकों ने भी लिखा है कि जब ब्राह्मण ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थ हो जाते, तो वे मांसाहार करते।[४२]

मृगमांस खूब खाया जाता था। मृग का आखेट करनेवाले मृगलुब्धक[४३] कहलाते थे और उनकी एक अलग जाति बन गयी। वे मृगमांस को शकटों में लाद कर निगम तथा नगर के बाजार में विक्रय के लिए ले जाते।[४४] सम्राट् अशोक भी बौद्ध होने के पूर्व मृगमांस के बड़े प्रेमी थे।

शूकरमांस खाने वालों की संख्या न्यून नहीं जान पड़ती। पालि-निकाय में शूकरिक अथवा शूकरघातक का उल्लेख है[४५] और शूकरमांस की गणना उत्तम दक्षिणा-सामग्री में की गयी है।[४६] विवाह-भोज के दिन शूकर मारने की प्रथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रचलित थी।[४७] इस रिवाज का आज भी कहीं-कहीं प्रचलन है। जातकों से प्रतीत होता है कि केवल जनसाधारण ही नहीं, उच्च-जातीय भी शूकरमांस-भक्षी थे। आज भी राजस्थान के क्षत्रिय शूकरमांस खाते हैं, पर वनशूकर का, जो शास्त्रसम्मत है। धर्मशास्त्र[४८] में ग्रामशूकर के मांस का निषेध होने से यह उच्च जातियों में अखाद्य माना जाता रहा है, पर पालि-ग्रंथों में इसका कोई संकेत नहीं मिलता। कभी-कभी मारने के पूर्व शूकर को खिला-पिलाकर मोटा बनाया जाता था।[४९]

गोमांस अभक्ष्य तो नहीं माना जाता था परन्तु समाज का एक वर्ग गाय के प्रति श्रद्धालु हो चुका था। उपयोगी साँढ़-बैल की भी हत्या न करने के विचार पनप रहे थे। बौद्ध लेखकों ने अपने ब्राह्मण-विरोध के कारण ब्राह्मणों द्वारा गोहत्या करने तथा गोमांस-भक्षण का अतिरंजित वर्णन किया है। पालि-निकाय में गोघातक तथा उसके अन्तेवासी,[५०] गोहत्या-स्थल (गोघातकसूनम्)[५१] तथा गो-हत्या में प्रयुक्त छूरे[५२] के उल्लेख से प्रमाणित होता है कि गोमांस भक्ष्य था, परन्तु एक स्थान पर दुर्भिक्षकाल में वृद्ध बैल की हत्या[५३] के वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रायः उपयोगी गाय-बैल नहीं मारे जाते थे। जब दुर्भिक्षकाल में वृद्ध बैल की हत्या करनी पड़ी, तो सामान्यावस्था में उपयोगी गाय-बैल शायद ही मारे जाते हों ऐसा प्रतीत होता है। परस्पर-विरोधी उल्लेख उपलब्ध होने के कारण गोमांस-भक्षण के विषय में निश्चित निर्णय करना कठिन हो जाता है। आपस्तम्ब गोमांस-ग्रहण की अनुमति देते हैं।[५४] श्राद्ध[५५] तथा मधुपर्क[५६] में आतिथ्य हेतु गोहत्या की अनुमति भी धर्मशास्त्र में दी गयी और शूलागव-यज्ञ में साँढ़ मारा जाता था।[५७] अतः अवसर-विशेष पर समाज में गोमांस अखाद्य नहीं माना जाता था, यद्यपि अधिकांश जनमत इसके विपक्ष में रहा होगा।

जातक कथाओं के अनुसार लोग कबूतर, हंस, क्रौंच, मयूर, काक तथा मुर्गे के मांस खाते थे।[५८] धर्मशास्त्र में उन पक्षियों के मांस का निषेध मिलता है जो मांसभोजी, ग्रामवासी तथा विष्ठा के ढेर को खरोचने वाले हैं।[५९] चातक, सुग्गे, सारस आदि भी अभक्ष्य माने गये हैं।[६०] लोगों में यह धारणा व्याप्त थी कि मांसाहारी भक्ष्य-पक्षी के गुण-दोषों को ग्रहण कर लेगा,[६१] अतः निष्ठुर पक्षी के मांस को अभक्ष्य माना गया। पालतू पक्षी के प्रति पोषक के हृदय में अपनत्व तथा संवेदना के भाव घर कर लेते हैं, अतः उनको मार कर खा जाना अनुचित माना गया। निषेध होने पर भी ग्रामवासी मुर्गे का मांस खाया करते थे। वस्तुतः ग्राम-कुक्कुट को उसकी गन्दी आदतों के कारण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अभक्ष्य माना गया था, अतः द्विजातियों में तो इस नियम का पालन होता था, पर निम्नवर्ग में ग्राम्य-कुक्कुट भक्ष्य बना रहा।

पालि-निकाय में उपलब्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि मछली का मांस समाज के सभी वर्ग में भक्ष्य माना जाता था। ब्राह्मण तथा अब्राह्मण सभी चाव से मछली खाते थे। राजकीय पाकशाला में विभिन्न जातियों की मछलियों का मांस बनता था।[६२] पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार अन्नप्राशन में शिशु को मछली खिलाना चाहिए।[६३] धर्मशास्त्र में भी मछली को भक्ष्य की श्रेणी में स्थान मिला, परन्तु सभी प्रकार की मछलियों के मांस खाने की अनुमति नहीं दी गयी। चेत, मकर, सर्पाकृति, विचित्राकृति तथा मृतमत्स्यभोजी मछलियों को आपस्तम्ब अभक्ष्य मानते हैं।[६४] मनु के अनुसार प्रायः सिंहाकृति तथा वल्कावृत मछलियों को ही खाना चाहिये, पर देवपितृयज्ञ में पाठिन और रोहित भी भक्ष्य हैं।[६५] बुद्धकालीन समाज में मत्स्य-भोजियों की संख्या न्यून प्रतीत नहीं होती है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मत्स्य-व्यवसाय में संलग्न लोगों की संख्या पर्याप्त रही होगी।

जातक कथाओं से यह भी विदित होता है कि गोध तथा सर्पों को भी मार कर लोग खा जाते[६६] थे, यद्यपि धर्मशास्त्र में ये भक्ष्य नहीं माने गये हैं। आज भी संसार के कतिपय देशों में सर्पमांस खाया जाता है। भारत में भी कुछ पिछड़ी जातियों में सर्प का मांस खाने की प्रथा है और प्राचीन काल में भी ऐसा ही होता होगा। गोध अभक्ष्य रहा है, पर जातकों में तपस्वियों को भी गोधमांस खाते हुए दिखलाया गया है। गोध-जातक (१३८) में वर्णन मिलता है कि ग्रामवासियों ने अनेक गोध पकड़कर मार डाला और उनका मांस पकाकर सिरका और नमक के साथ तापसों को परोसा तो वे बड़े प्रसन्न हुए। पुनः दूसरी कहानी में बतलाया गया है कि एक तापस को गोधमांस इतना भाया कि उसने स्वयं गोधवध कर मांस बनाने का निश्चय किया।[६७] इस तरह के वर्णन के मूल में ब्राह्मण-तापसों को लालची बतलाना तथा तपश्चर्या की निरर्थकता सिद्ध करना बौद्धों का लक्ष्य था, परन्तु कहीं-कहीं कुटुम्बिकों को भी गोधमांसभक्षी बतलाया गया है।[६८] इस विषय में इतना ही सत्य प्रतीत होता है कि समाज के निम्नवर्ग में गोधमांस खाया जाता था।

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि समाज का बहुसंख्यक समुदाय मांसाहारी था। जैन एवं बौद्ध-मत के प्रवर्तकों ने अहिंसाधर्म का उपदेश दिया, श्रमण एवं भिक्षु के लिए हिंसा और मांसाहार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का निषेध किया गया। ब्राह्मणों के एक वर्ग तथा ब्रह्मचारी के लिए भी मांसाहार वर्जित हुआ, परन्तु बौद्ध-मत में उपासकों के लिए मांसाहार का निषेध न होने के कारण बौद्ध मांसाहारी बने रहे।

सुरापान—मांसाहार के समान सुरापान की प्रथा भी मानव-समाज में अति प्राचीन काल में प्रचलित हुई। ऋग्वेदकालीन समाज में दो प्रकार के मादक पेय—सोम और सुरा बनाये जाते थे। सोम तो अर्पित किया जाता था देवताओं को और उसका पान करते थे पुरोहित, पर सुरा सर्व-साधारण का पेय थी। अथर्ववेद में स्वर्ग की कल्पना से प्रतीत होता है कि सुरापन को हेयदृष्टि से नहीं देखा जाता था। अथर्ववेद के अनुसार स्वर्ग एक ऐसा लोक है जहाँ घी और शहद की झीलें हैं और जहाँ प्रवाह है, सुरा-सरिताओं का।[६९] ब्राह्मणों में सुरा-निर्माण का वर्णन मिलता है।[७०] वहाँ इस बात का भी उल्लेख है कि सौत्रा-मणी-यज्ञ में अर्पित सुरा के उच्छिष्टांश के पान के लिए ब्राह्मण को नियुक्त किया जाता था।[७१] काठक-संहिता का कथन है कि ब्राह्मण को मद्यपान से दूर रहना चाहिये, पर क्षत्रिय को इसमें कोई दोष नहीं होता।[७२] बुद्ध-पूर्व काल में भी ब्राह्मण-समुदाय में सुरापान का विरोध आरम्भ हो गया था, पर ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए इसमें प्रतिबन्ध के प्रमाण नहीं मिलते।

पालि-पिटक, जैन-आगम तथा तत्कालीन धर्मशास्त्र में उपलब्ध प्रमाणों से विदित होता है कि समाज में मद्यपान का व्यापक प्रचार था। ब्राह्मण-तापस, पुरोहित, ब्रह्मचारी, श्रमण, भिक्षु आदि मद्यपान-विरत रहते, पर गृहस्थ-वर्ग के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं दीखता। मादक पेय के रूप में सुरा और मैरेय (मेरय) के उल्लेख मिलते हैं।[७३] मद्यपान को तत्कालीन समाज में बुरा नहीं माना जाता था, क्योंकि गृह्यसूत्रों के अनुसार श्राद्ध में पितरों के लिए सुरा का तर्पण किया जाता था।[७४] जातकों में वर्णन उपलब्ध होते हैं मधुशाला के, जहाँ पीने वालों की भीड़ लगी रहती और बेचने के लिए घड़ों में भर-भर कर रखी रहती—सुरा।[७५] मधुशाला के स्वामी को उनके अन्तेवासी कार्य-संचालन में सहयोग करते थे[७६] मधुशाला के स्वामी प्रायः धनी श्रेष्ठि हुआ करते थे जिनकी समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। सुरापान करने वालों में केवल साधारण लोगों के उदाहरण उपलब्ध नहीं होते हैं, परन्तु करोड़पति श्रेष्ठियों के भी।[७७] सुरापान के लिए लोग मधुशाला में सपत्नीक भी जाते थे।[७८] इन सबसे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में सुरापान का वही स्थान था जो आज पाश्चात्य देशों के समाज में उसका है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्धयुग के सामाजिक जीवन में कई ऐसे अवसर आते थे जब सुरापान खुलकर होता था। पालि तथा जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि लोग उत्सव के दिन जी भर कर खाते-पीते और आनन्दोल्लास मनाते जिसमें मद्यपान का प्रमुख स्थान होता।[७९] एक उत्सव का तो नाम ही सुरानक्षत्र (सुरानक्खत) पड़ गया था जिसकी विशेषताएँ थीं— अनियन्त्रित सुरापान, भोजन तथा नृत्य-संगीत।[८०] सुरानक्षत्र में सर्वसाधारण का तो कहना ही क्या, तापस लोग भी अपना नियंत्रण खोकर सुरापान कर बैठते थे।[८१] कुम्भ-जातक (५१२) में सुरापान की एक विचित्र प्रथा का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"एक राजा ने अपने राज-प्रासाद के प्रांगण में निर्मित मंडप में आसीन हो मद्यपान किया। उस समय वहाँ नगरवासी काफी संख्या में उपस्थित थे और उनलोगों ने भी राजा का साथ दिया।" इस कहानी में आगे चलकर सुरापान के दोष भी बतलाये गये हैं।

यद्यपि मद्यपान के व्यापक प्रचार के उल्लेख मिलते हैं, परन्तु बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण लेखकों ने समान रूप से पुरोहित वर्ग के लिए इस व्यसन का निषेध किया है। विनय के नियमानुसार श्रामणेर तथा भिक्षु के लिए सुरापान वर्जित था।[८२] केवल रुग्ण होने पर औषधि के रूप में सुरा का अंश लेना निर्दोष माना जाता था।[८३] महासुतसोम-जातक (५३७) के अनुसार ब्राह्मण मद्य-पान को दुष्कर्म मानते थे।[८४] सदाचारी व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह इस व्यसन से मुक्त हो। जैन-सूत्रों में ब्राह्मणों को उन उत्सव-स्थानों में जहाँ सुरापान होता, दूर रहने के आदेश दिये गये हैं।[८५]

धर्मशास्त्र में ब्राह्मण के लिए सुरापान का सर्वथा निषेध किया गया,[८६] पर क्षत्रिय-वैश्य के लिए नहीं। गौतम क्षत्रिय-वैश्य को पैष्टि नामक सुरा का पान करने की अनुमति देते हैं।[८७] वशिष्ठ के अनुसार जो ब्राह्मणी मद्यपान करेगी उसके लिए पतिलोक का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। यदि पत्नी सुरापान करेगी तो उसका पति भी दुष्कर्म का भागी हो जायगा, क्योंकि स्त्री पुरुष की अर्धांगिणी है।[८८] गौतम और मनु सुरापायी ब्राह्मण के लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान करते हैं।[८९] विष्णु के अनुसार दस प्रकार के मद्य केवल ब्राह्मणों के लिए वर्ज्य हैं, क्षत्रिय-वैश्य के लिए नहीं।[९०] इससे स्पष्ट है कि अब्राह्मण-समुदाय में सुरा-पान का प्रचलन था। वस्तुतः नशे की दशा में मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिससे वह अवांछित कर्म कर बैठता है। अतः आध्यात्मिक तथा बौद्धिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्मों में सलंग्न रहने वाले ब्राह्मण को इस व्यसन से दूर रखने की व्यवस्था दी गयी। मनु का विचार है कि यदि ब्राह्मण सुरापायी हो जायगा तो उससे अब्राह्मणोचित कर्म हो जाने की संभावना रहेगी।[९१] जैन-सूत्रों के अनुसार मद्यपान के फलस्वरूप लोग अनियंत्रित हो जाते थे।[९२] एक जातक में वर्णन मिलता है कि सुरानक्षत्र नामक उत्सव में लोग सुरापान कर मदोन्मत्त हो झगड़ने लगते, जिससे कितनों के सिर फूटते और कितनों के हाथ-पैर टूट जाते।[९३] संभवतः इसी कारण धर्मशास्त्र में सभी वर्ग के ब्रह्मचारी तथा विद्यार्थी के लिए मद्यपान का निषेध किया गया।[९४] जब मद्यपान के दुष्परिणाम पर समाज के सदाचारी वर्ग का ध्यान केन्द्रित हुआ और उन्होंने यह अनुभव किया कि समाज के हित में क्षत्रिय-वैश्य भी नशे के व्यसन से मुक्त रहें, तो द्विजाति-मात्र के लिए सुरापान को निषिद्ध घोषित किया गया,[९५] परन्तु ब्राह्मणेतर वर्ग के गृहस्थ मद्यपान करते रहे।

वस्तुतः ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रन्थ तथा अन्य तापस और सभी वर्ण के ब्रह्मचारी मद्यपान से दूर रहे, फिर भी यह साधिकार नहीं कहा जा सकता कि शतप्रतिशत ब्राह्मण-समुदाय इस व्यसन से मुक्त था। जातकों के अनुसार ब्राह्मण भी उत्सवों में सुरापान कर लेते थे। बुद्ध-युग में व्यवसायों की संख्या में अतिशय वृद्धि हुई और ब्राह्मणों ने भी परिस्थितिवश कृषि, वाणिज्य तथा विभिन्न शिल्पों के क्षेत्र में प्रवेश किया। इस बात की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस श्रेणी के ब्राह्मण अवसर-विशेष पर मद्यपान न करते हों। मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को मद्यपा-पत्नी का परित्याग कर देना चाहिए। मनु की यह व्यवस्था इस बात का द्योतक है कि यदि आदर्श ब्राह्मण का विवाह ऐसे ब्राह्मण-कुल की कन्या से संपन्न हो जाय जहाँ मद्यपान का रिवाज है, तो उस अवस्था में उस ब्राह्मणकन्या को चाहिए कि वह अपनी पुरानी आदत को छोड़ दे। निषेधादेश के बावजूद अनेक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय मद्यपान के आदी रहे होंगे। धर्माचार्यों की ओर से उन्हें मद्यपान से विरत करने के प्रयास का श्रीगणेश हो जाने पर उसका शनैः-शनैः प्रभाव पड़ने लगा। सैनिक, सामन्त, रईश, श्रेष्ठि तथा जनसाधारण अवसर-विशेष पर मद्यपान किया करते थे। मद्यपान पर जो धार्मिक प्रतिबन्ध लगाये गये उनका पालन उत्सवों में नहीं हो पाता था जब गृहस्थजन उन्मुक्त सुरापान करते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

वस्त्राभूषण

वस्त्र-उद्योग—नगर-सभ्यता के उत्कर्ष के इस युग में नागरिकों के पहनने-ओढ़ने के शौक में पर्याप्त वृद्धि हुई जिससे एतद्विषयक व्यवसाय, जैसे—कताई, बुनाई, रंगाई, सिलाई इत्यादि को पनपने के काफी अवसर मिले। पालि-पिटक तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में इसके उल्लेख मिलते हैं कि कपास, रेशम, क्षौम, ऊन तथा सन के धागों से अनेक प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे।[1] बुनकर (पेसकार, तन्तुवाय),[2] कपड़े बुनने के उपकरण (तन्तभण्ड)[3] और बुनाई के स्थान (तन्तवितट्ठानम्)[4] के भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। कपड़े बुनने के उद्योग के पनपने के साथ-साथ सीने-पिरोने के व्यवसाय के चमकने के भी प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध-भिक्षु अपने चीवरों की सिलाई स्वयं करते थे। इसके लिए उन्हें सुई और कैंची रखनी पड़ती थी।[5] जातकों में सुई बनाने के वर्णन मिलते हैं।[6] चुल्लवग्ग में दर्जी द्वारा कपड़ों की सिलाई का काम करने तथा उसकी दूकान का वर्णन किया गया है।[7] महावग्ग में कपड़ा काटने, सीने और रफ्फू करने के शब्दों के उल्लेख किये गये हैं।[8] कौटिल्य ने इस बात का उल्लेख किया है कि तत्कालीन समाज में कुशल कारीगर सूत्र, वर्म, वस्त्र और रज्जू का निर्माण करते थे।[9] अतः इन प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में सिले कपड़े पहनने का प्रचलन अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है।

जिन नगरों में वस्त्रोद्योग के पनपने के साधन उपलब्ध थे, वे अब इस व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र बन गये। बौद्ध-ग्रंथों में बनारसी (वाराणसेय्यक) वस्त्रों की बड़ी प्रशंसा की गयी है।[10] काशिराज्य में बने कपड़े (काशीय, काशीकुत्तम) अत्यंत उत्कृष्ट माने जाते थे। वहाँ के उत्कृष्ट वस्त्रों में एक अड्ढकासिक नामक वस्त्र भी था जो संभवतः आधुनिक अद्धी के समान बारीक कपड़ा रहा होगा।[11] महापरिनिब्बाणसुत्त के टीकाकार के अनुसार भगवान् बुद्ध के शव को वाराणसी में बने ऐसे कपड़े से लपेटा गया था जो इतना महीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और गँठ कर बुना हुआ था कि उसमें तेल भी प्रवेश नहीं कर सकता था।[१२] बनारसी वस्त्र के विषय में यह भी कहा गया है कि वह हर तरफ से नीली झलक मारता था और इसके साथ ही वह लाल, पीला तथा सफेद भी हो जाता था।[१३] वाराणसी में सूती वस्त्र के अतिरिक्त रेशमी, क्षौम और ऊनी वस्त्र भी बनते थे।[१४] इस नगर में वस्त्रोद्योग के पनपने में यहाँ का प्राकृतिक वातावरण प्रमुख सहायक था, परन्तु इस उद्योग में संलग्न स्थानीय कारीगरों की कार्य-कुशलता की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। काशिराज्य में कपास की अच्छी खेती होती थी, वहाँ की कत्तिनें और बुनकर अपनी कला में पटु होते थे और वहाँ का नरम पानी धुलाई के लिए अनुकूल पड़ता था।

आज की तरह प्राचीन भारत के बाजार में भी देश के पश्चिमोत्तर भाग में बने ऊनी वस्त्रों की धाक थी। उड्डीयान (कश्मीर) तथा गांधार के रक्त-कंबल की प्रशंसा मिलती है।[१५] शिवि-राज्य के ऊनी शाल (सीवेय्यक दुस्स)[१६] की भी प्रसिद्धि कम नहीं थी। उस राज्य में बने एक वस्त्र का, जो संभवतः दुशाला रहा होगा, मूल्य शिवि-जातक में एक लाख कार्षापण आँका गया है, जिससे प्रतीत होता है कि शिवि देश के दुशाले काफी महँगे पड़ते थे। पठान-कोट के क्षेत्र में बने कोटुंबर नामक ऊनी वस्त्र की गणना भी उत्कृष्ट कपड़ों में की जाती थी।[१७] पश्मीना (रांकवः) का उल्लेख अर्थशास्त्र[१८] में किया गया है, और संभवतः मौर्यकाल से पूर्व भी यह वस्त्र बनता था। क्षौम के वस्त्र भी बुने जाते थे जो काफी महीन और सुन्दर होते थे। क्षौम अलसी (अतसी) की छाल के रेशों से बनता था।[१९] सन के धागों से भी कपड़ा बुना जाता था जो शाण कहलाता था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि बुद्धकालीन समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के धागों से वस्त्र बनते थे और कपड़ों की सिलाई भी होती थी। पालि-पिटक में स्त्री-पुरुष, राजा-रानी, धनी-मानी नागरिक, साधारण गृहस्थ, ब्राह्मण-श्रमण, भिक्षु-भिक्षुणियाँ आदि के वस्त्राभूषणों के वर्णन मिलते हैं। सूत्र-ग्रंन्थों, पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस विषय की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है, परन्तु तत्कालीन समाज में प्रचलित पहनावे के वास्तविक नमूनों के लिए पारखम तथा बड़ोदा से प्राप्त यक्ष-मूर्तियों, दीदारगंज और वेसनगर की यक्षिणी मूर्तियों, साँची तथा भारहुत की वेदिकाओं एवं तोरणों में उत्कीर्ण चित्रों तथा मिट्टी की मूर्तियों को देखना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनसे यह तथ्य भी स्पष्ट होगा कि इस विशाल देश के जन-जीवन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में जो विविधता है वह न्यूनाधिक रूप में यहाँ की वेश-भूषा में भी दृष्टिगत होती है।

विभिन्न परिधान—वस्त्र के विषय में उपलब्ध प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युग के समाज में कपास, रेशम, क्षौम तथा ऊन के विभिन्न आकार-प्रकार के रंग-बिरंगे परिधान धारण करने का काफी प्रचलन हुआ। अब कपड़ों पर कशीदाकारी भी होने लगी और लोग सोने-चाँदी के रत्न-जड़ित आभूषण भी पहनने लगे। महापरिनिर्वाणसूत्र में वर्णन मिलता है कि जब भगवान् बुद्ध वैशाली गये, तो रंग-बिरंगी पोशाक पहन कर वहाँ के नागरिकों ने उनका स्वागत किया। वैशाली-वासियों ने अपने शरीर के वर्णों से मेल खाते हुए वस्त्राभूषण धारण कर रखा था। साँवले रंग वालों ने गहरे नीले रंग का वस्त्राभूषण धारण किया था और गौर वर्ण के लोगों ने हल्के रंग के कपड़े और गहने पहने थे। रंगों के मेल पर ध्यान देने में स्त्रियाँ अधिक सजग रहती थीं, इसके भी उल्लेख मिलते हैं। सिरिकालकण्णि-जातक में वर्णन मिलता है कि कालकण्णि नामक युवती ने एक श्रेष्ठि से मिलते समय नीले रंग के वस्त्र, नील-बिलेपन और नील-मणियों से अपने शरीर का शृंगार किया था। मेगास्थनीज ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि तत्कालीन भारतीय नागरिक वस्त्राभूषण के मामले में बड़े शौकीन होते थे। उनके वस्त्र उत्कृष्ट कोटि के मलमल के बनाये जाते, जिनमें जरी के काम तथा बहुमूल्य पत्थर जड़े होते। उसने यह भी लिखा है कि मौर्यकालीन दार्शनिक अनेक तरह के रंग-बिरंगे चमकीले कपड़े पहना करते थे। वे मलमल के बने वस्त्र पहनते, पगड़ी बाँधते और इत्र लगाते।[२०]

गृहस्थों के परिधान में साधारणतया दो वस्त्र होते थे—धोती (अन्तरवासक) और दुपट्टा (उत्तरीय, उत्तरासंग)। उत्खनन में प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों से प्रतीत होता है कि कुछ लोग तो अधोवस्त्र-मात्र धारण करते थे और कुछ लोग सम्पूर्ण शरीर को वस्त्र से ढँकते थे, अर्थात् ऊपर से उत्तरीय ओढ़ते थे। यदि शहरी इलाके को छोड़ दिया जाय, तो आज भी अधिकांश भारतवासी मात्र धोती पहने हुए और कंधे पर अंगौछा या उत्तरीय रखे दीख पड़ेंगे। एरियन ने लिखा है कि अधोवस्त्र घुटने तक पहना जाता था।[२१] साँची तथा भारहुत के उत्कीर्ण चित्रों में भी साधारण गृहस्थ अधोवस्त्र पहने हुए तथा उत्तरीय ओढ़े दीखते हैं। सेट्ठि तथा अन्य उच्च-वर्ग के लोग पगड़ी बाँधे हुए हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्त्रियों तथा पुरुषों के कंचुक पहनने के भी उल्लेख मिलते हैं।[२२] पुरुष का कंचुक कुरता जैसा कोई वस्त्र रहा होगा।[२३] स्त्रियों के कंचुक का आकार चोली-सदृश रहा होगा। स्त्रियाँ प्रायः साड़ी (साटक) या घाघरा, उत्तरीय (उत्तरा-संग) तथा चोली पहना करती थीं।[२४] रानियाँ जो साड़ी पहना करती थीं वह सामान्यतया सट्टसाटक कहलाता था।[२५]

यद्यपि जनता की वेश-भूषा सादी थी, परन्तु लोग अपने सादे कपड़े को बड़े आकर्षक ढंग से पहना करते थे। दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति की साड़ी एड़ियों तक पहुँचती है, साड़ी में पटका (फासुका) खोंसा हुआ है और एक बटा हुआ दुपट्टा लटक रहा है। भारहुत के उत्कीर्ण चित्रों में स्त्रियाँ घुटने तक साड़ी पहने दीखती हैं जो भारी करधनी और कमरबंद से बंधी है और जिसके फुंदनेदार छोर एक ओर लटकते हैं। कमरबंद से लहरियादार पटके भी संलग्न दिखलाये गये हैं। शरीर का ऊपरी भाग विवृत है। कहीं-कहीं मलमली चादर के चिन्ह भी दीखते हैं।

पुरुष भी अपने कपड़े बड़े आकर्षक ढंग से पहना करते थे। अधोवस्त्र अर्थात् धोती अनेक प्रकार से पहनी जाती थी जिसके लिए विभिन्न नामों के उल्लेख मिलते हैं, जैसे—हस्तिशौंडिक, मत्स्यवालक, चतुष्कर्णक, तालवृन्तक तथा शतवल्लिक।[२६] धोती या साड़ी पहनने में लाँग पीछे बाँध ली जाती थी। कायबंध बाँधने की भी अनेक विधियाँ प्रचलित थीं और आकार के अनुसार इसके अनेक नाम पड़े। कलाबुक नाम का कमरबंद बटी रस्सियों से बनाया जाता था। डेड्डुभक कमरबंद का आकार जल में रहने वाले डेढ़े सर्प के सदृश रहता था। मुरज ढोल के आकार का होता था और मद्दवीन में एक आभूषण लटकता रहता था।[२७] कलात्मक कमरबन्द और पटके बाँधने का प्रचलन पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में अधिक था। पटके बाँस के रेशे, चर्मपट्ट, ऊर्ण-पट्ट, गुथे हुए ऊन, बटे हुए ऊन, बटे हुए चोलवस्त्र, गुँथे हुए चोलवस्त्र और गुँथे हुए सूती वस्त्र के बनाये जाते थे।[२८]

उत्तरासंग (उत्तरीय, दुपट्टा) ओढ़ने की अनेक विधियों के नमूने प्रस्तर-मूर्तियों में देखने को मिलते हैं। एक विधि तो यह थी कि उत्तरीय बायें कंधे के ऊपर से आकर वक्षस्थल के ऊपर से होता हुआ नीचे ले जाया जाता और नाभी के नीचे गाँठ लगाकर बाँध दिया जाता।[२९] कभी-कभी उत्तरीय को छाती के निम्न-भाग की बायीं ओर फेंककर ओढ़ लिया जाता था जिससे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका एक छोर बायीं ओर लटकता रहता।[३०] साँची तथा भारहुत के उत्कीर्ण चित्रों में उत्तरीय ओढ़ने की जो सामान्य विधि दीखती है उसमें इसका एक छोर बायें कंधे के ऊपर से पृष्ठभाग में डाल दिया जाता था और दूसरा दाहिनी ओर कमर से थोड़ा ऊपर करके छाती पर इस प्रकार रखा जाता था कि इसके दोनों छोर बायीं ओर, एक तो सामने और दूसरा पीछे लटकता रहता।[३१]

भारतीय परिधान में पगड़ी (उष्णीष) बाँधने की प्रथा काफी प्राचीन है और बुधकाल में भी इसका समाज के उच्चवर्ग में विशेष प्रचलन था। उन दिनों लोग बड़े ही आकर्षक आकृतियों की पगड़ियाँ बाँधते थे। भारहुत के उत्कीर्ण चित्रों में पगड़ियों की बहार देखने को मिलती है। लोग लट्टूदार, झालरदार, चूनरदार, कामदार, पान की आकृति के आभूषणयुक्त, पुष्पालंकार-युक्त इत्यादि अनेक प्रकार की पगड़ियाँ बाँधे हुए दिखलाये गये हैं।[३२] उन दिनों सामान्यतया दो प्रकार की पगड़ियाँ बाँधने की विधि प्रचलित थी। पहले प्रकार में सिर पर केश का जूड़ा बाँध दिया जाता था, तत्पश्चात् पगड़ी के दो फेंटे मस्तक के ठीक मध्य से ले जाकर जूड़े को ढँक दिया जाता और उसके दोनों छोर खोंस दिये जाते। दूसरी थी भारी पगड़ी, जिसमें सारा सिर ढँक दिया जाता।[३३]

मनुष्य के पैरों की रक्षा के लिए उसके पहनावे में जूतों, चप्पलों तथा पादुकाओं का विशेष महत्त्व रहा है। भगवान् बुद्ध ने जब एक भिक्षु के क्षत-विक्षत तथा रक्त-रंजित तलवे को देखा, तो द्रवित होकर उन्होंने भिक्षुओं को जूते-चप्पल पहनने की अनुमति प्रदान कर दी, परन्तु रंग-बिरंगे नहीं, सादे। कालान्तर में भिक्षु भी रंग-बिरंगे जूते पहनने लगे थे, परन्तु अनेक रंगों के तथा एकाधिक तल्ले वाले जूते पहनना गृहस्थ-जीवन का अंग माना जाता था। जूते भिन्न-भिन्न रंगों के तथा अनेक तल्लों के बनते थे। नील, लोहित, मंजीठ, कृष्ण, नारंगी तथा पीले रंग के चमड़ों से जूते बनाये जाने के तथा इनमें रंग-बिरंगे किनारे लगाने के उल्लेख मिलते हैं।[३४] एकतल्ले, दोतल्ले, तीनतल्ले तथा चारतल्ले जूते बनते थे।[३५] सिंह, व्याघ्र, मृग, चीते, उदबिलाव, बिल्ली, गिलहरी और उल्लू के चमड़ों से भी जूते बनाये जाते थे।[३६] आकार के अनुसार महावग्ग में जूतों के लिए पुटबद्धक (घुटने तक चढ़े हुए), पालि-गुंठिम (केवल पैर ढँकने वाले), खलबद्धक (संभवतः आधुनिक पेशावरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चप्पल सदृश), मेण्डविषाणबद्धिक (मेढ़ के सींगवाले), अजविषाणबद्धिक (बकरे के सींगवाले), वृश्चिकालिक (नोक पर बिच्छू की पूँछ लगी हुई), मोरपिछ-परिसिब्बित (तलवे में या बंदों में मोरपंख सिला हुआ) तूलपुण्णिक (रूई भरा हुआ) तथा तित्तिरपट्टिक (तितर-पंख सदृश) नाम मिलते हैं।[३७]

लोग लकड़ी की पादुकाएँ और बाँस तथा तालपत्र की बनी चप्पलें भी पहना करते थे।[३८] शौकीन लोग अपनी पादुकाओं को सोने, चाँदी, स्फटिक, वैडूर्य, कांच, काँसे, रांगे, तथा ताँबे के अलंकारों से अलंकृत करते थे।[३९]

आभूषण— बौद्ध-पिटक तथा जैन एवं ब्राह्मण सूत्र-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज के स्त्री-पुरुष आभूषण-प्रिय थे। वे अपने शरीरावयवों को कलात्मक आभूषणों से अलंकृत करते थे। दक्ष स्वर्णकार और मणिकार स्वर्ण और रजत के मुक्ता-मणि-जड़ित अलंकारों का निर्माण कर कलाप्रिय नागरिकों के शौक की पूर्ति करते थे। वे अँगूठी (पट्टिका, मुद्रिका), कुंडल (वल्लिका), गले का हार (कायूर या ग्रैवयक), सुवर्णमाला या कंचनमाला, कर्णफूल (पामङ्ग), कंगण (ओवत्तिका), चूड़ी (हत्थरण), मेखला इत्यादि अनेक प्रकार के आभूषण बनाते थे जिनका तत्कालीन समाज में प्रचलन था।[४०] सोने तथा चाँदी के अतिरिक्त मुक्ता, मणि, वैडूर्य, भद्रक, शंख, शिला, प्रवाल, लोहितंक तथा मसारगल्ल का भी उपयोग आभूषण-निर्माण के लिए किया जाता था।[४१] मणियों को प्रायः सोने-चाँदी के गहनों में जड़ा जाता था।

इस युग के नागरिक पुष्पमालाओं, गुलदस्तों, सुगंधित आलेपनों तथा इत्र के प्रेमी थे। मालाकार भाँति-भाँति के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों से भिन्न-भिन्न आकार की मनोहर पुष्पमालाएँ गूँथकर शौकीन नागरिकों को बेचा करते थे। पालि-निकाय में दक्ष-मालाकारों द्वारा पुष्पहार गूँथने के उल्लेख मिलते हैं।[४२] इत्र बेचने वालों (गंधक) तथा इत्र की दूकान के उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं जिनसे तत्कालीन समाज में इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है।[४३] महावग्ग में चंदन, तगर, कृष्णानुसारि, कालिय तथा भद्रमुक्तक से आलेपनों को सुगंधित करने का उल्लेख किया गया है।[४४] निकायों में मूलगंध, पुष्पगंध, फलगंध, पत्रगंध तथा रसगंध के उल्लेख मिलते हैं।[४४] चन्दन, कालानुसारि तथा वस्सिका से बने सुगंध सर्वोत्तम माने जाते थे।[४५] इत्र बनाने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में दो तरह के चन्दन काम में लाये जाते थे, अर्थात्—हरिचंदन तथा लोहित-चंदन।[४६] कासिकचंदन[४७] शब्द के उल्लेख से प्रतीत होता है कि काशी इत्र-निर्माण में अग्रणी था और वहाँ बने इत्र उत्कृष्ट माने जाते थे। जिन पुष्पों से इत्र तथा आलेपन बनाये जाते थे उनमें वस्सिका, मल्लिका, कमल तथा प्रियंगु प्रमुख थे।[४८] अगर और तगर के भी सुगंध बनते थे।[४९] सब्बसंहारक नामक इत्र अनेक सुगंधों के मिश्रण से बनता होगा।[५०]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

८

लोक-महोत्सव

सामाजिक जीवन में उत्सवों की व्यापकता एवं स्वरूप— अति प्राचीन युग से मनुष्य के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में विभिन्न उत्सवों का बड़ा महत्त्व रहा है। भारतीय साहित्य में वैदिक युग से ही उत्सवों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। वैदिक-वाङ्मय में उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री से विदित होता है कि भारतीय आर्य बड़े उत्सव-प्रेमी थे और वे समय-समय पर आनन्द मनाने के लिए उत्सव-समारोहों का आयोजन किया करते थे। उत्तरकालीन साहित्य में भी उत्सव मनाने के वर्णन का अभाव नहीं दीखता। उत्सव के आयोजन में जनता के साथ राज्य के सक्रिय सहयोग के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। रामायण के अनुसार उत्सव तथा समाज राज्य की लोकप्रियता का संवर्द्धन करते हैं। कौटिल्य का कथन है कि राज्य को जनता के मनोरंजनार्थ यात्रा, समाज, उत्सव और प्रवहण का आयोजन करना चाहिए।[1] अशोक के अभिलेख समाज नामक उत्सव का उल्लेख करते हैं। समाज से उन दिनों धार्मिक अथवा सामाजिक समारोहों पर एकत्र होने वाले जनसमूह का बोध होता है। कलिंगाधिपति खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने सफल विजय अभियान के उपलक्ष्य में कलिंगवासियों के रंजनार्थ एक महोत्सव का आयोजन किया जिसमें मल्लयुद्ध, वादन, गायन तथा नृत्यादि के प्रदर्शन किये गये।

बौद्ध-पिटकों तथा जैन-सूत्रों से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में बड़ी धूम-धाम से धार्मिक एवं लौकिक उत्सव मनाये जाते थे। जैन-सूत्रों[2] से ज्ञात होता है कि उन दिनों लोग विभिन्न देवताओं, जैसे—इन्द्र, स्कन्द, रूद्र, मुकुन्द आदि की पूजा तथा यक्ष, नाग, स्तूप, मन्दिर, वृक्ष, नदी, सरोवर इत्यादि की पूजा के लिए समय-समय पर समारोहों का आयोजन करते थे। इन उत्सवों की प्रमुख विशेषताएँ थीं—विशिष्ट भोजन, नृत्य, संगीत आदि। पालि-पिटक में उत्सव मनाने के लिए एकत्र जनसमूह के लिए समज्ज शब्द प्रयुक्त हुआ है जो पाणिनि[3] के समज्या का रूपान्तर है। समज्या का अर्थ है—'वह स्थान जहाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोग एकत्र होते हैं।[३] चुल्लवग्ग में गिरज्जसमज्ज का उल्लेख आया है जो राजगृह में किसी पहाड़ी पर मनाया गया उत्सव था।[४] यह संभवतः धार्मिक उत्सव था तभी तो उसे पहाड़ी पर मनाया गया। हो सकता है जनधारणा के अनुसार उस पहाड़ी को किसी देवता का वासस्थान माना जाता होगा। इस उत्सव के वर्णन में यह भी कहा गया है कि राज्य के उच्च पदाधिकारियों को भी आमंत्रित कर उनके लिए विशेष आसन की व्यवस्था की गयी थी। सिगालोवाद-जातक के अनुसार समज्ज में नृत्य, गायन, वादन, आख्यान, ऐन्द्रजालिक खेल, रस्सी पर चलने आदि के प्रदर्शन किये जाते थे। जातकों में समज्ज का प्रयोग किया गया है मनोरंजनार्थ एकत्र जनसमूह तथा मेले के अर्थ में। समज्ज के आयोजन प्रायः मांगलिक अवसर पर हुआ करते थे। जातक कथाओं में उत्सव को नक्खत भी कहा गया है जिससे प्रतीत होता है कि समज्ज उस दिन मनाया जाता जो नक्षत्र-विचार से धार्मिक कृत्य के लिए शुभ होता। कभी-कभी समाज का आयोजन राजांगण में किया जाता था[५] और उस अवसर पर वहाँ मुख्य रूप से मल्लयुद्ध होता था।[६] धनुर्वेद, हस्ति-व्यायाम, घुड़दौड़, नाटक, संगीत प्रतियोगिताएँ आदि द्वारा जनता का मनोरंजन किया जाता था।[७] ऐसे उत्सव को वास्तव में लौकिक कहा जा सकता है और इनकी तुलना उस उत्सव से की जा सकती है जो चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा राजधानी में प्रति-वर्ष मनाया जाता था। उसमें भेड़, जंगली साँढ़, हाथी, गैंडे आदि की लड़ाइयाँ और रथ-दौड़ दिखलाये जाते थे। रथदौड़ में प्रयुक्त रथ विशेष प्रकार का होता था जिसमें दो बैलों के मध्य एक घोड़ा जोता जाता।[८]

पालि-निकाय से ज्ञात होता है कि उन दिनों मनाये जाने वाले महोत्सवों का स्वरूप कई दिनों तक चलने वाले मेलों जैसा हो गया था। इन मेलों में खेल-तमाशे देखने के लिए लोग बड़ी संख्या में जमा ह जाते थे। दीघ-निकाय के अनुसार दर्शकों को मनोरंजन के अनेक कार्यक्रमों को देखने का सौभाग्य प्राप्त होता था, जैसे—नृत्य, गीत, बाजा, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़ा पर तबला बजाना, समूहगान, लोहे की गोली का खेल, बांस का खेल, धोपन (उस समय का एक खेल जिसे चांडाल दिखाया करते थे), हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध, भेड़ों का युद्ध, मुर्गों की लड़ाई, लाठी के खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मार-पीट के खेल, सेना और लड़ाई की चालें इत्यादि।[९] मेले में नट और ऐंद्रजालिक के नृत्य तथा खेल बड़े ही मनोरंजक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुआ करते थे—लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।[१०] नटों के खेल साहसिक तथा खतरनाक हुआ करते थे—वे रज्जु-नृत्य करते और भालों के ऊपर छलाँग मारते जिसे देखकर दर्शकों को रोमांच हो जाता।[११] कभी-कभी तो भाले पर गिर जाने से नट की मृत्यु ही हो जाती। सँपेरों के खेल भी दर्शनीय होते थे।[१२] शंख फूँकनेवाले (शंख-धमक)[१३] तथा भेरीवादक[१४] वातावरण को संगीत-मय बना देते। लोग मस्ती में आ जाते और माला, इत्र, विलेपन का खुल-कर उपयोग करते, मद्य, मांस और उछली का जी भर सेवन करते।[१५] जैन-सूत्रों के अनुसार उत्सवों में प्रमुखता रहती थी—भोजन, मद्यपान और विला-सिता के कर्मों की।[१६]

मेले प्रायः नगरों में लगते थे जिसे देखने के लिए निकटवर्ती ग्रामों के निवासी बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते। राजधानियों में उत्सव मनाने की घोषणा राजाज्ञा से भेरी-घोष द्वारा की जाती थी। नक्षत्र-भेरीघोष सुनते ही सभी नगरवासी आनन्द मनाने के लिए घर से निकल पड़ते।[१७] लोग अपने दैनिक व्यवसाय बन्द कर खाते, पीते और इष्ट-मित्रों को खिलाते-पिलाते।[१८] ब्राह्मणों का भोजन सत्कार मांस-भात से होता और इष्ट-देवों की पूजा की जाती।[१९] जैन-सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण, श्रमण, अतिथि, निर्धन तथा भिखमंगों को भोजन कराया जाता था।[२०] राजधानी में पर्व और मेले के अवसर पर बड़ी धूमधाम देखने को मिलती। नगरवासी अपने नगर को यथासंभव अलंकृत करने का प्रयास करते। उत्सव की शोभावृद्धि में राजा भी अपना सक्रिय सह-योग प्रदान करते थे। दुम्मेध-जातक में राजगृह के एक उत्सव का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"एक उत्सव के दिन संपूर्ण राजगृह नगर को देवनगर की भाँति सजाया गया। मगधराज ने एक पूर्ण अलंकृत मंगलहस्ति पर आरूढ़ हो अपने अनुचरों के साथ सम्पूर्ण नगर की प्रदक्षिणा की।"

जातकों के अनुसार मेले प्रायः एक सप्ताह तक चलते थे।[२१] कई मेले तो मास भर लगे रहते और उन दिनों लोग मौज में रहते।[२२]

कौमुदी-महोत्सव—अधिकांश हिन्दू-पर्व ऋतु से सम्बद्ध हैं— वसन्त, वर्षा और शीत से तीन प्रमुख पर्वों का उद्भव हुआ जिन्हें चातुर्मास्य कहा गया। वसन्त, वर्षा और शरद ऋतुओं का आगमन कृषि-प्रधान भारतीय आर्य-जाति के लिए नयी आशा, उमंग एवं सक्रियता का प्रतीक बन गया। उन्होंने आरम्भ में यज्ञ-समारोह द्वारा इनका समुचित स्वागत सत्कार किया जो कालान्तर में प्रसिद्ध पर्व बन गये। चातुर्मास्य समारोह फाल्गुन, आषाढ़ तथा कार्तिक मास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में पूर्णिमा के दिन मनाये जाते थे। वर्षा का अवसान और शरद के आगमन का काल भारतीय कृषक-समुदाय के लिए आनन्दायक रहा है। जब कृषक एक ओर पकते धान के खेतों में पूर्ण अन्नपूर्णा धरती का दर्शन करता है, और दूसरी ओर निरभ्र आकाश पर दृष्टिपात करता है, तो उसका हृदय पुलकित हो उठता है। अतएव कार्तिक-पूर्णिमा के दिन जो चातुर्मास्य मनाया जाता था वह अत्यन्त उल्लासमय हो गया। पालि-निकाय में इस पर्व की संज्ञा मिलती है—कौमुदी अथवा कत्तिका। शरद-पूर्णिमा की चाँदनी किसके हृदय में आनन्द का संचार नहीं करती? दीर्घ-निकाय से ज्ञात होता है कि मगधराज अजातशत्रु शरद-पूर्णिमा की शोभा का अवलोकन कर उमंग का अनुभव करते थे। कौमुदी की रात्रि को वे राजामात्यों से घिरे, उत्तम प्रासाद के ऊपर बैठे थे, तब उन्होंने कहा 'अहा! कैसी रमणीय चाँदनी रात है! कैसी प्रासादिका चाँदनी रात है।'[२३]

जातकों में कौमुदी अथवा कत्तिका का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है जिससे प्रतीत होता है कि यह पर्व उन दिनों सर्वाधिक लोकप्रिय महोत्सव के रूप में मनाया जाता था। यही एक त्यौहार था जिसे धनी-निर्धन, वृद्ध-युवा, स्त्री-पुरुष, सभी समान उमंग के साथ मानते थे। राजगृह,[२४] वाराणसी[२५] तथा श्रावस्ती[२६] आदि प्रसिद्ध नगरों में कौमुदी-महोत्सव के बड़े शानदार ढंग से मनाने के वर्णन जातकों में किये गये हैं। उम्मदन्ती-जातक (५२७) के अनुसार कत्तिका के दिन नगर-परिक्रमा के लिए राजा की शानदार सवारी निकला करती थी। वे सुन्दर अश्व-जुते एक भव्य रथ में बैठते, पीछे-पीछे सारे दरबारी चला करते, प्रासादों के झरोखे से सुन्दरियाँ राजा पर पुष्प-वर्षा करतीं। इच्छा होने पर वे प्रमुख राज-सभासदों के प्रासादों के सामने थोड़ी देर के लिए रुक जाते। उस दिन नगर आकर्षक ढंग से सजाया जाता और रात्रि में सम्पूर्ण नगर दीपों से जगमगाने लगता। संजीव-जातक (१५०) में वर्णन मिलता है कि अजातशत्रु के राज्यकाल में कत्तिका के अवसर पर राजगृह नगर को देवनगर के समान अलंकृत कर दिया गया। उत्सव के दिन सकल नगरवासी छुट्टी मनाते और रात में नगर-शोभा के अवलोकनार्थ तथा अन्य मनोरंजन के लिए निकलते।[२७] स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण धारण करतीं। निम्न-वर्ग की स्त्रियाँ अपने प्रेमियों के गले में बाहें डाल कर घूमना पसन्द करतीं,[२८] जैसा कि प्रायः आदि-वास क्षेत्रों में देखा जाता है।

कौमुदी-महोत्सव का रूप भी मेला जैसा हो गया था और इसे लोग सात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिनों तक आनन्दोल्लास के साथ मनाया करते ।[२९] इस महोत्सव की सूचना भी नगरवासियों को भेरी-घोष द्वारा दे दी जाती थी ।[३०] यह प्रसिद्ध पर्व अभी तक हिन्दू-समाज में प्रचलित है, यद्यपि इसका रूपान्तर हो गया है । हिन्दू-धर्म में कार्त्तिक-पूर्णिमा का ही नहीं, सम्पूर्ण कार्त्तिक मास का माहात्म्य है । कहीं शरद-पूर्णिमा को सारी रात जागरण की प्रथा है, तो कहीं पतितपावनी भागीरथी के जल में अवगाहन द्वारा मन-शरीर को पवित्र करने का महत्त्व है । सोनपुर का प्रसिद्ध मेला कार्त्तिक मास में लगता है और पूर्णिमा को हरिहर क्षेत्र में स्नान का महत्त्व है, जिससे प्रतीत होता है कि यह मेला भी कौमुदी-महोत्सव का रूपान्तर है ।

साल-भञ्जिका—पालि-निकाय के अनुसार लोग निश्चित तिथि को शालवन में जाते और शाल-पुष्प तोड़कर तथा अन्य क्रीड़ाओं द्वारा खुशियाँ मनाते । इस उत्सव का नाम पड़ा— शालभञ्जिका, जिसका शाब्दिक अर्थ है शाल-पुष्पों को तोड़ना । पाणिनि के अनुसार यह उत्सव प्राच्य-भारत में प्रचलित हुआ ।[३१] डॉ० वॉगेल (Vogel) के मत में मगध तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र में ही शाल-भञ्जिकोत्सव विशेष रूप में मनाया जाता था ।[३२] जातक निदान-कथा में शाल-भञ्जिका का इस प्रकार वर्णन किया गया है— 'कपिलवस्तु और देवदह के मध्य एक पवित्र शालवन है जिसपर दोनों नगरों का अधिकार है । उसे लुम्बिनीवन कहते हैं । उस समय सभी शाल-वृक्ष नीचे से ऊपर तक पूर्ण-विकसित पुष्पों से लदे थे । शाल-वृक्ष की शाखाओं में भ्रमर गुंजन कर रहे थे, विभिन्न प्रकार के पक्षी मधुर कूजन करते हुए फुदक रहे थे । सम्पूर्ण वन ऐसा लगता था मानों वह चित्र-विचित्र रंगीन लताओं का वन हो अथवा किसी तेजस्वी राजा का नृत्य-मण्डप । वन की ऐसी शोभा का अवलोकन कर रानी (मायादेवी) के हृदय में केलि करने की इच्छा बलवती हो गयी तो उन्होंने अपनी परिचारिकाओं के झुण्ड के साथ वन में प्रवेश किया ।'[३३] अवदान-शतक में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है— 'एक समय में भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में निवास कर रहे थे । उस समय श्रावस्ती में शालभञ्जिका-समारोह मनाया जा रहा था—सैकड़ों हजार की भीड़ इकट्ठी हो गयी और शाल-पुष्पों का ढेर लग गया, लोग आनन्द मनाने के लिए क्रीड़ा करने लगे और इधर-उधर घूमने लगे ।'[३४]

सुरानक्षत्र—अनेक जातक कथाओं में सुरानक्षत्र नाम के एक उत्सव का वर्णन मिलता है । सुरानक्षत्र के दिन स्त्री-पुरुष सभी जी भर कर मद्यपान करते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और नाचते-गाते । अनियन्त्रित मद्यपान के कारण ही इस उत्सव का ऐसा नाम पड़ा ।[३५] एक जातक में सुरानक्षत्र का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है—'एक बार राजगृह में सुरानक्षत्र मनाया गया । उस दिन सभी ने खूब मद्यपान किया, मांस खाया, लोगों ने उत्तम वस्त्र धारण किया और नृत्य में भाग लिया । बाजार में मद्य-मांस की प्रर्याप्त बिक्री हुई ।'[३६] यों तो लोकोत्सवों में, मद्य-मांस का सेवन करना तथा नाचना, गाना और बाजा बजाना सामान्य बातें थीं, परन्तु सुरानक्षत्र तो सुरापान के सम्मान के प्रतीक-रूप में प्रचलित हुआ, जिससे उस दिन अधिकांश लोग यथाशक्ति मद्यपान करते थे । जनता तो मद्यपान करती ही थी, राजे, महाराजे और तापस भी पीछे नहीं रहते थे । उल्लेख मिलता है कि एक बार अनेक तापस वाराणसी के राजोद्यान में ठहरे । उस दिन नगर में सुरा-नक्षत्र का उत्सव मनाया जा रहा था अतः काशिराज ने उनके लिए उत्तम मद्य भेजा । तपस्वियों ने मद्यपान किया और वे मदोन्मत्त होकर नाचना-गाना आरम्भ कर दिया ।[३७] इस प्रकार के वर्णन अतिरंजित प्रतीत होते हैं क्योंकि सच्चे तापस के लिए मद्यपान सर्वथा निषिद्ध माना गया है । हो सकता है यदा-कदा उत्सवों में कोई तपस्वी पथभ्रष्ट हो जाता होगा, लेकिन इस कारण यह निर्णय कर लेना कि तापस भी सुरानक्षत्र के दिन स्वच्छन्द मद्यपान करते थे, अनुचित होगा । सुरानक्षत्र में अनियन्त्रित मद्यपान के कारण अप्रिय घटनाएँ भी हो जाती थीं—नशे की हालत में लोग झगड़ना शुरू कर देते थे जिससे लोगों के हाथ-पैर टूटते और सिर फट जाते ।[३८]

हस्तिमंगल—हस्तिमंगल (हत्थिमंगल) समारोह राजप्रासाद के प्रांगण में मनाया जाता था,[३९] अतः यह राजवैभव का द्योतक था । इससे प्रमुखतः समाज के अभिजातवर्ग का मनोविनोद होता । यह समारोह वस्तुतः हाथियों की शोभा-यात्रा अथवा उनका व्यायाम था । सुजीम-जातक (१६३) में हस्तिमंगल का का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार इसे प्रतिवर्ष राजांगण में मनाया जाता था । एक दिन ब्राह्मणों ने राजा के निकट जाकर निवेदन किया—'हे महाराज, हस्तिमंगल का शुभ दिन सन्निकट है अतः उत्सव का आयोजन होना चाहिए ।' तदनुसार हस्तिमंगल का आयोजन किया गया । सम्पूर्ण राज-प्रांगण अलंकृत किया गया और एक सौ हाथियों को स्वर्णपरिष्टोम, स्वर्णध्वज एवं स्वर्णजाल से सज्जित कर पंक्तिबद्ध खड़ा किया गया । सामरोह का संचालन किया एक वेदज्ञ एवं हस्तसूत्रज्ञ ब्राह्मण ने । परम्परानुसार उपयुक्त ब्राह्मण की अनुपस्थिति में समारोह स्थगित कर दिया जाता था ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर्षणोत्सव—काम-जातक (४६७) में कर्षणोत्सव का उल्लेख मिलता है। पालि-निकाय के अनुसार यह उत्सव प्रतिवर्ष सोत्साह मनाया जाता था। इस समारोह की प्रमुख बात यह थी कि उस दिन हल जोतने का काम राजा करता।

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है जहाँ अन्नपूर्णा धरतीमाता की पूजा अति प्राचीन काल से होती रही है। धरतीमाता की छाती पर हल चलाकर ही मनुष्य अन्न उपजाता है, अतः इस कार्य को पवित्र माना गया। वर्षाकाल के प्रारम्भ में पृथ्वी की विशेष पूजा करके हल चलाने का आरम्भ करना श्रेयस्कर माना जाता था। जब धरती माता प्रसन्न रहेंगी तभी तो वे आशानुकूल अन्न देंगी ! प्रथम हल भी साधारण कृषक नहीं चलाता, इस पुण्यकार्य को करता, राजा। जब मिथिला में दुर्भिक्ष पड़ा तो राजा जनक ने स्वर्ण-निर्मित हल से कर्षण-कार्य का आरम्भ किया। सांख्यायन-गृह्यसूत्र के अनुसार कर्षण का प्रारम्भ रोहिणी नक्षत्र में होना चाहिए।[४०] हल चलाने के पूर्व खेत के पूर्वी छोर पर द्यावापृथ्वी को बलि देनी चाहिए। पश्चात् ब्राह्मण वैदिक मंत्रोच्चार के साथ हल का स्पर्श करे, तदनन्तर विभिन्न दिशाओं की पूजा की जाय। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार पृथ्वी सीता है, इन्द्रपत्नी है,[४१] अतः सीता की पूजा होती थी और लोग वर्षा के लिए इन्द्र का आह्वान करते थे। इस प्रकार पालि-निकाय तथा समकालीन धर्मशास्त्र में उपलब्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में वर्षा के आरम्भ में कृषिकार्य का सोत्सव श्रीगणेश करने की प्रथा प्रचलित थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९

शिक्षा की प्रगति

शिक्षण संस्थाएँ—ऋग्वेद-काल तथा बुद्ध के आविर्भाव-काल के मध्य में ज्ञान के विभिन्न अंगों के साहित्य-भांडार की जो समृद्धि हुई उससे हम तत्कालीन समाज में शिक्षा की प्रगति का अनुमान लगा सकते हैं। ब्राह्मण-वर्ण के निर्माण का लक्ष्य समग्र आर्य समाज को ज्ञानार्जन का अवसर प्रदान करना था। इस व्यवस्था का ही यह सुफल था कि शिक्षण-संस्था के रूप में गुरुकुलों की स्थापना हुई, जिनके माध्यम से समाज में शिक्षा का व्यापक प्रचार हुआ और इस देश में ज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति हो सकी। बौद्ध-पिटक में भी ब्राह्मण आचार्यों के गुरुकुलों के उल्लेख मिलते हैं। उन दिनों ख्यातिप्राप्त ब्राह्मण आचार्यों को दिशा-प्रमुख आचार्य कहा जाता था। दिशाप्रमुख आचार्यों की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी और उनकी पादसेवा सैकड़ों शिष्य किया करते थे। चम्पा में एक दिशाप्रमुख आचार्य द्वारा अध्यापन के कार्य करने का उल्लेख मिलता है। वे अपने आश्रम में पाँच सौ छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे।[१] कोशल राज्य के सुनेत्त तथा सेल की ख्याति भी किसी से कम नहीं थी।[२] मिथिला में एक ब्रह्मायु विद्वान् ब्राह्मण का वास था जो समस्त शास्त्रों के पंडित थे; उनके अन्तेवासी का पांडित्य भी अपने गुरु के समान था।[३] वाराणसी के दिशा-प्रमुख आचार्यों के सन्निकट भी पाँच-पाँच सौ शिष्यों के जमघट के उल्लेख मिलते हैं।[४] तक्षशिला तो इस युग का सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था, अतः वहाँ के दिशाप्रमुख आचार्यों की कीर्ति दूर-दूर तक व्याप्त थी। पालि-पिटकों में अनेक ब्राह्मण परिव्राजकों के नाम मिलते हैं। निःसंदेह ये परिव्राजक धर्माचार्य थे और उनके बड़े-बड़े शिष्य-समुदाय के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अनुमान है, उनके शिष्यों को अध्यात्म के साथ अन्य विषयों का भी ज्ञान कराया जाता होगा। इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उन दिनों देश में अनकानेक गुरुकुल विद्यमान थे जहाँ जिज्ञासु छात्रों को ब्राह्मण आचार्यों से ज्ञान प्राप्त होता था।

गुरुकुल प्रायः तपोवन में स्थापित किये जाते थे। प्राचीन काल में वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व, गौतम, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के आश्रमों में शिक्षण का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार्य चलता था, परन्तु सभी गुरुकुलों की स्थापना इन आश्रमों के समान वन में नहीं की जाती थी—कई गुरुकुल नगरों के सन्निकट स्थापित किये जाते। वाराणसी और तक्षशिला जैसे नगरों में जिन गुरुकुलों के उल्लेख मिलते हैं, वे वस्तुतः नगर से अविदूर ऐसे एकांत उपवनों में निर्मित थे, जहाँ एकाग्रचित हो अध्ययन करने के लिए उपयुक्त वातावरण उपलब्ध था। राजधानियों तथा व्यापार-केन्द्रों में स्वभावतः विद्वानों का वास था और जहाँ विद्वान् रहते वहाँ शिष्य पहुँच जाते। नगरों के कोलाहलपूर्ण वातावरण में अध्ययन का कार्य सुचारु-रूप से संपन्न होने में विघ्न होने के कारण जनरव से दूर एकान्त स्थलों में विद्वान् वास करने लगते और उनके निवास-स्थान गुरुकुलों में परिवर्तित हो जाते। इसी तरह वाराणसी और तक्षशिला में प्रसिद्ध शिक्षण-केन्द्रों की स्थापना हो गयी। इन विद्या-केन्द्रों में दूर-दूर से विद्यार्थी पहुँच जाते और इस प्रकार शिक्षा का प्रचार होता। जातकों से विदित होता है कि इन प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रां में विद्यार्थी १४-१६ वर्ष की उम्र में आचार्य के पास जाते थे।

बौद्ध भिक्षु-संघ का संगठन आश्रम-व्यवस्था के आदर्शों पर किया गया, अतः बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्र बन गये। भिक्षु-जीवन में ब्रह्मचर्याश्रम, वान-प्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम का समन्वय होने के कारण विहारों में शिक्षण-कार्य को प्रमुखता मिली। ब्राह्मणों के गुरुकुलों के साथ-साथ अब बौद्ध विहारों में भी अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध होने से शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ। इन विहारों के छात्रों के आदर्शों, गुरु-शिष्य-सम्बन्धों तथा अनुशासन के नियम आदि पर बौद्ध-संघ के प्रसंग में विचार किया गया है। बुद्ध-काल में राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती तथा कपिलवस्तु आदि नगरों में कई प्रसिद्ध विहारों का निर्माण हुआ जो बौद्ध-शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बन गये। राजगृह में वेणुवन, यष्टिवन तथा सीतवन; वैशाली में कूटागारशाला तथा आम्रवन; कपिलवस्तु में निग्रोधाराम और श्रावस्ती में जेतवन तथा पूर्वाराम इस युग के प्रसिद्ध विहार थे।[५] इनके अतिरिक्त अनेक विहारों का निर्माण हुआ। इन्हें संघाराम कहा जाता था। इन संघारामों में आध्यात्मिक चिंतन होता था। यहाँ के आचार्य अपने शिष्यों को अध्यात्म-ज्ञान के सागर में अवगाहन कराते थे। बुद्ध के समय के बौद्ध विहारों के भिक्षुओं को सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकच्चान, महाकोट्ठित, महा-कप्पिन, महाचुन्द, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनन्द तथा राहुल आदि प्रमुख थेरों के प्रवचनों को श्रवण करने तथा उनसे वार्तालाप कर अपने को कृतार्थ करने का मौका मिलता रहता था। ये लोग प्रायः भ्रमणशील रहा करते थे और जिस विहार में कुछ समय व्यतीत करने के लिए रुक जाते, वहाँ के भिक्षुओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को इनसे जटिल विषयों पर विचार-विमर्श कर शंका-समाधान का सुअवसर अनायास ही प्राप्त हो जाता था।[६] इन बौद्ध विहारों में भिक्षुओं को आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ लौकिक विषयों तथा शिल्पों की शिक्षा प्रदान करने की भी व्यवस्था की गयी थी। उदाहरणार्थ, जब भिक्षुओं के आवास के लिए विहारों का निर्माण किया जाता, तो उसकी देखरेख एक भिक्षु करता। इस भिक्षु की नियुक्ति संघ द्वारा विधिवत् की जाती थी और वह नवकम्मिक कहलाता था। वह केवल नये भवनों के निर्माण का ही निरीक्षण नहीं करता, बल्कि पुराने भवनों की मरम्मत के कार्यों की भी देखभाल करता था।[७] भिक्षुओं द्वारा बुनने का काम करने के उल्लेख मिलते हैं।[८] वे अपने पहनने के लिए चीवरों की सिलाई भी करते थे।[९] कालान्तर में जब बौद्ध विहारों में उपासकों को शिक्षा दी जाने लगी, तो लौकिक विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया होगा। यदि बौद्ध विहारों में सभी विषयों के अध्यापन की व्यवस्था नहीं की गयी होती, तो अवान्तर काल में नालन्दा, विक्रमशिला तथा वलभी आदि महाविहारों को विद्या-केन्द्रों के रूप में ख्याति नहीं मिल पाती।

विद्याकेन्द्र तक्षशिला— सातवीं शताब्दी ई० पू० में तक्षशिला की ख्याति प्रमुख शिक्षा-केन्द्र के रूप में दूर-दूर तक व्याप्त हो गयी, जिसका श्रेय वहाँ के आचार्यों को है। वहाँ के दिशाप्रमुख आचार्यों की बड़ी प्रसिद्धि थी और उनके नाम का ही यह प्रभाव हुआ कि सहस्रों मील दूर के प्रदेशों से जिज्ञासु जन अपने प्राणों की परवाह न कर तक्षशिला पहुँचने लगे। जातकों में उल्लेख मिलता है कि समग्र भारतवर्ष के क्षत्रिय एवं ब्राह्मण कुमार शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला के आचार्यों के पास जाते थे।[१०] वाराणसी,[११] राजगृह,[१२] मिथिला,[१३] उज्जैनी[१४] आदि सुदूर नगरों से विद्यार्थीगण तक्षशिला पहुँच जाते थे। कोशल-राज्य से भी विद्यार्थी वहाँ जाते।[१५] कोशल-नरेश प्रसेनजित्, मगध के विख्यात वैद्य जीवक और वैयाकरण पाणिनि, आचार्य कौटिल्य तथा सम्राट् चन्द्रगुप्त तक्षशिला के स्नातक थे।[१६] बौद्ध-पिटकों में जिस प्रकार तक्षशिला का उल्लेख उपलब्ध होता है उससे प्रतीत होता है कि वह अपने समय का सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त विद्या-केन्द्र था।

वस्तुत: तक्षशिला में आधुनिक महाविद्यालय या विश्वविद्यालय जैसी कोई शिक्षण-संस्था नहीं थी। वहाँ तो विद्वानों का आवास ही संस्था था, जहाँ आचार्य अपने वरिष्ठ शिष्यों के सहयाग से शिक्षण-कार्य संपन्न करते थे। वहाँ न तो किसी आचार्य के शिष्यों की निश्चित संख्या थी और न अध्ययन की कोई निश्चित अवधि ही। जितने विद्यार्थी मिल जाते, आचार्य उन्हें विद्यादान देते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जबतक उनकी शिक्षा पूर्ण नहीं हो जाती, विद्यार्थी गुरु के पास रहते। जातकों में उदाहरण मिलते हैं कि तक्षशिला में दिशाप्रमुख आचार्य पाँच-पाँच सौ विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। एक आचार्य के पाँच सौ शिष्यों का उल्लेख परंपरागत शैली के कारण मिलता है, अतः इस संख्या को विशेष महत्त्व देना अनावश्यक है। एक जातक में उल्लेख मिलता है कि एक आचार्य १०३ राजकुमारों को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान कर रहे थे। इस संख्या में सत्य का आभास मिलता है और इससे यह अनुमान लगाना सही होगा कि तक्षशिला के प्रमुख आचार्यों से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या लगभग एक-एक सौ की रही होगी। शिक्षण-कार्य के लिए आचार्य कुछ शिक्षकों का भी सहयोग लेते होंगे जो वस्तुतः उनके वरिष्ठ शिष्य होते होंगे।

तक्षशिला में अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक नहीं था कि सभी विद्यार्थी गुरुकुल में ही वास करते। अनेक राजकुमार अपने रहने की व्यवस्था स्वयं ही करते थे,[१७] परन्तु यह राजकुल के विद्यार्थियों के लिए ही संभव था। सामान्यतया सभी विद्यार्थी गुरु के आवास में निवास करते, जहाँ उन्हें निवास, भोजन तथा अध्ययन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध होतीं। धनी विद्यार्थी शिक्षा-शुल्क के साथ ही भोजन तथा आवास-शुल्क भी दे दिया करते थे। जो विद्यार्थी निर्धन होते, वे शुल्क के बदले दिन में गुरुकुल का कोई काम किया करते। ऐसे विद्यार्थियों के लिए रात्रि में अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी।[१८]

तक्षशिला मुख्यतः उच्च-शिक्षा का केन्द्र था, अतः वहाँ अध्ययन के लिए जाने वाले विद्यार्थियों की उम्र प्रायः १६ वर्ष बतलायी गयी है। वहाँ पढ़ने के लिए समाज के विभिन्न जातियों एवं वर्गों के विद्यार्थी जाते थे, परन्तु ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की संख्या अधिक प्रतीत होती है। एक जातक में पाँच सौ ब्राह्मण विधार्थियों को लकड़ी जमा करने में संलग्न दिखलाया गया है।[१९] पुनः दूसरे जातक में उल्लेख मिलता है कि १०३ राजकुमार एक आचार्य से धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।[२०] तक्षशिला के अचार्य विद्यादान में बड़े उदार थे। उन्होंने राजकुमारों, ब्राह्मण कुमारों तथा श्रेष्ठिपुत्रों के साथ दर्जी और मछली मारने वालों को भी शिष्य बनाया।[२१] उनके गुरुकुलों में केवल चांडालों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध था।[२२]

तक्षशिला में अध्ययन करना महँगा पड़ता था, क्योंकि वह उच्च-शिक्षा का केन्द्र था और किसी विशेष विषय में विशिष्टता प्राप्त करने के उद्देश्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ही वहाँ कोई विद्यार्थी जाता था। जो जिज्ञासु छात्र बहुत दूर से वहाँ जाते, उनके लिए वहाँ की शिक्षा महँगी पड़ती ही थी, परन्तु वहाँ की मुहर लग जाने के पश्चात् किसी की योग्यता में संदेह करने का साहस कौन करता ? अतः वहाँ के स्नातक होने के लोभ का संवरण भी नहीं किया जा सकता था। धनवानों के लिए तो तक्षशिला में अध्ययन करना कोई बड़ी समस्या न थी, पर निर्धनों के लिए कुछ दिक्कतें थीं। प्राचीन भारत में मेधावी निर्धन छात्रों के मार्ग में भी ऐसी कोई दुर्लंघ्य रुकावट नहीं आती थी कि वह विद्याध्ययन से वंचित रह जाता। तक्षशिला में पढ़ने वाले धनाढ्य छात्र एक सहस्र कार्षापण तक गुरुदक्षिणा दिया करते थे,[२३] परन्तु निर्धन छात्र इतनी बड़ी धनराशि देने में असमर्थ होने के कारण श्रम के रूप में गुरुदक्षिणा चुकाते।[२४] गुरुदक्षिणा की राशि संग्रह करने के लिए कई विद्यार्थियों को भिक्षा का सहारा लेना पड़ता था।[२५]

मेधावी छात्रों को विद्याध्ययन से वंचित न होना पड़े, इस उद्देश्य से उन्हें राजकीय प्रोत्साहन प्रदान करने के भी उदाहरण मिलते हैं। राजकीय वृत्ति पर अनेक छात्रों ने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की। वे प्रायः राजकुमारों के साथियों के रूप में वहाँ भेजे जाते थे। वाराणसी[२६] और राजगृह[२७] के राज-पुरोहित-पुत्र युवराजों के संग तक्षशिला में अध्ययनार्थ गये थे। ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि होनहार युवकों को राज्य के व्यय से उच्च-शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजा गया।[२८] राजकीय प्रोत्साहन के साथ सामाजिक वातावरण का भी शिक्षा के प्रसार में बड़ा हाथ रहा है। प्राचीन भारत में धनी तथा निर्धन दोनों को अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर मिला। अन्तर इतना अवश्य था कि धनी की अपेक्षा निर्धन छात्र को अधिक परिश्रम करना पड़ता था, परन्तु यदि उसमें उत्साह, लगन और जिज्ञासा का अभाव नहीं रहता, तो उसे अग्रसर होने का मार्ग उन्मुक्त मिलता।

शिक्षण अवधि— बुद्ध के समय में यह विशेषता देखने को मिलती है कि सामान्यतया १६-१८ वर्ष की उम्र में व्यक्ति अपना अध्ययन समाप्त करके गृहस्थ बन जाते थे। जो उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक होते थे, जिनका उद्देश्य किसी विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करने की रहती थी, वे किसी प्रमुख शिक्षण केन्द्र में चले जाते थे। तक्षशिला उच्च-शिक्षा का केन्द्र था, अतः वहाँ अध्ययनार्थ जाने वाले छात्रों की उम्र १६ वर्ष बतलायी गयी है। धर्मसूत्रों एवं स्मृति-ग्रंथों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के उपनयन की न्यून-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तम वय क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह वर्षों की मानी गयी है और अधिकतम—सोलह, बाइस तथा चौबीस वर्षों की।[२९] दूसरी ओर जातकों में उल्लेख मिलते हैं कि सोलह वर्ष की उम्र में राजकुमारों की सभी विषयों की शिक्षा पूर्ण हो जाती थी,[३०] परन्तु इस तरह के कथन लौकिक हैं, अतः इनसे यह अर्थ नहीं निकलता कि सोलह वर्ष की उम्र में व्यक्ति सम्पूर्ण शास्त्र का ज्ञाता हो जाता होगा। एतद्विषयक धर्मशास्त्र के निर्देशों का पालन समाज के उच्च वर्णों में भी थोड़े ही लोग कर पाते थे। मिलिन्दपञ्हो में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मणों का विद्यार्थी-जीवन सात वर्ष की उम्र में आरम्भ होता था।[३१] धर्मशास्त्र के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन ८ और १६ वर्षों के बीच होना चाहिए। जातकों के इस कथन से कि १६ वर्ष की उम्र में व्यक्ति अपना अध्ययन पूर्ण कर लेता है, यह अर्थ निकलता है कि साधारणतया १६-१८ वर्ष की उम्र में लोग अपनी पढ़ाई समाप्त करके गृहस्थ बन जाते थे। यह स्वाभाविक था, क्योंकि उच्च-शिक्षा प्राप्त करना सभी का लक्ष्य नहीं रहता था। सामान्यतः लोग काम चलाऊ शिक्षा प्राप्त करके गृहस्थ बनना पसन्द करते थे। जिनका लक्ष्य उच्च-शिक्षा प्राप्त करना रहता था, वे प्रायः १५-१६ की उम्र में साधारण शिक्षा समाप्त करके प्रमुख विद्या-केन्द्रों के लिए प्रस्थान करते थे। अतः जातकों में उल्लेख मिलते हैं कि तक्षशिला में अध्ययनार्थ जाने वाले छात्रों की वय १६ वर्ष रहती थी। जातकों में गृहस्थ छात्रों के भी उल्लेख मिलते हैं। वाराणसी में एक ग्रामीण ब्राह्मण वहाँ के एक प्रसिद्ध आचार्य के पास पढ़ने गया। वहाँ उसने एक स्थानीय नवयुवती से विवाह करके घर बसा लिया और अध्ययन भी जारी रखा, परन्तु उसकी पत्नी दुष्टा थी और जब वह ब्राह्मण पढ़ने जाने की तैयारी करता, तो उसकी पत्नी अस्वस्थ होने का बहाना करती। इससे उसके अध्ययन में विघ्न हो जाता था।[३२] अध्ययन के लिए यथासमय गुरु के निकट छात्र के उपस्थित होने में पत्नी की बाधकता के अनेक उदाहरण जातकों में मिलते हैं।[३३] कुछेक छात्रों का विवाह गुरु-पुत्री से ही हो जाता था।[३४]

शिक्षा के विषय— प्राप्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उन दिनों ६ प्रमुख विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। ये विषय थे[३५]—(१) वेद (२) वैदिक साहित्य— षड्वेदाङ्ग, अर्थात् शाखा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष (३) ब्राह्मण, संहिता और उपनिषद् (४) गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र (५) अन्य विषय— सूत्रों के परिशिष्ट का साहित्य व्यापक है। यज्ञों से सम्बद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय के साहित्य का विकास हुआ, जिसका नाम पड़ा प्रयोग। धर्मविधियों का पद्यमय वर्णन करने वाला साहित्य कारिका कहलाया। वैदिक अनुक्रमणी का भी निर्माण हुआ। (६) लौकिक साहित्य—अर्थशास्त्र, शिल्प तथा वार्ता। पाणिनि ने धार्मिक तथा लौकिक विषयों के समृद्ध साहित्य-भाण्डार का उल्लेख किया है जिससे तत्कालीन पाठ्य विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।[३६] बौद्ध विहारों में बौद्ध-दर्शन तथा पालि भाषा की शिक्षा को प्रमुखता दी गयी। दर्शन तथा साहित्य के पंडित के लिए विरोधियों के मतों को भी जानना अनिवार्य हो जाता था, अतः ब्राह्मण तथा बौद्ध एक दूसरे के साहित्य-भांडार से पूर्ण परिचित रहते थे। इसके बिना वे शास्त्रार्थ में विरोधियों को परास्त नहीं कर सकते थे। अतः बौद्ध विहारों में ब्राह्मण-दर्शन का ज्ञान कराया जाता था, तो गुरुकुल परम्परा की शिक्षा में बौद्ध-दर्शन का।

साहित्यिक एवं दार्शनिक विषयों के साथ-साथ शिल्प-शिक्षा को भी इस युग में प्रमुखता मिली। विनय-पिटक के अनुसार विद्यार्थियों के माता-पिता परस्पर वार्तालाप किया करते थे कि उनके पुत्र किन-किन विषयों का अध्ययन करेंगे। इस प्रसंग में उल्लेख हुआ है—लेख, गणना और रूप (मुद्राशास्त्र) का।[३७] चुल्लवग्ग में भिक्षुओं को भी उन उपकरणों का उपयोग करते हुए दिखलाया गया है जो कपड़े बुनने के काम आते थे।[३८] पालि ग्रंथों में अष्टादश शिल्पों[३९] के उल्लेख मिलते हैं और इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि इनकी श्रेणियाँ (निगम) बन चुकी थीं। मिलिन्दपञ्हों में उन्नीस शिल्पों के उल्लेख हैं, जिनमें चतुर्वेद, पुराण, दर्शन तथा इतिहास का भी समावेश कर दिया गया है, अतः यह सूची दोषपूर्ण है।[४०] तक्षशिला में धनुर्वेद, रणविद्या, वैद्यक, मंत्रविद्या, सर्प-वशीकरण तथा गुप्तधन खोजने की विद्या की शिक्षा प्रदान करने के उल्लेख मिलते हैं।[४१] इनके अतिरिक्त पालि-निकाय में विधि, गणित, गणना, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा इस्सथ के उल्लेख किये गये हैं।[४२] एक जातक में बड्ढकि, कर्मार, चर्मकार तथा चित्रकार की श्रेणियों के उल्लेख मिलते हैं।[४३] यदि इस सूची में अभियांत्रिक तथा संगीत जोड़ दिये जायँ तो शिल्पों की संख्या उन्नीस पहुँच जायगी। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धकाल में अनेक शिल्पों का विकास हो गया था और दिनोंदिन उनकी संख्या में वृद्धि होती जा रही थी। यह कहना उचित नहीं जँचता कि केवल अमुक-अमुक शिल्पों की ही शिक्षा दी जाती थी। ज्यों-ज्यों समाज तकनीकी क्षेत्र में प्रगति करता गया, त्यों-त्यों नये-नये शिल्पों की शिक्षा का द्वार नवयुवकों के लिए खुलता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया । मौर्यकाल में शिल्पों की विशेष उन्नति हुई जान पड़ती है, क्योंकि मौर्य-शासन ने उद्योग, शिल्प तथा कला की सुव्यवस्था के उद्देश्य से इन विभागों के लिए अध्यक्षों को नियुक्त किया । मौर्य-काल के पूर्व ही शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों में तकनीकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी थी । यदि ऐसा नहीं होता, तो आयुर्वेद के अध्ययन के लिए जीवक को मगध से तक्षशिला नहीं भेजा जाता, और न चन्द्रगुप्त को ही वहाँ जाकर रणविद्या सीखने की आवश्यकता पड़ती । व्यापारिक शिल्पों की शिक्षा में व्यापार निगमों का पर्याप्त हाथ था, क्योंकि इस युग में सभी शिल्पों की श्रेणियाँ बन गयी थीं और उनके अधिकार व्यापक थे । बिना अभ्यास के शिल्प-ज्ञान न तो पूर्ण हो पाता है और न उपयोगी, अतः कर्म-शालाओं में छात्रों को अभ्यास का अवसर दिया जाता था । इस प्रकार हम पाते हैं कि बुद्धकाल में शिक्षा के विभिन्न अंगों की उल्लेखनीय प्रगति हुई ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१०

बौद्ध-मत

बौद्ध-मत का विकास एवं प्रसार— भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही धर्मप्रधान रही है। पूर्व-वैदिक युग में आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के सम्पर्क ने भारतवासियों की धर्म-चेतना को पूर्वापेक्षा अधिक उदार बनाया। भारतीय आर्यों ने भारतभूमि के निवासियों की धार्मिक मान्यताओं एवं व्यवहारों को दार्शनिक पृष्ठभूमि में सँवार कर ऐसा स्वरूप प्रदान किया जो अन्यत्र देखने में नहीं आता है। आर्यों के अभ्युदय के पूर्व जो धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाएँ देश के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित थीं, उनमें समुचित परिवर्तन कर वैदिक आर्यों ने उनका नवीकरण कर दिया और विभिन्न धार्मिक आचार-विचारों का समन्वय करके उन्होंने पूर्ण सफलता के साथ अनेकत्व में एकत्व की स्थापना की। ऋग्वेद-कालीन धर्म व्यवहार में सरल तो था, पर अप्रौढ़ नहीं। विशाल देवकुल की कल्पना से इस धर्म के पर्याप्त विकसित अवस्था का अभास मिलता है। वैदिक आर्यों ने प्रकृति की संजीवनी-शक्ति-सम्पन्न वैभवों की आराधना की— सूर्य, पवन, जल, अग्नि, पृथ्वी इत्यादि ही तो मानव-जीवन के आधार हैं, अतः उन्होंने इन सभी को देवपद प्रदान किया। बहुदेवपूजक आर्यों ने ऋग्वेदकाल में ही इस सत्य का भी साक्षात्कार कर लिया कि सम्पूर्ण दृश्य-जगत् एक ही सर्वशक्तिमान् सत्ता की अभिव्यक्ति है।

ऋग्वेदकाल में आर्यों ने जिस धार्मिक समन्वय की प्रक्रिया का सूत्रपात किया वह पूर्ण हुआ— उत्तरवैदिक काल में। उत्तरवैदिक युग में आराध्य देवताओं की संख्या में वृद्धि हो गयी। अनेक यक्ष, भूत, प्रेत आदि भी पूजा के पात्र मान लिये गये। अथर्ववेद में अनेक ऐसे धार्मिक विचारों तथा व्यवहारों को मान्यता मिली जो पूर्व-काल में अमान्य थे। अशिक्षित जनता और बुद्धि-वादी वर्ग के धार्मिक आचार-विचार में सदा अन्तर रहा है, परन्तु समाज में मान्यता तो सभी को मिलती रही है—यही हिन्दू-धर्म की विशेषता है। उत्तर-वैदिक युग में ऐसा भी हुआ कि जनता वैदिक वाङ्मय से दूर होने लगी, ब्राह्मण-धर्म के व्यवहार-पक्ष में जटिलता आने लगी और वैदिक संस्कृत तथा पुरोहित-समुदाय के धार्मिक अनुष्ठान जनता के लिए दुर्बोध हो गये।[1] इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार जहाँ एक ओर तो समाज के निम्न-वर्ग के धार्मिक व्यवहार को मान्यता देकर धर्म को व्यापक रूप प्रदान किया गया, वहीं ब्राह्मण-धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के फलस्वरूप समाज में एक संकुचित विचारधारा पनपने लगी।

फिर आया दार्शनिक चिंतन का युग, अर्थात् उपनिषद्-काल। इस युग में अध्यात्मवाद पर विशेष चिंतन हुआ और धीरे-धीरे यह विचार प्रबल हो चला कि मोक्ष का मार्ग केवल वैदिक यज्ञों तथा धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा ही प्रशस्त नहीं होता है, इसके लिए अन्य साधन भी अपनाये जा सकते हैं। अब लोग यह कहने लगे कि वैदिक कर्मकाण्ड से उत्तम है— ब्रह्मज्ञान। ब्रह्मविद्या की चर्चा बढ़ने लगी और इस युग में अनेक ब्रह्मज्ञानी-तत्त्वदर्शी महापुरुषों का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने भारतवासियों की आत्मज्ञान-जिज्ञासा को तृप्त किया। इस युग के आध्यात्मिक चिंतन का ही यह सुफल था कि भविष्य में अनेक नवीन धार्मिक मतों का जन्म हुआ।

भगवान् बुद्ध के जन्मकाल के लगभग भारतीय विचार-जगत् में उथल-पुथल हो रही थी। उस समय देश में, प्रमुखतः पूर्वोत्तर भारत में अनेक वाद प्रचलित थे। एक प्राचीन पालि-सूत्र में बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित दर्शन के ६३ वादों का उल्लेख किया गया है, जिनमें अनेक ब्राह्मण-विरोधी थे।[२] जैन-ग्रंथों में भी अनेक वेद-विरुद्ध वादों का उल्लेख मिलता है। पालि-सूत्रों में बुद्ध के समकालीन प्रमुख वादों का उल्लेख है।[३] इस युग के धर्म-प्रवर्तकों में प्रमुख थे—गौतम बुद्ध, महावीर और मक्खलि गोसाल। इन तीनों में नैसर्गिक प्रतिस्पर्धा थी। इनके अनुयायी प्रायः झगड़ा कर बैठते थे। बुद्ध का व्यक्तित्व अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली था। उनके सामने सभी नतमस्तक होते गये और उनके अनुयायियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। अपने मत के प्रचार में बुद्ध के समान न तो महावीर को सफलता मिली और न गोसाल को।

बुद्ध का धर्म-प्रचार— पालि-निकाय से ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्म का उदय हुआ मगध में, जहाँ से इसका प्रचार बुद्ध के जीवन काल में ही सम्पूर्ण बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में हो गया। पश्चात् बहुत दिनों तक बिहार में बौद्ध-मत की प्रधानता रही। वस्तुतः बौद्ध-धर्म के विकास एवं प्रचार में बिहार राज्य का सराहनीय योग रहा। बिहार की ही भूमि में निरंजना (पालि नेरञ्जरा) नदी के तटवर्ती उरुवेला नामक स्थान पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को संबोधि प्राप्त हुई। महावग्ग के अनुसार उस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय ब्रह्मा सहंपति ने बुद्ध को सम्बोधित करते हुए कहा— 'अबतक मगध देश में कलुषित मानव द्वारा परिकल्पित धर्म ही प्रतिपादित हुए हैं, परन्तु अब भगवान् धर्मोपदेश कर मानवमात्र के लिए निर्वाण-मार्ग को प्रशस्त करने की कृपा करें, सभी मनुष्य अमृतद्वार को खोलने वाले विमल (पुरुष) द्वारा प्रतिपादित मत को श्रवण करें।'[४] ब्रह्मा सहंपति की प्रार्थना पर ही भगवान् बुद्ध धर्मोपदेश के लिए प्रस्तुत हुए। तब उनका विचार आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र को धर्म का उपदेश देने का हुआ, किन्तु यह बात जानकर कि वे उस समय तक परिनिर्वृत्त हो चुके थे, उन्होंने उन पाँच भिक्षुओं को धर्म का उपदेश देने का निश्चय किया जो उनका साथ छोड़कर ऋषिपत्तन चले गये थे।[५] भगवान् बुद्ध ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन अपना पहला उपदेश सारनाथ में दिया। इस उपदेश को धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र को संज्ञा दी गयी। सारनाथ से बुद्ध के संदेश का प्रसार हुआ—वाराणसी में। वाराणसी का एक श्रेष्ठिपुत्र यश संसार से विरक्त हो ऋषिपत्तन आया और बुद्ध का उपदेश सुनकर भिक्षु हो गया।[६] यह संवाद पाकर उसके श्रेष्ठि-कुमार मित्र—विमल, सुबाहु, पूर्णजित् तथा गवाम्पति भी भिक्षु हो गये।[७] पुनः अन्य पचास व्यक्तियों ने श्रेष्ठिकुमारों का अनुसरण किया।[८] इन साठ भिक्षुओं को लेकर बुद्ध-शासन का आरम्भ हुआ। बुद्ध ने एक संघ की प्रतिष्ठा की,[९] परन्तु बुद्ध का महत्त्वपूर्ण धर्मप्रचार तो उसी स्थान पर हुआ जहाँ वे संबुद्ध हुए थे। उस समय उरुवेला वैदिक यज्ञानुष्ठान का एक प्रमुख स्थान था। वहाँ वैदिक मतावलंबी जटिल-तापसों का प्रभुत्व था। उरुवेल काश्यप, नादि काश्यप तथा गया काश्यय—तीनों भाई निरंजना नदी के तट पर आश्रम बना-कर अपने एक सहस्र शिष्य-समुदाय के साथ वास करते थे।[१०] जटामंडित सिर के कारण ये ब्राह्मण-तापस जटिल कहलाते थे। अंग और मगध की जनता पर इनका बड़ा प्रभाव था, अतः बुद्ध ने इन जटिल-तापसों को बौद्ध-मत में दीक्षित कर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया। भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व के सामने इन जटिल-बंधुओं को नत-मस्तक होना पड़ा। तीनों भाइयों ने अपने अनुयायियों के साथ बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।[११] इस घटना का स्थानीय जनता पर स्वभावतः अद्भुत प्रभाव पड़ा। तदनन्तर बुद्ध गयासीस चले गये और वहाँ से राजगृह।[१२] दिनानुदिन उनकी ख्याति फैलने लगी। मगधराज बिंबिसार भी बुद्ध का यशगान सुनकर प्रभावित हुए। जब राजगृह में बुद्ध का पदार्पण हुआ, तो बिंबिसार ने उनसे उपदेश श्रवण कर उनका भोजन-सत्कार किया और भिक्षुसंघ को वेणुवन दान में दिया।[१३]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध-धर्म के प्रचार की दिशा में उरुवेला के पश्चात् राजगृह में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई। राजगृह भी ब्राह्मण तापसों तथा ब्राह्मण धर्माव-लंबियों का प्रमुख गढ़ था और साथ ही मगध की राजधानी। वहाँ सञ्जय नाम के परिव्राजक अपने २५० शिष्यों के साथ निवास करते थे।[१४] इन शिष्यों में प्रमुख थे, सारिपुत्त और मोग्गलान। सर्वप्रथम सारिपुत्त ने बुद्ध के शिष्य बनने का निश्चय किया। यह जानकर मोग्गलान ने भी अपने मित्र का अनु-सरण किया।[१५] इन दोनों ने सञ्जय से बुद्ध से मिलने का अनुरोध किया, पर वे अपने गुरु को इसके लिए प्रवृत्त नहीं कर पाये। अंत में उन्होंने सञ्जय का साथ छोड़ दिया और उनके सभी अनुयायियों के साथ बुद्ध से उपसंपदा की दीक्षा ली।[१६] इस प्रकार राजगृह में भी बुद्ध को चमत्कारपूर्ण सफलता मिली। इस घटना के बाद राजगृह के समृद्ध नागरिकों ने बुद्ध के विरुद्ध आवाज उठायी। इस बुद्ध-विरोध का मुख्य कारण था—नवयुवकों को भिक्षु बनाना, जिससे माता-पिता सन्तानहीन होने लगे, पत्नियाँ पतिविहीना होने लगीं और अनेक परिवारों में कोई उत्तराधिकारी नहीं बचा।[१७] बुद्ध ने अपने शिष्यों को इस विरोध का शांतिपूर्वक सामना करने का उपदेश दिया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—'हे भिक्षुओ, आपलोग विरोध करने वालों को कहें कि महा-वीर तथागत लोगों को सद्धर्म के मार्ग से ले चलते हैं; शाक्यपुत्र बुद्ध के अनुयायी श्रमण, धर्म के मार्ग से लोगों को ले जाते हैं, अधर्म से नहीं।' फिर, सारा विरोध एक सप्ताह के बाद शांत हो गया।[१८]

उरुवेला और राजगृह में बुद्ध की सफलता के फलस्वरूप भिक्षुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गयी। जब उनकी संख्या लगभग तेरह सौ पहुँच गयी, तो भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-संघ के लिए विनय के नियम बनाना प्रारम्भ किया। विनय के नियमों के संग्रह का नाम पड़ा विनय-पिटक। बौद्ध भिक्षु-संघ का विवरण अन्तिम परिच्छेद में दिया गया है। बुद्ध ने अपने जीवन का अधिकांश समय बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में व्यतीत किया। वे इस क्षेत्र के ग्रामों, निगमों तथा राजधानियों में घूमते रहे, धर्म का उपदेश देते रहे। इस भूभाग की जनता तथा शासक-वर्ग ने उनके धर्मोपदेश से प्रभावित हो उनका अतिशय सम्मान किया। विनय-पिटक के अनुसार जबतक भगवान् बुद्ध राजगृह में रहे, उनको बिम्बिसार का सहयोग मिला और राजवैद्य जीवक ने उनके स्वास्थ्य की देखभाल की।[१९] जब वहाँ बौद्ध-मत की जड़ें जम गयीं, तब उन्होंने कपिलवस्तु के लिए प्रस्थान किया,[२०] परन्तु राजगृह से उनके सम्बन्ध की यहीं इति नहीं हो गयी। वस्तुतः राजगृह से उनका सम्बन्ध आजीवन बना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा। वहाँ उन्होंने सम्बोधि प्राप्त करने के पश्चात् प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, सप्तम तथा बीसवाँ वर्षावास व्यतीत किया।[२१] उन्होंने एकादश वर्षावास ब्राह्मणग्राम एकनाल में किया जो मगध के दक्षिण दक्षिणागिरि के निकट था।[२२] यहीं उन्होंने कसिभारद्वाज-सुत्त नामक प्रवचन दिया। अपने जीवन के उत्तरार्ध में जब वे श्रावस्ती में वास करने लगे थे तब भी वे राजगृह आते रहे। राजगृह में ही उन्होंने अपने कई प्रसिद्ध प्रवचन दिये, जैसे—आटानाटिय-सुत्त, उदुम्बरिक-सुत्त, कस्सपसीहनाद-सुत्त, जीवक-सुत्त, महासकुलुदायी-सुत्त तथा सक्कपञ्ह-सुत्त।[२३] भगवान् बुद्ध की अंतिम पदयात्रा भी राजगृह के गृध्रकूट-पर्वत से आरम्भ हुई थी।[२४] राजगृह के अतिरिक्त उन दिनों बिहार में दो प्रमुख नगर थे, वैशाली और चम्पा। इन नगरों में भी बुद्ध कई बार गये। जब उन्होंने प्रथम बार वैशाली में पदार्पण किया, तो उस समय अम्बपाली (आम्रपाली) ने उनका अतिथि सत्कार करके भिक्षु-संघ को आम्रपालीवन का दान कर दिया। जब बुद्ध वैशाली जाते थे तो वे प्रायः महावन में वास करते थे। वैशाली में उनके प्रसिद्ध प्रवचन हुए— महालि-सुत्त, महासीहनाद-सुत्त, चुल्लसच्चक-सुत्त, महासच्चक-सुत्त, तेविज्ज-सुत्त, वच्छगोत्त-सुत्त, सुनक्खत्त-सुत्त तथा रतन-सुत्त।[२५] चम्पा में वे गग्गरा-पोक्खरणी के तटवर्ती वन में वास करते थे, जहाँ उन्होंने सोणदंड-सुत्त, दसुत्तर-सुत्त, कन्दरक-सुत्त तथा कारण्डव-सुत्त नाम के धर्मोपदेश दिये।[२६]

कोशल-राज्य की राजधानी श्रावस्ती में भी भगवान् बुद्ध का राजगृह के समान स्वागत किया गया। कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने तो बुद्ध का सम्मान किया ही, वहाँ के श्रेष्ठियों ने अपने उदार दान से बौद्ध-संघ को समृद्ध किया। वहाँ के प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक द्वारा बौद्ध-संघ को जेतवन के दान की कथा प्रसिद्ध है। अनाथपिंडिक ने उस उद्यान का मूल्य वहाँ की सम्पूर्ण भूमि को स्वर्णमुद्राओं से आच्छादित करके चुकाया था।[२७] उसी जेतवन विहार में भगवान् बुद्ध ने पचीस वर्ष निवास किया।[२८] इस अवधि में उन्होंने कई प्रसिद्ध प्रवचन दिये, जैसे—जटिल-सुत्त, चूलहत्थिपदोपम-सुत्त, महाहत्थिपदोपम-सुत्त, अस्सलायन-सुत्त, महाराहुलोवाद-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त, ब्राह्मणधम्मिय-सुत्त, अंगुलिमाल-सुत्त, सुन्दरिकभारद्वाज-सुत्त आदि। कौशाम्बी नगरी से भी बुद्ध का सम्बन्ध था और वहाँ वे घोषिताराम विहार में वास करते थे।

बुद्ध के प्रमुख शिष्य—बौद्ध-धर्म के प्रचार में मात्र भगवान् बुद्ध के भ्रमणों तथा उपदेशों का ही हाथ नहीं था; उनके प्रमुख शिष्य— सारिपुत्त, मोग्गलान,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाकस्सप, आनन्द तथा उपालि की देन भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अपने शिष्यों के सहयोग से ही भगवान् बुद्ध अपने धर्म की नींव को सुदृढ़ बनाने में सफल हुए। सारिपुत्त, मोगलान तथा महाकस्सप मगधवासी थे, आनन्द तथा उपालि कपिलवस्तु के रहने वाले थे। इन सभी ने भगवान् बुद्ध के सन्देशों के प्रचार में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सारिपुत्त भगवान् के अग्रश्रावक (प्रमुख-शिष्य) माने जाते थे।[२९] भगवान् ने सभी के सम्मुख सारिपुत्त को प्रज्ञावानों में अग्रणी घोषित कर दिया था और भिक्षु-संघ में बुद्ध के पश्चात् उनका ही स्थान माना जाता था।[३०] सारिपुत्त बुद्ध के बड़े प्रिय एवं विश्वासपात्र शिष्य थे। कभी-कभी प्रवचन के समय बुद्ध केवल विषय का प्रस्ताव मात्र कर देते और सारिपुत्त उपदेश देकर उनके द्वारा प्रशंसित होते।[३१] सारिपुत्त के प्रवचनों में सर्वाधिक प्रमुख हैं दसुत्तर-सुत्त और संगीति-सुत्त। बुद्ध सारिपुत्त के प्रज्ञा की सर्वदा प्रशंसा करते थे। सारिपुत्त भगवान् के इतने बड़े भक्त थे कि वे उस समय तक नियम-विरुद्ध काम नहीं करते थे, जब तक कि बुद्ध स्वयं उनसे वैसा करने को नहीं कहते। एक बार वे रुग्ण हो गये और उन्हें ज्ञात था कि लहसुन खाने से वे स्वस्थ हो जायँगे, परन्तु उन्होंने बुद्ध की अनुमति मिलने पर ही लहसुन खाया।[३२] अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्होंने भगवान् बुद्ध में अपनी अगाध श्रद्धा का प्रदर्शन किया था, जब उन्होंने नालन्दा में सीहनाद (सिंहनाद) किया।[३३]

महामोग्गल्लान या मोग्गल्लान (मौद्गल्यायन) का स्थान भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में द्वितीय था। उनका जन्म राजगृह के निकट कोलितग्राम में हुआ था। संयोगवश सारिपुत्त और मोग्गल्लान, दोनों परम मित्रों का जन्म एक ही दिन हुआ था।[३४] दोनों की मित्रता प्रगाढ़ थी, अतः जब सारिपुत्त ने मोग्गल्लान को भगवान् की शरण में जाने का अपना निश्चय बतलाया, तो उन्होंने अपने मित्र का साथ नहीं छोड़ा।[३५] मोग्गल्लान को इद्धिमंतों में अग्रणी माना जाता था।[३६]

महाकस्सप (महाकाश्यप) धूतवादियों में अग्रणी माने जाते थे। उनका जन्म मगध में महातीर्थ नामक ब्राह्मण ग्राम के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था।[३७] पालि-सूत्रों के अनुसार महाकस्सप के ही सभापतित्व में बुद्ध-निर्वाण के अनन्तर राजगृह में पाँच सौ प्रमुख बौद्ध-भिक्षुओं की संगीति हुई जिसका नाम पड़ा, प्रथम बौद्ध संगीति।[३८] कहा जाता है कि इन भिक्षुओं ने राजगृह के सप्तपर्णीगुहा में एकत्र होकर धम्म तथा विनय के सूत्रों का इस उद्देश्य से पाठ किया कि भगवान्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारा उपदिष्ट सूत्रों के स्वरूप को यथावत् सुरक्षित रखा जा सके। महावश में इस संगीति का नाम थेर-संगीति दिया गया है और कहा गया है कि इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म का जो स्वरूप स्थिर हुआ वह थेरवाद कहलाया।[३९] पालि-पिटक में महाकस्सप को प्रथम बौद्ध संगीति के सभापति के रूप में उल्लेख करना बौद्ध-धर्म में उनके महत्त्वपूर्ण स्थान का द्योतक है।

बुद्ध के विरोधी और समर्थक— धर्म-प्रचार के क्रम में भगवान् बुद्ध को आंतरिक विद्रोह तथा बाह्य विरोध का भी सामना करना पड़ा। इस प्रकार की अधिकतर घटनाएँ मगध तथा कोशल राज्यों में घटित हुईं। बौद्धमत के आंतरिक विद्रोहियों में षड्वर्गीय भिक्षुओं का प्रमुख उल्लेख मिलता है। इन भिक्षुओं में दो राजगृह के निकट वास करते थे, दो कीटागिरि के निकट और दो कोशल में। इन्होंने सदा विनय के नियमों का उल्लंघन किया। ये कई प्रकार के मानमानी कार्य करते थे, जैसे—उपज्झाय की अनुमति के बिना श्रामणेर पर प्रतिबन्ध लगाना, वरिष्ठ भिक्षुओं के शिष्यों को अपनी ओर मिलाना, निर्लज्ज भिक्षु को निस्सय की दीक्षा देना इत्यादि।[४०] इस प्रकार के अनुशासन-भंग को प्रश्रय देना भगवान् द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ के लिए सर्वथा अहितकर होता, अतः पालि-सूत्रों में षड्वर्गियों की निंदा मिलती है। भगवान् बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुसंघ को स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से सदा अनुशासन को प्रमुखता दी।

देवदत्त भगवान् के प्रबल विरोधी थे। उनका सदा यही लक्ष्य रहता था कि बौद्ध-संघ में वे बुद्ध को अपदस्थ कर स्वयं बौद्ध-धर्म तथा संघ के प्रधान बन जायँ। इस उद्देश्य की सफलता में अपने को असमर्थ पाकर उन्होंने एक स्वतंत्र भिक्षु-संघ की स्थापना का विचार किया और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पाँच सौ भिक्षुओं को साथ लेकर वे गयासीस चले गये, परन्तु सारिपुत्त और मोग्गल्लान ने वहाँ जाकर उन विपथगामी भिक्षुओं को समझा-बुझा कर वापस लाया।[४१] इस पर देवदत्त चुप नहीं बैठे। वे बुद्ध के विरुद्ध आचरण करते रहे। कहा जाता है कि जिस दिन उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु-संघ में प्रवेश किया, उसी दिन से उनके मन में इस विचार ने घर बना लिया कि उनको संघ के सर्वोच्च-पद को सुशोभित करना है। अपनी इसी दुराकांक्षा के कारण वे बुद्ध के प्रति सदा ईर्ष्यालु बने रहे। जब बुद्ध वृद्ध हो चले तो उन्होंने उनसे संघ के नेतृत्व का त्याग करने को कहा।[४२] अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने राजगृह में बुद्ध की हत्या का भी तीन बार प्रयास किया। इस कार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए राजकीय धनुर्धरों को नियुक्त किया गया, पर बुद्ध के निकट जाकर उनका हृदय-परिवर्तन हो गया।[४३] तदनन्तर जब बुद्ध एक दिन चारिका के लिए नगर की ओर जा रहे थे, तो गृध्रकूट पर्वत के ऊपर से एक शिलाखंड गिराया गया; पर उससे केवल भगवान् के पैर का अँगूठा आहत हुआ, जिसकी चिकित्सा जीवक ने की। पुनः देवदत्त ने राजकीय फीलवानों को फुसलाकर नालागिरी नामक हाथी को सुरामदमत्त कर उसी मार्ग पर छोड़ देने का कुचक्र रचा जहाँ से बुद्ध को चारिका के लिए जाना था। परन्तु, सुरामदोन्मत्त नालागिरि भी जब बुद्ध के सन्मुख आया, तो वह नतमस्तक हो गया। चुल्लवग्ग में इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"भगवान् पूर्वाह्न समय बहुत से भिक्षुओं के साथ राजगृह में पिंडचार के लिए प्रविष्ट हुए। तब भगवान् उसी सड़क पर आये। फीलवानों ने भगवान् को उस सड़क पर आते देखा। देखकर नालागिरि हाथी को छोड़कर, सड़क पर कर दिया। नालागिरि हाथी ने दूर से भगवान् को आते देखा। देखकर सूँड़ को खड़ाकर, प्रहृष्ट हो, कान चलाते जहाँ भगवान् थे, उधर दौड़ा......तब भगवान् ने नालागिरि हाथी को मैत्री-(भावना)-युक्त चित्त से आप्लावित किया। नालागिरि हाथी भगवान् के मैत्री-(पूर्ण)-चित्त से स्पृष्ट हो, सूँड़ को नीचे करके, जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर खड़ा हो गया। भगवान् ने दाहिने हाथ से नालागिरि के कुम्भ को स्पर्श किया...। तब नालागिरी हाथी ने सूँड़ से भगवान् के चरण-रज को ले, सिर पर डाला...।"[४४]

भगवान् बुद्ध को मगध, अंग, कोशल आदि राज्यों में ब्राह्मणों के प्रतिरोध का भी सामना करना पड़ा था। जब सोणदण्ड,[४५] कूटदण्त,[४६] तथा अन्य ब्राह्मण महासाल बुद्ध के दर्शनार्थ गये, तो ब्राह्मणों ने उनसे अपना विरोध प्रकट किया। राजगृह के सञ्जय परिव्राजक ने अपने प्रमुख शिष्यों—सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान के समझाने पर भी बुद्ध के निकट जाना स्वीकार नहीं किया। कसिभारद्वाज ने प्रथम तो बुद्ध से तर्क किया, तदनन्तर वे उनके बड़े प्रशंसक बन गये।[४७] महावीर और गोसाल स्वभावतः बुद्ध-विरोधी थे। बुद्ध के समकालीन अन्य नास्तिकवादी भी उनके विरोधी थे। जातकों में नास्तिकों के बुद्ध-विरोध का वर्णन मिलता है। महापदुम-जातक के अनुसार बुद्ध के उपदेशों की लोकप्रियता के कारण पाखंडियों को गृहस्थों से जो सत्कार और दान अबतक मिलते रहे थे, वे बन्द हो गये। अतः उन्होंने भगवान् को बदनाम करने के प्रयत्न किये। मणिसूकर-जातक (२८५) में वर्णन मिलता है कि नास्तिकों ने बुद्ध को कलंकित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के लिए सुन्दरी नाम की एक स्त्री को नियुक्त किया। वही स्त्री नित्य भगवान् के दर्शनार्थ पुष्प, गंध, विलेपन आदि लेकर जाती और लोगों से कहा करती कि उसने रात भगवान् के पास बितायी। एक दिन पाखंडियों ने गुण्डों द्वारा सुन्दरी की हत्या करा कर उसके शव को बुद्ध के आवास के सामने फेंक दिया।[४८] इस कुचक्र से भी वे बुद्ध को कलंकित न कर सके, क्योंकि राजपुरुषों ने गुण्डों को पकड़ लिया और भयभीत हो गुण्डों ने सारी बात उगल दी। इससे बुद्ध की ख्याति और तेजी से बढ़ने लगी और नास्तिकों की बड़ी बदनामी हुई। इसी प्रकार की एक अन्य कहानी महापदुम-जातक (४७२) में है जिसके अनुसार पाखंडी गलियों के नुक्कड़ों पर खड़े होकर चिल्लाया करते थे—"उस तपस्वी गौतम बुद्ध में क्या रखा है? हम भी बुद्ध हैं, क्या वही दान फलदायक होता है जो गौतम को दिया जाता है? जो दान हमें दिया जायगा, उससे भी वही फल मिलेगा, अतः आपलोग हमें भी दान दें।" इसपर भी गृहस्थों से उन्हें सत्कार अथवा दान नहीं मिले, अतः क्रुद्ध होकर उन्होंने भगवान् को कलंकित करने के लिए कुचक्र रचा। इस प्रकार की कहानियों की पूर्ण सत्यता अविश्वसनीय है, इनमें सत्यांश इतना ही है कि नास्तिक पाखंडी बुद्ध-विरोधी थे, परन्तु उनके विरोध का बौद्ध-धर्म के प्रसार एवं बुद्ध की जन-प्रियता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

मगधराज बिम्बिसार और कोशल-नरेश प्रसेनजित् भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धालु थे और उन्होंने उनको अपना सहयोग प्रदान किया। प्रसेनजित् की पत्नी रानी मल्लिका भी बुद्ध की उपासिका थीं। बिम्बिसार तो भगवान् बुद्ध के मित्र ही थे, पर उनके पुत्र अजातशत्रु देवदत्त से प्रभावित होने के कारण बुद्ध के समर्थक नहीं थे। जब उन्हें कारागार में अपने पिता की मृत्यु हो जाने के कारण मानसिक अशांति रहने लगी, तो वे बुद्ध की शरण में गये।[४९] दीर्घ-निकाय के अनुसार अजातशत्रु को अन्ततोगत्वा भगवान् बुद्ध के उपदेशों से मानसिक शांति की उपलब्धि हुई। तब से वे बुद्ध के भक्त हो गये। बौद्ध साहित्य और कला ने उनको बुद्ध के उपासक के रूप में चित्रित किया है। अजातशत्रु को भगवान् बुद्ध के परिनिर्वृत्त होने पर उनके शरीरावशेष का अष्टम-भाग अपने हिस्से में प्राप्त हुआ, जिसकी पूजा के लिए उन्होंने राज-गृह में एक अस्थि-स्तूप का निर्माण करवाया। भगवान् के अस्थियों को मगध-राज अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अलकप्पा के बुलियों, वेठ्ठदीप के ब्राह्मणों, पावा के मल्लों, कुसिनारा के मल्लों तथा रामग्राम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के कोलियों के बीच समान विभाजित किया गया। इन सभी ने भगवान् बुद्ध के अस्थि-स्तूप बनवाये और इस प्रकार आठ अस्थि-स्तूपों का निर्माण हुआ।[५०] इन आठ अस्थि-स्तूपों के अतिरिक्त दो और स्तूप बने—द्रोण ब्राह्मण ने कुम्भ का (कुम्भ-स्तूप) और पिप्पलिवन के मौर्यों ने अंगारों का स्तूप बनाया। इस प्रकार कुल दस स्तूप बने।[५१] महावंश के अनुसार अजातशत्रु ने एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया और रामग्राम के स्तूप को छोड़कर अन्य सात स्तूपों से सात द्रोण अस्थियों का संग्रह कर उसमें स्थापित किया। पश्चात् इसी स्तूप के अस्थियों का वितरण अशोक ने अपने द्वारा निर्मित स्तूपों में किया।

बौद्ध संगीतियाँ—बौद्ध-ग्रंथों में बुद्ध-परिनिर्वाण के ढाई शताब्दियों के अन्दर ही तीन बौद्ध संगीतियों के वर्णन मिलते हैं। प्रथम संगीति बुद्ध-निर्वाण के शीघ्र पश्चात् अजातशत्रु के राज्यकाल में राजगृह में हुई, और दूसरी का आयोजन उसके एक शताब्दी बाद कालाशोक के राज्यकाल में वैशाली में हुआ। पालि-सूत्रों के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के शीघ्र पश्चात राजगृह में प्रमुख बौद्ध-भिक्षुओं की एक सभा महाकस्सप के सभापतित्व में आयोजित की गयी जिसमें धर्म और विनय के नियमों का संग्रह किया गया।[५२] इस संग्रह को थेरवाद, अर्थात् थेरों का मत अथवा बौद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों की संज्ञा दी गयी। इस संगीति में भाग लेने वाले प्रमुख भिक्षु थे—आनन्द, उपालि, अनुरुद्ध आदि, जो बौद्ध-मत के विभिन्न विषयों के प्रामाणिक ज्ञाता माने जाते थे।[५३]

बुद्ध-परिनिर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् कालाशोक शैशुनाग के शासन-काल में बौद्ध-भिक्षुओं की द्वितीय संगीति वैशाली में हुई।[५४] बौद्ध-परम्परानुसार भगवान् के परिनिर्वाण के अनन्तर सौ वर्षों तक तो बौद्ध-धर्म का मूलरूप अपरिवर्तित रहा, परन्तु वैशाली के भिक्षुओं के कारण एक बड़ा संघ-भेद हुआ। चुल्लवग्ग तथा दीपवंश के अनुसार वैशाली में बारह हजार भिक्षुओं ने एकमत होकर घोषित किया कि थेरवाद के दस निषेधों का उल्लंघन धर्म-संगत है। इस प्रकार के नियम-विरुद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति के निवारण हेतु वैशाली के कूटागारशाला में बड़ी संख्या में एकत्र होकर भिक्षुओं ने नियम-भंग करने वाले वज्जिपुत्र भिक्षुओं को संघ से वहिष्कृत कर दिया। इस पर वहिष्कृत भिक्षुओं ने एक संगीति का आयोजन कर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस संगीति के पश्चात् बौद्ध-संघ में भेद बढ़ता गया और भविष्य में नये मतों का प्रादुर्भाव हुआ। भेद की इस प्रवृत्ति का अन्त करने के लिए अशोक ने कड़े कदम उठाये। उन्होंने अपने राज्यकाल में पाटलिपुत्र में बौद्धों की तृतीय संगीति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का आयोजन किया। संघ-भेद को समाप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने अपने धर्मलेख के माध्यम से यह राजाज्ञा प्रसारित की कि भिक्षु अथवा भिक्षुणी जिसे संघ-भेद का दोषी पाया जायगा उसे संघ से निष्कासित कर दिया जायगा।

बुद्ध का कार्यक्षेत्र—बौद्ध-धर्म का प्रमुख गढ़ बना—बिहार, जहाँ से इस धर्म का प्रसार देश के विभिन्न भागों में हुआ। बिहार के अतरिक्त उत्तर प्रदेश के पूर्वी भूभाग में इसका विशेष प्रचार हुआ। पालि-पिटक के अनुसार भगवान् बुद्ध का कार्यक्षेत्र मज्झिम देश में सीमित रहा। अतः मज्झिम देश के सीमा निर्धारण से तथा भगवान् बुद्ध की पदयात्रा के विवरण के आधार पर बौद्ध-धर्म के प्रचार-क्षेत्र का सही अनुमान लगाना संभव है।[55] पूर्व दिशा में कजंगल (वर्तमान कंकजोल, जिला संथाल परगना) तक बुद्ध के जाने का उल्लेख मिलता है, अतः यही मज्झिम देश की पूर्वी सीमा होगी। भगवान् बुद्ध दक्षिण में हजारीबाग जिले की सललवती नदी के पार नहीं गये। दक्षिण-पूर्व में वे सुंसुमारगिरि, कौशाम्बी तथा अवन्ती गये। महावग्ग के अनुसार अवन्ती में बौद्धमतावलंबियों की संख्या न्यून थी। पश्चिम दिशा में बुद्ध मज्झिम-निकाय के अनुसार थुल्लकोट्ठित (कुरु राज्य में) तक गये थे, पर अंगुत्तर-निकाय में मथुरा तक ही उनके जाने का उल्लेख मिलता है। महावग्ग के अनुसार ब्राह्मणग्राम थूण (थानेश्वर) मज्झिम देश की पश्चिमी सीमा था। मज्झिम देश के उत्तरी सीमान्त में उसीरध्वज नामक पर्वत था जो हरिद्वार के निकट है। अतः पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में बौद्ध धर्म का प्रसार वर्तमान उत्तर प्रदेश की सीमा के पार नहीं हुआ। भगवान् बुद्ध के जीवन के पचीस वर्ष श्रावस्ती में व्यतीत हुए। पालि-निकाय में उनके धर्मोपदेशों तथा पदयात्राओं से सम्बद्ध जिन स्थानों के उल्लेख मिलते है, उनमें अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में पड़ते हैं, अतः यही भूभाग बौद्ध-धर्म का गढ़ था जहाँ से उसका प्रसार मध्य प्रदेश में उज्जैनी तक हुआ।

बौद्ध-मत के प्रमुख सिद्धान्त— भगवान् बुद्ध का लक्ष्य था मोक्ष का मार्ग बतलाना, अध्यात्मशास्त्र की जटिलताओं का तर्क की सहायता से समाधान ढूँढ़ना नहीं। वे तो संसार को ऐसा सरल धर्म-मार्ग बतलाना चाहते थे जिस-पर चलकर सभी मनुष्य सांसारिक कष्टों से मुक्ति पा सकें। लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत, लोक अन्तवान है या अनन्त, जीव और शरीर एक हैं या भिन्न, तथागत मरणोपरांत होता है या नहीं— इत्यादि दार्शनिक समस्याओं की व्याख्या बुद्ध ने नहीं की, क्योंकि उनके विचार में ये अर्थसंहित नहीं हैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और न ब्रह्मचर्य प्रवण ही।[५६] श्रावकों से पूछे जाने पर उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया। आचार-मार्ग के लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तर ज्ञान) संबोधि (परम ज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दुःख-निरोध) उत्पन्न करने में साधक न होने के कारण इन प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत (कथन के अयोग्य) बतलाया।[५७] इस विषय में उन्होंने एक अति सुन्दर यह दृष्टान्त दिया —'यदि कोई व्यक्ति विष-दिग्ध बाण से बिद्ध होकर पीड़ा से कराह रहा हो और उसके बन्धु-बान्धव चिकित्सा के लिए किसी वैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हों, तो क्या उस समय उस रोगी का वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि जानने का आग्रह करना बहुत बड़ी मूर्खता नहीं होगी ?' इसी प्रकार की दशा भवरोग से पीड़ित रोगियों की है। मनुष्य तो नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित है जिनसे मुक्ति पाने के लिए उसे एक आचारमार्ग की आवश्यकता है, न कि अध्यात्म की। अतः भगवान् बुद्ध ने उन प्रश्नों का जो दर्शन-शास्त्र के विषय हैं, उत्तर न देकर मोक्ष का उपाय बतलाया। पश्चात् जब बौद्ध दर्शन-शास्त्र संगठित हुआ तो दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर दिये गये।

भगवान् बुद्ध ने संसार जैसा है उसी रूप में उसके अस्तित्व को स्वीकार किया। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का निचोड़ चतुष्टय-आर्यसत्य है। भगवान् ने इन चार आर्य-सत्यों (चत्वारि आर्य-सत्यानि) का रहस्योद्घाटन किया[५८] —(१) दुःखम् (संसार में जीवन दुःखमय है), (२) दुःख-समुदाय (इन दुःखों के कारण विद्यमान हैं), (३) दुःख-निरोध (दुःखों से मुक्ति सम्भव है) तथा (४) दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा (दुःखों से निरोध के लिए उचित उपाय अथवा मार्ग हैं)। सत्यों की संख्या अनन्त है, पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण ये ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ हैं। इन सत्यों की तह तक आर्य अर्थात् विद्वज्जन ही पहुँच सकते हैं, अतः इनको आर्य कहा गया।

प्रथम आर्य-सत्य है दुःखम्। इस संसार में दुःख की सत्ता इतनी ठोस और स्थूल है कि उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। प्राणिमात्र किसी-न-किसी कष्ट से पीड़ित है। द्वितीय आर्य सत्य है दुःख-समुदाय, अर्थात् दुःखों के कारण विद्यमान हैं। दुःख की उत्पत्ति के यथाभूत ज्ञान के बिना दुःख-निरोध सम्भव नहीं। दुःख की उत्पत्ति का एक ही कारण नहीं है, परन्तु कारणों की एक लम्बी श्रृंखला है। इस कारण परम्परा की संज्ञा है, द्वादश-निदान। द्वादश-निदान का दूसरा नाम प्रतीत्य-समुत्पाद (हेतु-परम्परा) है। यह बौद्ध-धर्म का मूल-सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है— किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति, अर्थात् सापेक्ष कारणवाद। ये द्वादश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निदान हैं[59]—(१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। इनमें प्रत्येक पूर्व-निदान का कारण पर-निदान है। जरामरण का कारण है जाति, जन्म लेना। जाति का कारण है भव, अर्थात् प्राणिमात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म। भव की उत्पत्ति होती है उपादान, अर्थात् आसक्ति से। उपादान भी अनेक हैं, जैसे—कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शीलोपादान (व्रतों में आसक्ति), आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)। कामोपादान से बढ़कर है शीलोपादान और उससे बढ़कर है आत्मोपादान। आसक्ति का कारण है तृष्णा (इच्छा)। तृष्णा उत्पन्न होती है इन्द्रियों द्वारा बाह्यार्थानुभव से, अतः वेदना (इन्द्रिय-जन्य अनुभूति) ही तृष्णा की जननी है। वेदना का स्रोत है स्पर्श, अर्थात् विषयेन्द्रिय सम्पर्क और स्पर्श की उत्पत्ति होती है षडायतन (मन सहित ज्ञानेन्द्रिय पंचक) से। षडायतन नामरूप— दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित स्थान-विशेष का कार्य है। नामरूप की सत्ता विज्ञान (चैतन्य) पर प्रतिष्ठित है। यह चित्तधारा या चैतन्य मातृगर्भ से भ्रूण के नाम-रूप का साधक है। विज्ञान उत्पन्न होता है संस्कार (पूर्वजन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार) से जो स्वयं अविद्या (अज्ञान) का कार्य है। इस प्रकार समस्त दुःखों का मूल कारण है, अविद्या। द्वादश निदानों के इस चक्र की संज्ञा भवचक्र है।[60]

तृतीय आर्य-सत्य है दुःख-निरोध, अर्थात् निर्वाण। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। अतः यदि कारण-परम्परा का निरोध कर दिया जाय, तो कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। दुःखों का आद्य कारण अविद्या है, जिसका विद्या द्वारा निरोध कर देने पर दुःख-निरोध हो जाता है।

चतुर्थ आर्य-सत्य है दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्, अर्थात् निर्वाण-मार्ग। भगवान् बुद्ध ने न तो सांसारिक सुखोपयोग में जीवन व्यतीत करने वाले सुख-मार्गियों के मार्ग को, और न कठोर व्रताचरण से शरीर को सुखाने वाले तापसों के मार्ग को, निवार्ण के लिए सहायक माना। उन्होंने सुख-दुःख के उभय छोरों का त्यागकर 'मध्यम प्रतिपदा' का प्रतिपादन किया। इस प्रतिपद् को 'आर्य-अष्टांगिक मार्ग' भी कहते हैं।[61] ये अष्टांग हैं—(१) सम्यक्-दृष्टि (आर्य सत्यों का तत्त्वज्ञान), (२) सम्यक्-संकल्प (दृढ़ निश्चय), (३) सम्यक्-वचन (सत्य-वचन), (४) सम्यक्-कर्मान्त (हिंसा-द्रोह-दुराचरण-रहित कर्म), (५) सम्यक्-आजीव (न्यायपूर्ण जीविका), (६) सम्यक्-व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

देना तथा उपकार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना), (७) सम्यक्-स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि, अनित्य-रूप की उपलब्धि तथा लोभादि चित्त-संताप से दूर होना), (८) सम्यक्-समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व-विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। इस अष्टांगिक मार्ग के सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

भगवान् बुद्ध ने जो मोक्ष-मार्ग बतलाया वह उपनिषद्-प्रतिपादित मार्ग से सर्वथा भिन्न नहीं है। उन्होंने ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया और सर्व दुःखों का मूल अज्ञान को माना। ज्ञान के बिना मुक्ति की कल्पना बुद्ध ने नहीं की, परन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर को उसके धारण के योग्य बनाना आवश्यक होता है। ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है, अतः बुद्ध ने शील के आचरण द्वारा शरीर-शुद्धि पर बल दिया। शील का तात्पर्य समग्र सात्विक कर्मों से है और बौद्ध-धर्म में गृहस्थ तथा भिक्षु दोनों के लिए कतिपय शीलों का पालन करना कर्त्तव्य माना गया है।[६२] गृहस्थ के लिए पंचशील का विधान मिलता है, पर भिक्षु के लिए दसशील का। गृहस्थ के पंच-शील हैं— प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान-विरति, काम-मिथ्याचार-विरति, मृषावाद-विरति तथा सुरा-मैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति।[६३] शीलों के साथ समाधि और प्रज्ञा के सेवन पर भी बुद्ध ने बल दिया। सामञ्ञफलसुत्त में चार प्रकार की समाधि का दृष्टांत-सहित वर्णन उपलब्ध होता है। प्रज्ञा तीन प्रकार की बतलायी गयी है— श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी। भगवान् बुद्ध ने कहा कि प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान-दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म-स्मरण और दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःखक्षय का ज्ञान हो जाता है। जब चित्त कामाश्रव (भोगने की इच्छा), भवाश्रव (जन्म लेने की इच्छा) तथा अविद्याश्रव (अज्ञान-मल) से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, तब साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। शील, समाधि और प्रज्ञा[६४] को बौद्ध-दर्शन में त्रिरत्न की संज्ञा दी गयी है और इन तीन शब्दों में ही बुद्ध के उपदेशों का सारांश अभिव्यक्त होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

११

जैन-मत, आजीविक-मत तथा पूरण-कस्सप, पकुध-कच्चायन, संजय-वेलट्ठिपुत्त और अजित-केसकम्बली के मत

जैनमत का विकास एवं प्रसार—जैन-मत बौद्ध-मत से अधिक प्राचीन है। भगवान् बुद्ध बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक थे, पर उनके समकालीन वर्द्धमान् महावीर जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। जैन-परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर थे ऋषभदेव, और तेईसवें थे पार्श्वनाथ।[१] शेष तीर्थकरों के क्रमशः ये नाम मिलते हैं— अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांशनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनि-सुव्रत, नमिनाथ तथा नेमिनाथ (अरिष्ट नेमिनाथ)।[२] इन तीर्थंकरों के जीवन-चरित जैन-सूत्रों तथा जैन गुरुओं द्वारा रचित चरित्रों में उपलब्ध हैं।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका आदिनाथ नाम भी मिलता है। कहा जाता है कि उन्हीं के पुत्र प्रसिद्ध दार्शनिक राजा भरत अथवा जड़भरत थे।[३]

प्रोफेसर जकोबी तथा कतिपय अन्य विद्वानों के मतानुसार पार्श्वनाथ ही जैन-मत के वास्तविक प्रवर्तक थे। वे महावीर के परिनिर्वाण से २५० वर्ष पूर्व परिनिर्वृत्त हुए थे।[४] वे काशिराज अश्वसेन तथा रानी वामा के पुत्र थे। जब वे गर्भ में थे उस समय एक दिन जब उनकी माता अंधेरे में लेटी हुई थीं, तो उन्होंने एक कृष्ण-नाग को अपने पार्श्व में रेंगते हुए देखा, अतः उनके पुत्र का नाम पार्श्वनाथ रखा गया। बड़े होने पर पार्श्वनाथ एक कुशल योद्धा हुए। उन्होंने कलिंगराज को पराजित कर अपने रणकौशल का परिचय दिया। उनका विवाह अयोध्या की राजकुमारी प्रभावती से संपन्न हुआ। तीस वर्ष की उम्र तक सुख-वैभव का गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करने के अनन्तर पार्श्वनाथ प्रव्रजित हो गये। ८३ दिनों की कठोर तपस्या के पश्चात् ८४वें दिन उन्हें कैवल्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई। तदनन्तर वे ७० वर्षों तक अपने मत का उपदेश देते रहे और सौ वर्ष की परिपक्व उम्र में उन्होंने पार्श्वनाथ की पहाड़ी में निर्वाण प्राप्त किया।[५]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावीर का जन्म वैशाली के उपनगर कुण्डग्राम के एक ज्ञातृकुल में हुआ था।[६] पालि-निकाय में इनका उल्लेख निगण्ठ नातपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के नाम से मिलता है।[७] महावीर ने भी बुद्ध के समान सांसारिक सुख-वैभव का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लिया। संसार का त्याग कर वे कठोर तपश्चर्या करने लगे जिसका विस्तृत वर्णन आचारंग-सूत्र में मिलता है।[८] वे वन-प्रदेशों में भ्रमण करते रहे जहाँ जंगली जातियाँ निवास करती थीं। उन जंगली जातियों ने उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं। संभवतः वे छोटानागपुर के उत्तरी भाग के जंगली क्षेत्रों में पद-यात्रा करते रहे। बीच-बीच में राजगृह में उनका आगमन हो जाता था और वहाँ उनका समुचित सत्कार किया जाता था। इसी क्रम में वे नालन्दा भी गये। वहाँ उनकी भेंट आजीविक-मत के प्रवर्तक मक्खलि गोसाल से हुई और दोनों कतिपय वर्षों तक साथ रहे भी। महावीर को बारह वर्षों के कठिन तपोमय जीवन के अनन्तर तेरहवें वर्ष में कैवल्य की उपलब्धि हुई।[९] उस समय उनकी वय बयालीस वर्ष थी। यहाँ से उनके जीवन के प्रमुख अध्याय का आरम्भ हुआ। जिनत्व प्राप्त कर महावीर निगण्ठ सम्प्रदाय के प्रमुख हो गये। उन्होंने जैन-संघ को सुसंगठित किया। कहा जाता है कि उनके अनुयायियों में प्रमुख थे १४ हजार जैन मुनि। इनमें भी प्रमुख थे, उनके ग्यारह शिष्य, जो गणधर कहे जाते थे। इन गणधरों में दो—गौतम तथा सुधर्म महावीर के निर्वाण के अनन्तर भी जीवित रहे।[१०] भगवान् महावीर ने तीस वर्षों तक घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार किया था, पर इस विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। कल्पसूत्र के अनुसार उन्होंने राजगृह, नालन्दा, चम्पा, वैशाली, मिथिला तथा श्रावस्ती में वास किया था।[११] पालि-सूत्रों के अनुसार महावीर तथा उनके अनुयायियों के प्रमुख कार्यक्षेत्र थे—राजगृह, नालन्दा वैशाली, पावा और श्रावस्ती।[१२] उनका निर्वाण भी पावा नामक स्थान में हुआ[१३] जो राजगृह के निकट जैनियों का प्रमुख तीर्थ है। इस प्रकार जैन-धर्म का प्रसार बौद्ध-धर्म की तुलना में अधिक सीमित क्षेत्र में हो पाया।

भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग को श्रेयस्कर माना, परन्तु महावीर ने कठोर तप का मार्ग अपनाया। अतएव बौद्ध एवं जैन मतों में नैसर्गिक विरोध है। बुद्ध ने शरीर को कष्ट पहुँचाने के कारण निगण्ठों की निन्दा की; उनको मिथ्याजीवी कहा।[१४] बुद्ध के विरोध के फलस्वरूप महावीर के धर्म-प्रचार में विघ्न हुआ। बुद्ध ने महावीर के उपासक लिच्छवि-सेनापति को बौद्ध बनाया।[१५] अजातशत्रु संशयोच्छेदन के लिए महावीर के निकट गये, किन्तु उन्हें उनसे कोई संतोषप्रद

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्तर नहीं मिल सका, जिससे वे बुद्ध की शरण में चले गये।[१६] राजगृह में उपालि नाम का एक निगण्ठ था। वह बुद्ध से शास्त्रार्थ करने लगा पर शीघ्र ही उसका मुँह बन्द हो गया। इस पर उसने महावीर से अशिष्ट व्यवहार किया जिससे मर्माहत हो उन्होंने रक्त वमन किया।[१७] इस तरह पालि-सूत्रों में निगण्ठों को बौद्धों से नीचा दिखलाया गया है, पर बुद्ध और महावीर के प्रत्यक्ष विरोध का उल्लेख नहीं मिलता। दोनों की प्रतिस्पर्धा के विषय में पर्याप्त सूचना का अभाव है जिससे प्रतीत होता है कि उनमें अधिक वैर नहीं था। दोनों ही आजीविकों को सबसे बुरा मानते थे। महावीर के सबसे प्रबल शत्रु थे—मक्खलि गोसाल। जैनियों तथा आजीविकों के रहन-सहन में बड़ा साम्य था। दोनों नग्नता तथा सांसारिक सुख-सुविधा के त्याग का समर्थन करते थे। कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व महावीर कई वर्षों तक गोसाल के साथ रहे भी। पश्चात् दोनों के सम्बन्ध के विषय में अधिक बातें ज्ञात नहीं हैं। संभवतः इनके अनुयायी आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। भगवती-सूत्र में महावीर और गोसाल के अंतिम मिलन का विस्तृत विवरण मिलता है। जब तीर्थंकर महावीर श्रावस्ती गये तो उनके एक शिष्य से गोसाल ने कहा—'यदि महावीर मेरी निंदा करना बन्द नहीं करेंगे तो उन्हें खाक में मिला दिया जायगा।'[१८] इसे सुनकर महावीर ने अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वे आजीविकों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखें। जब गोसाल ने यह सुना तो वे क्रोधावेश में आकर महावीर के निकट गये और अपने नियतिवाद के सिद्धान्त की व्याख्या करने लगे। महावीर ने उनसे कहा कि उनकी दशा ठीक उस मछली के समान है जो ग्रामीणों द्वारा पीछा किये जाने पर व्यर्थ छिपने का प्रयत्न करती है। इस आक्षेप को सुनकर उनका क्रोध और भी भड़क उठा; उन्होंने महावीर को शाप दिया और उनपर मंत्र-प्रयोग भी किया, पर सब व्यर्थ। फल यह हुआ कि महावीर की मंत्र-शक्ति के कारण सातवें दिन ही गोसाल की मृत्यु हो गयी।[१९]

गोसाल के देहावसान के पश्चात् सोलह वर्षों तक महावीर जीवित रहे।[२०] संभवतः अपने प्रबलतम विरोधी के समाप्त हो जाने के कारण महावीर को धर्म-प्रचार में सुविधा हो गयी। जैन-सूत्रों के अनुसार बिम्बिसार और अजातशत्रु महावीर के उपासक थे। इन शासकों ने जैनमत का आदर किया। इनमें धार्मिक सहिष्णुता थी और इन्होंने बौद्धों तथा जैनियों का समान आदर किया। वस्तुतः उन दिनों बौद्ध और जैन हिन्दू धर्म और समाज के अभिन्न अंग माने जाते थे। बिम्बिसार और अजातशत्रु ने बुद्ध के उपासक होने पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी महावीर का कभी अनादर नहीं किया। जैनियों के प्रति अजातशत्रु ने अपने पिता की अपेक्षा अधिक उदारता दिखलायी। जैन-सूत्रों के अनुसार वे वैशाली और चम्पा में महावीर का प्रायः दर्शन करते थे।[२१] जब महावीर ने त्याग और अहिंसा पर आधारित अपने सत्य-धर्म की व्याख्या की, तो उन्होंने उनपर अपनी अपार निष्ठा व्यक्त की। जैन-ग्रंथों में अजातशत्रु को पितृघातक नहीं कहा गया है। अजातशत्रु के पुत्र उदायि जैनमत के प्रमुख आश्रय-दाता हुए। परिशिष्टपर्वन् के अनुसार उन्होंने पाटलिपुत्र नगर के मध्य में एक जैन-मन्दिर का निर्माण करवाया।[२२] इस प्रकार उनके राज्यकाल में जैन-मत के लिए अनुकूल वातावरण बन गया था। उनके प्रासाद में भी जैन-भिक्षु निर्बाध प्रवेश करते थे और इसीका लाभ उठाकर किसी व्यक्ति ने जैन-श्रमण के छद्मवेश में राजा की हत्या कर दी।[२३] तदनन्तर नन्दवंशी राजाओं ने भी जैन-मत का अनादर नहीं किया। संभवतः वे जैन-मतावलम्बी थे, अतः एक नन्द राजा ने कलिंग पर आक्रमण करके वहाँ से भगवान् जिन की प्रतिमा को पाटलिपुत्र स्थानान्तरित कर दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी जैन-धर्म का समादर किया। जैन-परम्परानुसार वे जैन-धर्मावलंबी थे। इस प्रकार पूर्व भारत में जैन-धर्म को पनपने का उपयुक्त वातावरण मिला और सदियों तक इसकी प्रतिष्ठा बनी रही। पश्चात् जैन धर्म का मुख्य क्षेत्र पश्चिम भारत हो गया।

जैन-मत के प्रमुख सिद्धान्त—जैन-दर्शन के दार्शनिक ग्रंथों की बहुलता है, पर भगवान् महावीर के उपदेश अपने मूल-रूप में हमें उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि जैन-धर्म के आगम-ग्रंथों की रचना महावीर के निर्वाण के कई सौ वर्ष पश्चात् हुई। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के परम्परानुसार इनका अंतिम संशोधन इसवी सन की ६ठी शताब्दी में वलभी में हुआ। जैन-दर्शन की सुव्यवस्था का प्रारंभ ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में किया गया। इस काल में तीन विद्वानों— उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य तथा सामन्तभद्र ने जैन-धर्म की दार्शनिक नींव को दृढ़ किया। उमास्वाति[२४] मगधवासी थे। इन्होंने अपना प्रख्यात ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र तथा तत्त्वार्थाधिगम की रचना की। कुन्दकुन्दाचार्य दक्षिण के प्रसिद्ध जैन-आचार्य थे।[२५] इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें तीन ग्रंथ— पंचास्तिकायसार, समयसार तथा प्रवचनसार को जैन तत्त्व-ज्ञान में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के समकक्ष माना जाता है।

पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों— अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह के सेवन का उपदेश दिया।[२६] इन्होंने अपने अनुयायियों को एक अधोवस्त्र और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एक उत्तरीय धारण करने की अनुमति भी दी थी, परन्तु महावीर कठोर तपश्चर्या के हिमायती थे, अतः उन्होंने वस्त्र-धारण तक का निषेध किया। उन्होंने पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों में ब्रह्मचर्य भी जोड़ दिया और पाँच महाव्रतों का प्रतिपादन किया। जैन-परम्परानुसार पार्श्वनाथ के केशिन् नामक अनुयायी और महावीर में इस विषय पर विचार-विमर्श भी हुआ कि पार्श्वनाथ तथा महावीर की शिक्षा की असमानता को दूर किया जाय, परन्तु भिक्षुओं को वस्त्र-धारण की अनुमति दी जाय अथवा नहीं, इस पर वे एकमत न हो सके।[27] इसी प्रश्न पर अवान्तर-काल में जैनियों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर, दो सम्प्रदाय हो गये।

भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह है—कल्प-सूत्र तथा आचारंग-सूत्र में। पालि-निकाय में भी प्रसंगवश उनके उपदेशों का उल्लेख हुआ है। दीघ-निकाय में महावीर द्वारा प्रतिपादित निगण्ठ-मत के चातुर्याम-संवर सिद्धान्त का उल्लेख है।[28] इस सिद्धान्त के अनुसार निगण्ठ चार प्रकार के संवरों से संवृत (आच्छादित, संयत) रहता है—१. वह जल के व्यवहार का वारण करता है (जिसमें जल के जीव न मारे जायँ), २. सभी पापों का वारण करता है, ३. सभी पापों के वारण करने से धुतपाप (पाप रहित) होता है, ४. सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। महावीर ने बतलाया कि निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत होने के कारण निर्ग्रन्थ, गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।

मोक्ष-मार्ग—जैन-धर्म में मोक्ष के तीन साधन बतलाये गये हैं[29]—(१) सम्यक्-दर्शन, (२) सम्यक्-ज्ञान तथा (३) सम्यक्-चारित्र्य। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, अतः मुमुक्षु का प्रधान साधन है—सम्यक्-श्रद्धा। दूसरा साधन है—सम्यक्-ज्ञान। श्रद्धा के समान ही समस्त सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। पुनः सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-ज्ञान की चरितार्थता सम्यक्-चारित्र्य में ही सम्पन्न होती है। इन मोक्षोपयोगी तीनों साधनों को जैन-दर्शन में रत्न-त्रय की संज्ञा दी गयी है।[30]

जैन-दर्शन में मनुष्य के व्यक्तित्व को द्वैत माना गया है— द्रव्यमय और जीवमय। जीव निसर्गतः मुक्त है, परन्तु वासनाजन्य-कर्म उसके शुद्ध-स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। ये कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं। कुछ कर्म ज्ञान को आवृत्त किये हुए हैं, कुछ दर्शन को और कुछ मोह उत्पन्न करने के साधन बने हुए । इस प्रकार ये कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं— ज्ञानावरणीय,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय।[३१] जब जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध-विच्छेद होगा, तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी, तब जीव जिन (विजयी) हो जायगा, वह पूर्णमुक्त एवं आनन्दमय हो जायगा। जैन-धर्म आजीविकों से समान मनुष्य को अनुत्तरदायी नहीं मानता है। वह तो इसमें विश्वास करता है कि मनुष्य स्वयमेव अपने सुख-दुःख के लिए उत्तरदायी है।[३२] पालि-निकाय में महावीर को क्रियावाद सिद्धान्त का प्रतिपादक बतलाया गया है।[३३]

उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को ही मोक्ष कहा है।[३४] जब जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को पा लेता है तो उसमें अनन्त-चतुष्टय— अनन्त-ज्ञान, अनन्त-वीर्य अनन्त-श्रद्धा और अनन्त-शान्ति की उत्पत्ति होती है। यही कैवल्य की अवस्था है। कैवल्य-प्राप्त व्यक्ति इस पृथ्वी पर निवास करता हुआ समाज के परम कल्याण के कार्यों में संलग्न रहता है, परन्तु सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु को आध्यात्मिक विकास के मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। उसका आध्यात्मिक विकास सद्यः नहीं हो जाता है। उसको मोक्ष-मार्ग के विभिन्न गुणस्थानों (सोपानों)[३५] को पार करते हुए लक्ष्य तक पहुँचना पड़ता है। जैन-दर्शन में इन गुणस्थानों की संख्या चौदह है। जब साधक अनन्त-ज्ञान तथा अनन्त-सुख से देदीप्यमान हो उठता है, तो वह तीर्थंकर कहलाता है और उसमें उपदेश देने तथा धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित करने की योग्यता आ जाती है। उससे ऊपर आयोग-केवल है जो अंतिम अवस्था है। इस अवस्था में पहुँच कर साधक ऊपर उठने लगता है और वह लोकाकाश-आलोकाकाश के मध्य सिद्धशिला नामक सिद्धों की नितान्त पवित्र निवास-भूमि में पहुँच जाता है। वह अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त कर चरमशान्ति का अनुभव करता है। यही साधकों की चरम मुक्तावस्था मानी गयी है।

स्याद्वाद—जैन-दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद अथवा सप्तभंगी नय है।[३६] जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है। समस्त वस्तु-धर्मों का यथार्थ-ज्ञान तो उसी व्यक्ति को हो सकता है जिसने कैवल्यपद को प्राप्त कर लिया है। साधारण मानव तो वस्तु के एक धर्म मात्र को ही जानने का सामर्थ्य रखता है। अतः उसका ज्ञान आंशिक रहता है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक के ज्ञान की संज्ञा 'नय' है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार का हो सकता है— दुर्णय, नय तथा प्रमाण।[३७] यदि विद्यमान वस्तु को हम विद्यमान ही बतलावें तो इसके अन्य प्रकारों का निषेध होने के कारण यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञान दुर्णय होगा। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किये यदि वस्तु को सद् बतलाया जायगा तो यह आंशिक ज्ञान संवलित होने के कारण नय कहलायगा। किन्तु, प्रमाण इन सबसे भिन्न होता है। विद्यमान वस्तु के विषय में संभवतः यह सद् है, अर्थात् स्यात् सत् कहने से ही वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात धर्मों का संकलन होता है, अतः यह प्रमाण की कोटि में आता है। अतएव प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के लिए स्यात् विशेषण जोड़ना आवश्यक है। जैन-न्याय में सत्ता के सापेक्ष-रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना गया जिसे सप्तभंगी नय कहते हैं। इसका रूप इस प्रकार है—

१. स्यादस्ति (संभवतः अ ब है)

२. स्यान्नास्ति (संभवतः अ ब नहीं है)

३. स्यादस्ति च नास्ति च (संभवतः अ ब है और संभवतः नहीं है)

४. स्याद् अवक्तव्यम् (सभवतः अ वर्णनातीत है)

५. स्यादस्ति च अवक्तव्यं च (संभवतः अ ब है और वर्णनातीत भी है)

६. स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (संभवतः अ ब नहीं है और वर्णनातीत भी है)

७. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (संभवत अ ब है, ब नहीं भी है और वर्णनातीत भी है)

सप्तभंगी नय का यह स्वरूप महावीर के निर्वाणोपरान्त विकसित हुआ, पर भगवतीसूत्र में उनके मुख से स्यादस्ति, स्यान्नास्ति तथा स्याद् अवक्तव्यः की व्याख्या करायी गयी है। महावीर को इसकी प्रेरणा उपनिषदों से मिली, क्योंकि उपनिषदों में ब्रह्म कहीं सत्, कहीं असत्, कहीं उभयात्मक बतलाया गया है। इन मतों के आधार पर ही अवान्तर-काल में सत्ता को अनेकान्त मानने की कल्पना की गयी होगी। बुद्ध-काल में भी अनेकान्तवाद पर विश्वास करनेवाले दार्शनिक विद्यमान थे। सञ्जय वेलट्ठिपुत्त का मत भी स्याद्वाद के अनुरूप ही था। उन्होंने परलोक के अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों की सत्ता के विधान तथा प्रतिषेध में अपने को असमर्थ बतलाया। दीघ-निकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त में अमराविक्खेपिक (अमराविक्षेपवाद) नामक दार्शनिकों के मत की चर्चा की गयी है जो वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व की स्थिति तथा अभाव के विषय में एक मत को स्वीकार न करके अनेक मतवाद की पुष्टि किया करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन-दर्शन में सत् के स्वरूप का विवेचन अन्य दर्शनों से भिन्न प्रकार से किया गया है। जैन-दर्शन प्रत्येक पदार्थ के दो अंशों को मानता है—शाश्वत तथा अशाश्वत। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य है और अशाश्वत के कारण वह अनित्य है अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील है। उभयांशों के निरीक्षण पर ही सर्वांगीण सत्यता अवलंबित है, अतः प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने वाला तथा नष्टवान् होने के साथ-साथ स्थिर होने वाला भी है (उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्—त० सू० ५।२९)। जैन-दर्शन जगत् के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को स्वीकार करता है और वह मानता है कि जितना जगत् का नानात्व वास्तविक है, उतना ही उसका एकत्व भी।

जैन-दर्शन नौ पदार्थों की सत्ता को मानता है। ये हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष।[३८] दर्शन का विषय होने के कारण इन पर विशेष विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं समझा गया।

आजीविक-मत—जैन-धर्म के समान ही आजीविक-मत बौद्ध-धर्म से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है, परन्तु इसका बुद्धकाल-पूर्व का इतिहास अज्ञात है।[३९] बुद्धकाल में बौद्ध तथा जैन धर्मों के समान आजीविक-मत के बिहार तथा उत्तर प्रदेश में प्रचार के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस मत के प्रमुख प्रचारक मक्खलि गोसाल, बुद्ध तथा महावीर के समकालीन थे और उन दिनों उनको भी समाज में आदर प्राप्त था। वे प्रायः श्रावस्ती में वास करते थे, पर अपने मत के प्रचार के लिए मगध तक भ्रमण करते थे। इसी क्रम में उनकी भेंट महावीर से हुई और दोनों कई वर्षों तक नालन्दा में साथ रहे।[४०] कुछ विद्वानों के मत में आजीविक-मत का ही उपदेश सर्वप्रथम मागधी प्राकृत भाषा में हुआ।[४१] मगध के कई आजीविकों का उल्लेख पालि-पिटक में मिलता है। नालन्दा के निकटवर्ती नाल ग्राम में जन्म पाये उपक नामक आजीविक से बुद्ध की भेंट गया जाने के मार्ग में हुई थी।[४२] राजगृह के एक रथकार के पुत्र पाण्डुपुत्र भी आजीविक थे।[४३] बिम्बिसार के एक सकुल्य ने भी आजीविक-मत की दीक्षा ली थी।[४४] इस बात के भी उल्लेख मिलते हैं कि आजीविक-सम्प्रदाय के तापस मगध, विदेह, चम्पा आदि नगरों में घूमा करते थे।[४५] भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की सूचना कहाकस्सप को एक आजीविक द्वारा मिली थी।[४६] एक जातक कथा में गुणकस्सप नामक आजीविक का उल्लेख मिलता है जिसने मिथिला में एक आश्रम स्थापित किया था।[४७] अशोक के धर्म-लेखों में ब्राह्मणों तथा श्रमणों के साथ आजीविकों का भी सादर उल्लेख किया गया है। अशोक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा उनके पौत्र दशरथ ने उनके निवास के लिए बराबर की पहाड़ी में गुहाओं का निर्माण भी करवाया। इन सबसे प्रमाणित होता है कि मौर्य-काल तक मध्यदेश में आजीविक-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बनी रही।

बौद्धों एवं जैनियों के समान आजीविक-सम्प्रदाय में भी दो वर्ग थे—उपासक तथा तापस। उदाहरणार्थ, पाण्डुपुत्र जो राजगृह के एक रथकार के पुत्र थे, एक आजीविक उपासक थे। मज्झिम-निकाय में वर्णन मिलता है कि वे अपने पिता की कर्मशाला में रथ-निर्माण-कार्य को ध्यानपूर्वक देख रहे थे।[४८] बिंदुसार की राजसभा में एक आजीविक ज्योतिषी नियुक्त किया गया था।[४९]

जैनियों तथा आजीविकों के वैरभाव का ऊपर उल्लेख किया गया है। बौद्ध भी आजीविकों के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे। पालि-निकाय में बौद्धों ने उनके लिए श्रद्धा के शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। वे उनको मिच्छाजीवो, आजीविकानं मिच्छातपं, आजीकनञ्ञ-एव अनुच्छैरिक आदि कहा करते थे जो उनके आजीविक द्वेष के द्योतक हैं।[५०]

मक्खलि गोसाल नियतिवादी थे।[५१] वे मानते थे कि सभी सत्त्व (जीव) अवश हैं, अवीर्य हैं। उनमें न बल है, न वीर्य है, न पुरुष-पराक्रम है, न हेतु है, न सत्त्वों के संक्लेश का प्रत्यय (हेतु)। सत्त्व अहेतुक क्लेश भोगते हैं और बिना हेतु-प्रत्यय के विशुद्ध होते हैं। वे कहते थे कि बाल और पण्डित, सब सत्त्व-संसरण कर दुःख का अन्त करते हैं। इसे संसार-शुद्धि कहते हैं। उनका कहना था कि सृष्टि में चौरासी लाख कल्प (योनियाँ) हैं, जिनमें मूर्ख और विद्वान् समान रूप से संसरण कर अन्त में दुःख की इति करते हैं। विद्वान् और मूर्ख कोई भी कर्म से छुटकारा नहीं पा सकता—इसमें न वृद्धि की जा सकती है और न कमी। सभी पूर्वनियत हैं। जिस प्रकार रज्जु से बँधे किसी गेंद को फेंका जायगा, तो वह उतनी ही दूरी तक जायगा जितनी लम्बी रस्सी होगी, इसी प्रकार मूर्ख और पंडित दोनों नियत-काल तक सत्त्व-संसरण करते हुए दुःख का अन्त करते हैं।

महानारदकस्सप-जातक में भी नियतिवाद के मत का उल्लेख है। मिथिला से अविदूर मृगवन में गुणकस्सप नामक एक आजीविक-तापस अपनी शिष्य-मंडली के साथ वास करते थे। वहाँ की जनता उनका बड़ा सम्मान करती थी। एक दिन उन्होंने विदेहराज अंगीति को अपने सिद्धान्तों का उपदेश देते हुए कहा—'हे राजन्, धर्म के आचरण से भला अथवा बुरा कोई फल नहीं मिलता है; परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है—कौन व्यक्ति वहाँ से लौटकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहाँ आया है ? सभी जीव समान हैं, न किसी से सत्कार लेना चाहिये न किसी को देना। शक्ति या साहस नाम की कोई चीज नहीं है—शौर्य अथवा वीर्य हो ही कैसे सकता है जब कि सभी नियति के वश में हैं, जैसे कि नाव में बँधी रस्सी ? सभी प्राणियों को जो मिलना चाहिए वह मिल जाता है, फिर दान से क्या लाभ ? दान से कुछ लाभ नहीं होता है—दाता असहाय तथा दुर्बल होता है, जो दाता है वह मूर्ख है, दान लेने वाला ही चतुर है।'[५२] गुणकस्सप भी मक्खलि गोसाल के समान संसार-शुद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनके मत में न तो कोई नष्ट करने वाला है और न कोई नष्ट होने वाला, चौरासी महाकल्प हैं जिनमें सभी को भ्रमण करना ही पड़ता है जिसके अंत में जीव शुद्ध हो जाता है। सभी नियति द्वारा संचालित हैं—जिस प्रकार समुद्र का जल अपने तट तक जाकर लौट आता है उसी प्रकार हम सभी नियति के वश में हैं। इसी जातक में गुणकस्सप के मत का खंडन विदेह राजकुमारी रूजा द्वारा कराया गया है। राजकन्या ने उस तापस को कहा— 'यदि जीव सत्त्व-संसरण द्वारा ही शुद्ध होता है तो फिर तप का क्या अर्थ है ? नियतिवाद पर विश्वास करने वाला यदि तपस्या करता है तो उसकी दशा तो उस शलभ जैसी हो जाती है जो जलते दीपक का आलिंगन करता है। नियतिवाद पर विश्वास कर अपनी महान् मूर्खता के कारण ही कई लोग अपने कर्मों का विनाश कर बैठते हैं और वे अपने पूर्व पापों के प्रभाव से बंशी में फँसे मछली से समान अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं।'[५३]

पूरण कस्सप—पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप) और पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन) के द्वारा प्रतिपादित वाद भी मक्खलि गोसाल के नियतिवाद के समान था।[५४] तमिल साहित्य में इनका सम्बन्ध आजीविक-मत से बतलाया गया है।[५५] सम्भवत: विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण आजीविक-मत में कई सम्प्रदाय हो गये थे। सामञ्ञफल-सुत्त में पूरण कस्सप का उल्लेख एक ख्यातिप्राप्त धर्माचार्य के रूप में मिलता है। वे अक्रियावाद के प्रवर्तक थे। इस मत के अनुसार मनुष्य का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। न तो छेदन करना या कराना, प्राणिहिंसा, बिना दिये लेना, सेंध मारना, गाँव लूटना, चोरी, बटमारी, परस्त्रीगमन, मिथ्या-भाषण आदि कर्म करने से मनुष्य कोई पाप करता है और न यज्ञ, दान, संयम तथा सत्य-भाषण से ही कोई पुण्य मिलता है।

पकुध कच्चायन—पकुध कच्चायन में अकृततावाद के मत का प्रतिपादन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया[५६] जिसके अनुसार न तो कोई स्रष्टा है, न कोई सृष्टि ही। इनके मत में सात काय (समूह) अकृत (अनियमित), अवश (कूटस्थ) तथा स्तम्भवत् (अचल) हैं। ये सात काय हैं— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन। यहाँ न हन्ता है, न घातयित्ता (हनन कराने वाला), न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला। यदि तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का शीष काट दिया जाय तो भी कोई किसी को प्राण से नहीं मारता, क्योंकि शस्त्र तो केवल सातों कायों से अलग, विवर (रिक्त स्थान) में गिरता है।

सञ्जय वेलट्ठिपुत्त—सञ्जय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चिततावादी थे।[५७] इन्होंने न तो परलोक के अस्तित्व को अस्वीकार किया और न स्वीकार ही। सञ्जय वेलट्ठिपुत्त ने कहा—'मैं यह नहीं कहता कि परलोक है, यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है। यह परलोक है भी और नहीं भी। परलोक न है न नहीं है।' सभी प्राणी अयोनिज (औपपातिक) हैं अथवा अयोनिज नहीं हैं, अच्छे बुरे कर्मों के फल हैं अथवा नहीं हैं—इन सभी प्रश्नों का उन्होंने एक ही उत्तर दिया—न स्वीकृति न अस्वीकृति।

अजित केसकम्बली—अजित केसकम्बली जड़वादी अथवा उच्छेदवादी थे।[५८] अच्छे-बुरे कर्मों का कोई फलाफल नहीं होता, इस विचार के ये समर्थक थे। इनके मत में न दान है, न यज्ञ, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत-कर्म का फल-विपाक। न माता है, न पिता है, न अयोनिज सत्त्व हैं, न इहलोक है, न परलोक, न ऐसे श्रमण-ब्राह्मण हैं जिन्होंने अभिज्ञाबल से इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है। इनका विचार चार्वाकों के मत से मिलता-जुलता था। वे मानते थे कि मनुष्य चातुर्महाभूतिक है। जब वह काल (मृत्यु) को प्राप्त करता है तब पृथ्वी पृथ्वीकल में, जल जल में, तेज तेज में, वायु वायु में और इन्द्रियाँ आकाश में लीन हो जाती हैं। मूर्ख जो दान देते हैं उसका कोई फल नहीं मिलता। आस्तिकवाद मिथ्या है। मूर्ख और पंडित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं—मरने के बाद कोई नहीं रहता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१२

वैदिक धर्म, ब्राह्मण-धर्म तथा लोकधर्म

लोकधर्म का स्वरूप—भगवान् बुद्ध, वर्द्धमान महावीर तथा मक्खलि-गोसाल के धर्मोपदेशों के फलस्वरूप बौद्ध, जैन तथा आजीविक मतों का समाज में समुचित प्रचार हुआ। सुव्यवस्थित प्रचार के कारण बौद्ध धर्म दूर-दूर तक फैला, परन्तु इस परिवर्तन के कारण समाज में जो धार्मिक रीति-रिवाज पहले से चले आ रहे थे, वे विलुप्त नहीं हुए और न वैदिक एवं ब्राह्मण-धर्मों की लोकप्रियता में कोई कमी आयी। जनता को विभिन्न धर्मसम्प्रदायों के सैद्धान्तिक विवादों से कोई मतलब नहीं था। युगों से प्रचलित धार्मिक परम्पराओं पर जनसाधारण की जो अटल आस्था थी उसे तोड़ना सम्भव नहीं था। इस तथ्य को भगवान् बुद्ध ने स्वीकार किया, अतएव उन्होंने समाज में मान्य रीति-रिवाजों का कतई विरोध नहीं किया। उनका विरोध मात्र हिंसात्मक-कर्मों तक ही सीमित रहा। समाज में बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रचार हुआ, पर सामाजिक व्यवस्था पूर्ववत् बनी रही। कई धार्मिक आचार-विचार भी यथावत् रहे। वस्तुत: बौद्ध-धर्म आरम्भ में अधिकांशत: ब्राह्मण-धर्म का ही ऐसा रूपान्तर था, जिसमें हिंसक-कर्मों को दूर करने की चेष्टा की गयी थी। दु:ख, निर्वाण, इच्छा, कर्म तथा पुनर्जन्म आदि की धारणाएँ दोनों धर्मों में समान हैं। जो प्रमुख भेद दोनों धर्मों के बीच दृष्टिगोचर होते हैं वे वेदों को प्रमाण मानने, पशु-यज्ञ, ब्राह्मणों के अधिकार आदि के सम्बन्ध में हैं।

धर्म के सिद्धान्त तथा व्यवहार-पक्ष, दोनों के विषय में भगवान् बुद्ध के विचार क्रांतिकारी थे अवश्य, पर वे परम्परागत वेदविहित ब्राह्मण-धर्म-विरोधी न होकर सुधारवादी थे। उनका लक्ष्य धर्म के नाम पर व्याप्त कुरीतियों तथा अंधविश्वासों को दूर करके मानवमात्र के लिए कल्याणकारी सरल आचारमार्ग की प्रतिष्ठा करना था। बुद्ध तथा महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्माचरण में परम्परागत धर्म का प्रभाव सुस्पष्ट है। बौद्ध-भिक्षु तथा जैन-श्रमण अधिकतर उन्हीं नियमों का पालन करते थे जिनका विधान उनके विरोधी ब्राह्मण-तापसों ने बहुत पहले किया था। जैन-श्रमणों तथा ब्राह्मण-तापसों के आचार-सम्बन्धी नियमों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में अधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है । वस्तुतः जैनियों एवं बौद्धों के अनेक धार्मिक विधान मौलिक न होकर पूर्वकाल से प्रचलित नियमों के रूपान्तर-मात्र थे। जिस वेदविहित ब्राह्मण-धर्म का आचरण जनता करती आ रही थी, उसीको बौद्धों एवं जैनियों ने नवीन रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया । बुद्ध तथा महावीर ने वेदों की प्रामाणिकता, ब्राह्मणों के आधिपत्य, वैदिक कर्मकांड एवं पशुयज्ञों की सार्थकता आदि का तो विरोध किया, परन्तु उन धार्मिक रीति-रिवाजों का नहीं, जो समाज में पूर्व-प्रचलित तथा मान्य थे । जो रीति-रिवाज उनके विचारों के प्रतिकूल पड़ते थे, उनका भी उन्मूलन न करके, उनके बदले में उन्होंने अन्य ऐसे अनुष्ठानों का विधान किया जो जनभावना के प्रतिकूल न होने से जनता के लिए सहज ग्राह्य हुए । इन धर्मोपदेशकों का लक्ष्य जनता को आकृष्ट करना भी था, अतः वे ऐसे कर्म करना नहीं चाहते थे जिनसे जनमत उनके विरुद्ध हो जाता । बुद्ध ने ब्राह्मण-धर्म के हिंसक आचरणों के विरोधी होने के कारण पशुयज्ञ की निंदा की, पर उस यज्ञ का जिसमें प्राणि-हिंसा नहीं होती थी, उन्होंने समर्थन किया ।[1] पाकयज्ञों तथा पञ्चमहायज्ञ के विषय में वे मौन रहे । स्वप्नों के फलाफल पर जनता का बड़ा विश्वास था । जनता ब्राह्मणों द्वारा स्वप्न-विचार करवाती थी । जनता की इस आस्था की उपेक्षा बुद्ध न कर सके । इस विषय में उनके अनुयायी कहने लगे कि ब्राह्मणों की तुलना में भगवान् बुद्ध अधिक प्रामाणिक स्वप्न-विचार करने में सक्षम हैं ।[2] जनता पुरोहितों से मंगल-पाठ करवाती थी, अतः बौद्ध-धर्म में मंगल-सुत्त के पाठ का विधान किया गया ।[3] जैन-धर्म में अष्ट-मंगल की व्यवस्था की गयी ।[4] बुद्ध ब्राह्मण-विरोधी होने पर भी निःस्वार्थी तथा ज्ञानी ब्राह्मणों की प्रशंसा करते थे । वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों के सर्वोपरि स्थान का तो बुद्ध ने बड़ा विरोध किया, पर चतुवर्ण-व्यवस्था का नहीं । उन्होंने ब्राह्मणों के बदले क्षत्रिय को शीर्षस्थान प्रदान किया । इस प्रकार यह सुस्पष्ट होता है कि नवीव धार्मिक चेतना के उदय के फलस्वरूप प्राचीन रीति-रिवाज विनष्ट नहीं हुए । वेद-विहित ब्राह्मण-धर्म, जिसका आचरण जनता दीर्घकाल से करती आ रही थी और जिस धर्म ने अवैदिक धर्मों के अनेकोनक व्यवहारों को आत्मसात् कर लिया था, उसे बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रादुर्भाव के कारण किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची । वस्तुतः लोकप्रिय ब्राह्मण-धर्म ही उस युग का लोकधर्म था । अथर्ववेद में मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, भूतापसरण, अभिचार, गुप्त क्रियाएँ, स्वप्न-विचार, लक्षण-विचार, पशु-पक्षी-क्रंदन-विचार इत्यादि विश्वासों को मान्यता दी गयी है । अति प्राचीन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

युग में इस प्रकार के आचरणों में जनता की आस्था बनी और इस कारण ब्राह्मण धर्म ने इन्हें मान्यता देकर अपने को उदार एवं व्यापक बनाया। अथर्ववेद में वस्तुतः उन धार्मिक आस्थाओं तथा आचरणों को मान्यता प्रदान की गयी है जो अवैदिक थे। अतः हम हॉपकिन्स[5] महोदय के इस विचार से सहमत नहीं हो सकते कि वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म का आचरण भारतीय समाज के उस अल्पवर्ग ने किया जिसका स्थान भारतीय जन-महासागर के मध्य एक द्वीप के सदृश रहा है, अधिकतर जनता ने तो अपनी-अपनी जाति के धर्म का सेवन किया जिसमें स्थानीय परम्पराएँ, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, प्रेत-पूजा आदि की प्रमुखता रही है। हॉपकिन्स के इस विचार को उसी अवस्था में सार्थक माना जा सकता है यदि ब्राह्मण धर्म का अर्थ वह आचार माना जाय जिसका विधान धर्म-शास्त्र में द्विजातिमात्र के लिए किया गया है। हिंदू-समाज में आरम्भ से ही धर्म के दो रूप मान्य रहे हैं—एक तो उसका आदर्श स्वरूप जिसका आचरण समाज के उच्चवर्ग में हुआ और दूसरा वह जिसका आचरण किया, जनता ने। अतः इस धर्म के दो रूप हुए—विशिष्ट तथा सामान्य और सामान्य ब्राह्मण-धर्म ही व्यापक होने से लोकधर्म बन गया।

ब्राह्मण-धर्म—आरण्यक, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि धर्मग्रंथों में विशिष्ट ब्राह्मण-धर्म का पूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। द्विजातियों ने इस धर्म का आचरण किया, परन्तु इसका पूर्ण रूप में पालन किया केवल ब्राह्मणों ने। पालि-निकायों तथा जैन-सूत्रों में भी ब्राह्मण-धर्म का वर्णन उपलब्ध होता है, पर आंशिक रूप में, क्योंकि बौद्ध तथा जैन लेखकों ने ब्राह्मणों के केवल उन्हीं रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है जिनकी वे आलोचना करना चाहते थे। अतः उनका विवरण पूर्ण न होकर धर्मशास्त्र में उपलब्ध विवरण का पूरक है।

ब्राह्मण-ग्रंथों तथा आरण्यकों में वर्णित धर्माचरण में कई असमानताएँ दीखती हैं, जैसे—'ब्राह्मणों में मुख्यतः धर्म के बाह्याचरण की प्रधानता है, परन्तु आरण्यक कर्म से ध्यान को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। ब्राह्मण जटिल धार्मिक क्रियाओं का विधान करते हैं, लेकिन आरण्यकों में अपेक्षाकृत सरल आचरण का विधान है और वे आन्तरिक अनुशासन अथवा मानसयज्ञ पर बल देते हैं। ब्राह्मणों में स्वर्ग ही सर्वोपरि है, पर आरण्यकों में तत्त्वज्ञान की प्रधानता है और उसकी प्राप्ति हेतु उपासना तथा तपश्चर्या का विधान मिलता है।' उपनिषदों में आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान सर्वोपरि है, उपनिषद्-दर्शन का सार है— 'समस्त सृष्टि ब्रह्ममय है और ब्रह्म ही आत्मा है'। आत्मा के इस स्वरूप का विकास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्तुतः ऋग्वेद के पुरुष की कल्पना पर आधारित है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता की अनुभूति (तत् त्वं असि) ही जीवन का परम लक्ष्य है। बृहदारण्यक-उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में आत्मा का अति सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद्-दर्शन के आत्मतत्त्व की कल्पना ठोस नैतिक मूल्यों पर आधारित है, क्योंकि प्राणिमात्र के प्रति दया एवं प्रेम की भावनाओं का आचरण ही वस्तुतः ब्रह्म के प्रति श्रद्धा मानी गयी। आत्म-साक्षात्कार की परिणति प्राणिमात्र के प्रति प्रेम में होती है। जहाँ तक नैतिक आचार का प्रश्न है, कर्म-सिद्धान्त का विशेष महत्त्व हो गया। कर्मा-नुसार फल की प्राप्ति के सिद्धान्त से सदाचार की प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित करने में योग मिला। उपनिषद्-दर्शन वस्तुतः अज्ञान के त्याग और तत्त्वज्ञान की खोज पर केन्द्रित है। तत्कालीन समाज में व्याप्त तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा का काठक-उपनिषद् के नचिकेतोपाख्यान में काव्यात्मक उल्लेख किया गया है।

पालि-निकाय के अनुसार वैदिक धर्म अथवा विशिष्ट ब्राह्मण-धर्म यज्ञ-प्रधान था और इसका आचरण इस युग के वे ब्राह्मण करते थे जो श्रोत्रिय तथा महासाल कहलाते थे। बौद्ध लेखकों ने अपने प्रबल पशुबलि-विरोधी दृष्टिकोण के कारण पशुयज्ञों का प्रमुख रूप से उल्लेख किया है, परन्तु ब्राह्मण-धर्म में पशुयज्ञ के अतिरिक्त कई प्रकार के दूसरे यज्ञों का भी विधान है जिनका वर्णन पालि-ग्रंथों में नहीं मिलता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस युग में इनका अस्तित्व नहीं था। बुद्ध अप्राणिहिंसक यज्ञों के विरुद्ध नहीं थे, अतः इस श्रेणी के यज्ञों के उल्लेख का प्रसंग निकायों में नहीं आया।

श्रौत-सूत्रों तथा गृह्य-सूत्रों में अनेक यज्ञों तथा १६-१७ प्रमुख पुरोहितों का उल्लेख मिलता है। यज्ञ का उद्देश्य यज्ञकर्त्ता द्वारा वांछित फल की प्राप्ति था। यज्ञ की शक्ति पर लोगों का इतना अधिक विश्वास जम गया था कि उसके समक्ष यज्ञ में पूजित देव की इच्छा भी गौण हो गयी थी। बलि प्राप्त कर देवता जितना संतुष्ट एवं शक्तिसम्पन्न होते हैं, उसी अनुपात में यज्ञकर्त्ता को अनुगृहीत करते हैं, यह धारणा यज्ञ के मूल में काम करती थी। यह एक प्रकार की पारस्परिक लेन-देन की ऐसी प्रक्रिया मानी गयी थी जिसका उपक्रम उपा-सक की ओर से होता। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (४।१।१) में विधान है कि यदि वह व्यक्ति जिसने त्रि-अग्नि को स्थापित किया, रुग्णतावश गृहत्याग कर गाँव से चला जाय, तो उसे त्रि-अग्नि को प्रभावित करने के लिए सोमयज्ञ अथवा पशुयज्ञ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करना चाहिए, इससे वह त्रि-अग्नि जिसे वह अपने साथ लेता जाता है, उसे रोग-मुक्त, करेंगे। पाप को रोगतुल्य मानकर पापफल से मुक्ति के लिए भी यज्ञ का आश्रय लिया जाता था। श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में प्रायश्चित-यज्ञ का, जिसमें पुरोहितों को प्रभूत दान मिलता, बड़ा महत्त्व है।

मोटा-मोटी श्रौत-यज्ञ के दो भेद हैं— सोमयज्ञ जिसमें सामवेद का ज्ञान होता और हविर्यज्ञ जिसमें सामगान नहीं होता। इन दोनों के मध्य में पशुयज्ञ का स्थान है। इसमें सामगान नहीं होता, अतः इसे भी हविर्यज्ञ माना जा सकता है, परन्तु वस्तुतः यह सोमयज्ञ का ही महत्त्वपूर्ण अंग है।

व्यक्ति के दैनिक जीवन में गृहयज्ञ को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। इसका केन्द्र गृहाग्नि होती है। प्रत्येक गृहस्थ तथा उसके परिवार के सदस्य—पत्नी, पुत्र, पुत्री तथा शिष्य का कर्त्तव्य है कि वे गृहाग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखें। यदि गृहाग्नि बुझ जाय तो पुनः धार्मिक रीति से उसे घर्षण द्वारा उत्पन्न अग्नि या किसी समृद्ध गृहस्थ अथवा अनेक यज्ञों के कर्त्ता के गृह से लायी गयी अग्नि से प्रज्वलित करने का विधान है। गृहाग्नि प्रज्वलित करने के ये उपयुक्त अवसर माने गये हैं—विवाह, पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा, समावर्तन, परिवार के प्रधान की मृत्यु तथा बारह दिनों तक अग्नि का प्रज्वलित नहीं हो पाना। नियमानुसार गृही को स्वयमेव गृह-यज्ञों का आचरण करना चाहिए, परन्तु उसकी अनुपस्थिति में यह अधिकार पत्नी को प्राप्त है। प्रातः और संध्या हवन तथा संध्याकाल में बलि का विधान है। इसमें सामान्यतया ब्राह्मण पुरोहित का उपयोग ऐच्छिक है, परन्तु शूलागव तथा धन्वन्तरी यज्ञों में ब्राह्मण पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य मानी गयी है।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल में भी वैदिक धर्मानुयायी पशुयज्ञ को वैसा ही महत्त्वपूर्ण मानते थे जसा वैदिक युग के आर्य। वे अनेक प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जैसे—अश्वमेध यज्ञ, सम्मापास यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञ, वाज-पेय यज्ञ आदि।[६] पुरुषमेध यज्ञ का अस्तित्व संदेहास्पद प्रतीत होता है। सम्भवतः यह नरबलि न होकर कुछ और रहा होगा। इसका अर्थ अन्न-यज्ञ भी किया गया है और हो सकता है कि परम्परानुसार सभी प्रकार के यज्ञों का एक साथ उल्लेख होने से पुरुषमेध यज्ञ का भी नाम आ गया। यज्ञों के प्रमुख अनुष्ठान-कर्त्ता थे—ब्राह्मण महासाल। ये स्वयं बड़े-बड़े यज्ञ करते थे और राजा द्वारा आयोजित यज्ञ में होता का कार्य सम्पन्न करते थे। पालि-निकाय में बुद्ध के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समकालीन अनेक ब्राह्मण महासालों के यज्ञों का वर्णन किया गया है। मगध-वासी ब्राह्मण कूटदन्त,[७] श्रावस्ती के ब्राह्मण उग्गत शरीर[८] और कोशल-नरेश[९] प्रसेनजित् के महायज्ञों के वर्णन उन दिनों सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों की विधि के विषय में अनेक रोचक नियमों का रहस्योद्घाटन करते हैं। महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े, बाछियाँ, बकरे, भेड़, सूअर, घोड़े, हाथी आदि पशुओं की तथा अनेक पक्षियों की बलि दी जाती थी।[१०] इससे विदित होता है कि जिन पशुओं की बलि देने की प्रथा वैदिक युग में नहीं थी उनकी बलि भी दी जाने लगी थी, जैसे—हाथी। पालि-सूत्रों के अनुसार पाँच-पाँच सौ अथवा सात-सात सौ की संख्या में पशु-पक्षियों की बलि दी जाती थी। कहीं-कहीं तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ में सभी तरह के प्राणियों की आहुति दे दी जाती, कोई भी बच नहीं पाता,[११] परन्तु ऐसा कहना निःसन्देह अतिशयोक्तिपूर्ण है। इस प्रकार के अतिरंजित वर्णन का लक्ष्य पशुयज्ञ की विभीषिका बतलाकर उनसे जनता को विरत करना था, अतः बौद्धों के यज्ञ-सम्बन्धी विवरण पूर्ण विश्वसनीय नहीं माने जा सकते।

पालि-निकाय से इस बात का पता चलता है कि उन दिनों बड़े धूमधाम के साथ यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। कई दिनों तक जोरदार तैयारी होती थी— यूप-निर्माण के लिए वृक्ष काट गिराये जाते,[१२] पशुओं को बाँधकर यज्ञ-स्थल की ओर ले जाया जाता। यज्ञ-स्थल पर कभी-कभी एक गड्ढा खोदा जाता, जिसके अन्दर पशुओं को खूँटों से बाँध दिया जाता। वेदों में इस प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है; सम्भवतः यह उत्तरकाल में प्रचलित हुई। यज्ञ देखने के लिए लोगों की बड़ी भीड़ एकत्र हो जाया करती थी। समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व होने के कारण उनके यज्ञ में जनता का पूर्ण सहयोग मिलना स्वाभाविक था। जो ब्राह्मण महासाल प्रभावशाली थे उनके यज्ञ में मेला लग जाता। उस मेला में जब काश्यप-बन्धुओं के वार्षिक यज्ञ-समारोह मनाये जाते, तो अंग-मगध-वासी बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते थे।[१३] यज्ञ की पूर्णाहुति के उपलक्ष्य में बड़े-बड़े भोज होते थे और यज्ञकर्त्ता मुक्तहस्त हो ब्राह्मणों को स्वर्ण, रजत, अन्न, दास-दासी, गो, अश्व, हस्ति, वस्त्र, बिछावन, कालीन, कन्या, रथ और धान्यपूर्ण प्रासाद आदि दान में देते थे।[१४] ब्राह्मणों को प्रभूत दान देने के जो वर्णन पालि-निकाय में मिलते हैं वे यथार्थ प्रतीत होते हैं, क्योंकि अन्य सूत्रों से इसकी विद्यमानता के निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। क्षत्रिय-नरेशों तथा सातवाहन-शासकों के अभिलेखों से विभिन्न यज्ञ-समारोहों में ब्राह्मणों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को प्रभूत दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध लेखक अतीत के ऋषियों में अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यम-दग्नि तथा भृगु का उल्लेख करते हैं।[१५] वे यह भी कहते हैं कि ये ऋषि मन्त्र-कर्त्ता थे और तत्कालीन ब्राह्मण उनके द्वारा रचित मन्त्रों का पाठ किया करते थे। बौद्धों ने ब्राह्मणों के शुकवत् मंत्रपाठ का परिहास किया है। बुद्धकाल में देवताओं से बढ़कर महत्त्व हो गया था— वेदमन्त्रों का। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि आचार्य परम्परानुसार ब्राह्मणों के कई वर्ग बन गये थे. जैसे—ऐतरेय, तैत्तिरिय, छांदोग्य, छंदाव आदि।[१६] इन विवरणों से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-वर्ण का एक समुदाय निष्ठापूर्वक वैदिक धार्मिक परम्परा का आचरण कर रहा था। वैदिक धर्मानुयायी पूजा-अर्चना करते थे—इन्द्र, सोम, वरुण, इशान, प्रजापति, ब्रह्मा, महिद्धि, यम इत्यादि देवताओं की।[१७] इनमें इशान को छोड़कर शेष सभी देवताओं का उल्लेख वेदों में है। इशान का उल्लेख गृह्यसूत्रों में मिलता है जो पालि-निकाय के समकालीन हैं।

पालि-पिटक तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी में उपलब्ध प्रमाणों से तत्काकीन समाज में भक्ति-सम्प्रदाय की विद्यमानता का पता चलता है। पालि-पिटक में देवधम्मिक तथा देवव्रतिक शब्दों का प्रयोग उन लोगों के लिए किया गया है जो तापस न होकर भक्ति-पूर्वक देव-पूजन करते थे।[१८] पाणिनि के अष्टाध्यायी में वासुदेव कृष्ण के भक्तों को वसुदेवक कहा गया है।[१९]

प्रमुख देवता—वैदिक युग के आराध्य देवों में ब्रह्मा का भी उल्लेख मिलता है। बुद्ध-काल में इनकी पूजा बन्द नहीं हुई। बौद्ध लेखक ब्रह्मा-पूजा का विरोध नहीं करते हैं, वरन् वे तो ब्रह्मा को देवताओं में सर्वोपरि मानते हैं। जब भगवान् बुद्ध को संबोधि की प्राप्ति हो गयी तो स्वयं ब्रह्मा सहंपति ने धर्मोपदेश के लिए उनसे निवेदन किया जिससे धर्मोपदेश में उनकी रुचि हुई।[२०] बुद्ध-काल में एकाधिक ब्रह्मा के स्वरूपों की कल्पना की गयी, जैसे— सनत् कुमार, प्रजा-पति तथा सहंपति।[२१]

पालि-निकाय से ज्ञात होता है कि देवराज इन्द्र सर्वाधिक लोकप्रिय देवता थे। इनकी पूजा करने वालों की संख्या समाज में सबसे अधिक थी और ब्राह्मण-धर्मावलंबियों के समान बौद्ध भी इनको देवराज ही मानते थे। वे इनका उल्लेख विभिन्न नामों से करते हैं, जैसे—शक्र,[२२] वासव,[२३] मधवा[२४] आदि। बौद्ध-जातकों में इन्द्र के कार्य और निवास-स्थान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इन्द्र के प्रमुख कार्य हैं— दुष्टों को दण्ड देना और दुःखियों की सहायता करना। अब

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जब कोई व्यक्ति कष्ट में पड़ जाता है तो उनका सिंहासन ऊष्ण होने लगता है।[२५] पुण्यात्माओं के कष्ट-निवारणार्थ तथा कुकर्मियों को दण्डित करने के लिए वे स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आ जाते हैं।[२६] इन्द्र सर्वदर्शी (समन्तचक्खु) हैं, उनके सहस्र नेत्र हैं।[२७] परन्तु इतने प्रमुख देवता होने पर भी उनका पद निरापद नहीं है। मनुष्य अपने अनन्तपुण्य के प्रभाव से शक्र को अपदस्थ कर स्वयं उस पद का अधिकारी बन सकता है, अतः देवराज भयभीत रहते हैं कि कोई व्यक्ति इतना पुण्य अर्जित न कर ले कि उनका शक्रत्व छिन जाय।[२८] अतएव जब कोई मनुष्य अतिशय पुण्य-कर्म का आचरण करने लगता है तो उनका सिंहासन ऊष्ण होने लगता है।[२९] तब वे ऐसा प्रयास करते हैं जिससे उस व्यक्ति का पुण्य क्षीण हो जाय और उनका शक्रपद सुरक्षित रहे।

देवराज इन्द्र त्रयोत्रिंस देवलोक में निर्मित एक अति सुन्दर प्रासाद में निवास करते हैं। उस प्रासाद के नाम हैं—सुधर्मा, वैजयन्त तथा मस्सकसार।[३०] सुधर्मा प्रासाद ही देवों का सभाभवन है।[३१] देवराज के विहार के लिए देवलोक में चित्रलता, नन्दन, फारूसक तथा मिस्सक नाम के अति सुन्दर पुष्पोद्यान बने हैं।[३२] उनके दो स्थायी सहयोगी हैं, मातलि तथा पंचशिख।[३३] मातलि उनके सारथि हैं और पंचशिख गंधर्व। देवराज के रथ का नाम वैजयन्त है।[३४] इस प्रकार हम देखते हैं कि पालि-निकाय में देवराज इन्द्र का विस्तृत विवरण दिया गया है। इससे यह सुस्पष्ट होता है कि देवराज जनता के देवता थे, अतः बौद्ध-धर्म में उनका वही स्थान बना रहा जो ब्राह्मण-धर्म में था।

यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म में अग्निदेव का बड़ा महत्त्व है। वे इस भूतल पर देवताओं के प्रतिनिधि हैं, जिनके माध्यम से देवगण मनुष्यों द्वारा प्रदत्त बलि ग्रहण करते हैं। द्विजातियों के दैनिक धार्मिक अनुष्ठानों में अग्निहोत्र की प्रधानता है। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में गृहस्थों के लिए अनेक गृहयज्ञों का विधान है जिनमें अग्नि-पूजन अनिवार्य होता है। ब्राह्मण गृहस्थ के घर में निरन्तर गृहाग्नि प्रज्वलित रखी जाती थी। गोभिल-गृह्यसूत्र (१।४।५) में अग्न्यगार का उल्लेख है, जिसके बाहर या अन्दर बलि दी जाती थी। बौद्ध लेखक भी यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण अग्निपूजक थे—तपोवन-वासी ब्राह्मण पवित्र अग्नि की परिचर्या में लीन रहा करते थे।[३५] सुन्दरिक भारद्वाज तथा जटिल-बंधुओं के आश्रमों में अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित रहती थी।[३६] यद्यपि बौद्धों ने अग्नि-परिचर्या का उपहास किया है, पर उन्हीं के विवरण के ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में द्विजातियों के धार्मिक जीवन में अग्निदेव की पूजा का बड़ा महत्त्व था। बौद्ध पशुयज्ञ-विरोधी थे और यज्ञ में अग्नि की प्रधानता रहती है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतएव उन्होंने अग्निपूजा का विरोध किया।

सूर्य का स्थान वैदिक देवताओं में महत्त्वपूर्ण है। वेदों में उनके पाँच रूप माने गये हैं, परन्तु चन्द्रमा को महत्त्व नहीं दिया गया है। बौद्ध-साहित्य में चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों की पूजा के उल्लेख मिलते हैं।[३७] लोग अन्य इष्टदेवों के साथ चन्द्रमा की उपासना भी अपनी ईप्सित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए करते थे। सूर्य के समान पर्जन्य भी प्रसिद्ध देवता बने रहे। वे वृष्टि के देवता माने जाते थे, अतः उनका आह्वान वर्षा के लिए किया जाता था।[३८]

श्री (सिरि, सिरिमा) अर्थात् लक्ष्मी की पूजा भी सभी वर्ग के लोग करते थे। पालि-जातकों में इन्हें धृतराष्ट्र की पुत्री तथा ऐश्वर्य एवं भाग्य की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है।[३९] जातकों की कल्पना के अनुसार इनके वस्त्र, अनुलेपन तथा अलंकार स्वर्णवर्ण के रहते थे।[४०] भारहुत तोरण में श्री को कमलासना उत्कीर्ण किया गया है। मणिमेखला को समुद्राधिदेवी मान कर पूजा की जाती थी।[४१] लोगों का विश्वास था कि वे नौकाभंग हो जाने पर नाविकों तथा यात्रियों का उद्धार करती थीं।[४२] अतः इस देवी के प्रमुख उपासक थे—समुद्र-यात्री तथा सामुद्रिक नाविक।

श्रद्धा, आशा और हिरि सदृश अमूर्त देवी-देवताओं की भी पूजा की जाती थी।[४३] श्रद्धा का उल्लेख तो वेदों में भी है, पर आशा और हिरि का केवल पालि-वाङ्मय में प्रथम उल्लेख मिलता है।

चार लोकपालों का भी उल्लेख मिलता है और इन्हें चातुमहाराजिकदेव की संज्ञा दी गयी है।[४४] भारहुत-वेदिका के जातक-चित्रण में भी इनको उत्कीर्ण किया गया है। चारों दिशाओं की रक्षा का भार चार देवताओं पर है— धृत-राष्ट्र महाराज, विरूल्हक महाराज, विरुपाक्ष महाराज और वैश्रवण महाराज। ये क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर के लोकपाल हैं।

उपर्युक्त प्रमुख देवों के अतिरिक्त अनेक सामान्य देवों की भी पूजा की जाती थी जिनके विषय में पर्याप्त जानकारी का अभाव है। यक्ष, नाग तथा वृक्ष की पूजा के सम्बन्ध में पालि-निकाय में सविस्तार विवरण उपलब्ध है। कहीं-कहीं वृषभ-पूजा का भी उल्लेख मिलता है। जातकों में स्वर्ग और नरक के भी रोचक वर्णन किये गये हैं। तत्कालीन जन-साधारण की आस्था के अनुसार पुण्यकर्मा स्वर्ग के अधिकारी थे और जो पापकर्मों में लिप्त रहते थे वे नरक के।

यक्ष-पूजा—यद्यपि इस बात का निश्चित पता नहीं है कि भारत में यक्ष-पूजा का प्रारंभ कब हुआ, किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में यक्षों के उल्लेख मिलते हैं।[४५] वैदिक संस्कृत में यक्ष का अर्थ होता है कोई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलौकिक अथवा प्रेतसम प्राणी ।[४६] कहीं-कहीं इसका प्रयोग मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए किया गया है ।[४७] कुबेर के अनुचरों को भी यक्ष की संज्ञा दी गयी है ।[४८] पालि-पिटक में मानवेतर प्राणी, प्रेतात्मा, राक्षस, पिशाच आदि के लिए यक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है ।[४९] कहीं-कहीं यह कहा गया है कि जिनकी पूजा की जाय, जिनके लिए बलि दी जाय, वे ही यक्ष हैं ।[५०] कभी यक्ष को देवता कहा गया तो कभी देवपुत्र ।[५१] उनके कार्य-कलाप भी विविध प्रकार के बतलाये गये हैं । यक्ष स्वभावतः दयालु होते हैं और उनसे प्राणियों का कल्याण होता है । वे पापियों को कुकर्म से विरत करते हैं ।[५२] वे यमपुरी में मार्ग-प्रदर्शक का कार्य करते हैं ।[५३] कतिपय यक्षों का भयानक वर्णन भी उपलब्ध होता है । एक यक्ष ने अम्बष्ठ को कहा—'मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा' ।[५४] एक अन्य यक्ष ने सारिपुत्त की हत्या करने का विचार किया था ।[५५] यक्षों की तुलना में यक्षिणियों के अधिक भयावह वर्णन मिलते हैं । वे प्रायः यात्रियों को अपने माया-जाल में फँसा कर मार डालती थीं ।[५६]

जातक कथाओं में यक्ष-नगरों के उल्लेख मिलते हैं जो प्रायः द्वीप, घनघोर वन तथा मरुस्थल में बसे होते थे । सिरिसवत्थु नामक यक्षनगर ताम्रपर्णी द्वीप में था,[५७] एक यक्षनगर जंगल में था ।[५८] कई यक्ष इन नगरों में न रह कर अपने एकांत भवनों में वास करना पसंद करते थे ।[५९]

बौद्ध एवं जैन ग्रंथों तथा धर्मशास्त्र से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन समाज में लोग यक्षों की श्रद्धापूर्वक पूजा-अर्चना किया करते थे । स्थान-स्थान पर पूजास्थान बने हुए थे जिनको यक्ष-भवन अथवा यक्ष-चैत्य कहा जाता था ।[६०] यक्ष-भवन अथवा यक्ष-चैत्य में यक्ष की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती थी, या किसी अन्य विधि से उनकी पूजा की जाती थी, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता । इन पूजा-स्थानों में लोग अनेक प्रकार के खाद्य एवं पेय लेकर जाते और मृग, शूकर, मछली, सुरा आदि की भेंट यक्षों को चढ़ाते थे ।[६१] यक्ष-पूजन के लिए समय-समय पर पर्व भी मनाये जाते थे ।[६२]

बौद्ध-पिटक में सूचिलोम, खर, इन्द्रकूट, मणिमाल, अजकलापक प्रभृति[६३] तीस से भी अधिक यक्षों का नामोल्लेख किया गया है । सूचिलोम यक्ष का स्थान गया के निकट था । भारहुत-वेदिका के एक वृहत् शिलाफलक में इस यक्ष की मानवाकृति मूर्ति बनायी गयी है जिसमें इसने उष्णीष धारण कर रखा है । संयुत्त-निकाय तथा सुत्त-निपात में इसे भगवान् बुद्ध के साथ संभाषणरत दिखलाया गया है ।[६४] पुनः खर तथा सूचिलोम यक्ष के वार्तालाप का भी विवरण मिलता है ।[६५]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संभवतः गयावासी सूचिलोम के साथ खर की भी पूजा करते थे। इन्द्रकूट नामक यक्ष का स्थान राजगृह के इन्द्रकूट पर्वत पर था।[६६] मणिमाल चैत्य मणिमाल यक्ष का आवास माना जाता था।[६७] पाटलिपुत्र के अजकलापक चैत्य में आजकलपक यक्ष की पूजा होती थी।[६८] उदान-अट्ठकथा में उस यक्ष का बड़ा ही भयानक विवरण दिया गया है।

नाग-पूजा— वैदिक समाज में नाग-पूजा का प्रचलन नहीं था। नाग देवता आर्येतर जातियों में पूजित थे। अवान्तर काल में जब आर्येतर जातियाँ आर्य-समाज में विलीन हो गयीं और उनके उपास्य देव भी आर्य-देवों की श्रेणी में आ गये, तो नाग-पूजा को भी आर्य-समाज ने अपना लिया। नाग आर्यों के आद्य देवों में नहीं थे इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में भी आर्य देवताओं तथा नागों की शत्रुता का उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने वृत्र तथा अहि नाग का दर्प-मर्दन किया।[६९] महाभारत-युग में अर्जुन ने नागों की आवासभूमि खांडववन को भस्मीभूत कर दिया। जनमेजय ने नागयज्ञ का अनुष्ठान करके सर्पों का विनाश किया। पुनः महाभारत से विदित होता है कि राजगृह में नाग-मंदिर थे।[७०] जब कृष्ण और अर्जुन राजगृह पधारे तो उन्होंने मणि-नाग की पूजा की। इस प्रकार के विवरण हमें बतलाते हैं कि नाग मूलतः आर्य देवता नहीं थे। अनार्य जरासन्ध द्वारा शासित मगध के नाग-पूजा का प्रमुख केन्द्र होने से भी इस बात की पुष्टि होती है। मगध में आर्य संस्कृति का प्रभुत्व संभवतः पूर्वी भारत के अन्य स्थानों की अपेक्षा विलम्ब से होने के कारण यह महाभारत-युग में नाग-पूजा का गढ़ बन गया और पाँचवीं शताब्दी ई० सन् तक बना रहा।

आर्येतर जातियों में नाग-पूजा का प्रचलन क्यों हुआ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस प्रश्न का समीचीन उत्तर होगा—सर्पदंश का भय। इस भय के निवारणार्थ ही नागपूजा का श्रीगणेश हुआ होगा। इस सम्भावना का उल्लेख विनय-पिटक में भी मिलता है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—'हे भिक्षुओं आपलोग नागों के राजकुलों की पूजा करें; इससे आप उनके दंश से मुक्त रह सकेंगे'।[७१] भिक्षुओं को खुले पैर जंगली रास्तों में चलना पड़ता था जिससे वे प्रायः सर्पदंश के शिकार हो जाते होंगे, अतः बुद्ध ने नाग-पूजा का आदेश दिया। भारतीय ग्रामीण जनता में अभी तक यह विश्वास दृढ़ है कि सर्पदंश से मुक्ति के लिए नाग-पूजा करनी चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को साँप डँस देता है, तो उसके परिवार के सदस्य मनौती मनाते हैं कि यदि वह व्यक्ति बच

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जायगा, तो भविष्य में विधिवत् नाग-पूजा की जायगी। यदि सर्पदंश के कारण किसी की मृत्यु हो जाती है, तो इस भय से भी कि भविष्य में पुनः किसी सदस्य को साँप न डँस दे, लोग नाग-पूजा करने लगते हैं। अतः सर्पदंश के भय से नाग-पूजा के उदय की सम्भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है। यह भय जितना आर्येतर जातियों में व्याप्त था, उतना ही आर्यों में, यद्यपि नाग-पूजा की प्रथा का जन्म आर्येतर समाज में हुआ और अवान्तर काल में आर्यों ने इसे अपनाया। इस बात की भी सम्भावना प्रतीत होती है कि आर्येतर जातियों में नाग-जाति के इष्ट देवता नागदेव थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, महाभारत-काल में मगध नाग-पूजा का प्रमुख केन्द्र था। महाभारत के समान जैन-ग्रंथ भी राजगृह को नाग-पूजा का केन्द्र बतलाते हैं। राजगृह में आज भी मणिनाग के मन्दिर का अवशेष खड़ा है। बौद्ध जातकों में नाग-पूजा के अनेक वर्णन मिलते हैं[७२] जिनसे बुद्धकालीन समाज में नाग-पूजा की व्यापकता में सन्देह नहीं रह जाता है। हिन्दू-समाज में नाग-पूजा आज भी उतना ही व्यापक है जितना प्राचीन काल में और श्रावण शुक्ला पंचमी को सर्वत्र नागपंचमी का पर्व श्रद्धापूर्वक मनाया जाता है। उस दिन लोग नाग देवता को दुग्ध के साथ धान का लावा खिलाते हैं। गृह्यसूत्रों के अनुसार नाग देवता को लावा, भूँजे यव का आटा तथा दुग्ध-मिश्रित आटे की बलि देनी चाहिए। तदनन्तर जल का अर्घ्य देना चाहिए और पुष्प एवं सूत्र भी चढ़ाये जाने चाहिए।[७३] बौद्ध जातकों में दुग्ध, खीर, मत्स्य, मांस, सुरा आदि द्वारा नाग-बलि सम्पन्न किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[७४]

महाभारत में नाग-मन्दिर तथा नाग-चैत्य के उल्लेख मिलते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में फनयुक्त नाग-मूर्तियों का उल्लेख किया गया है। संभवतः मृण्मयी नाग-मूर्तियों की उपासना की जाती होगी। बौद्ध-काल में नागों को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है कि पूजार्थ नाग-मूर्तियों के निर्माण की सम्भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है।

वृक्ष-पूजा—वृक्ष-पूजा की प्रथा भी अति प्राचीन है, परन्तु नाग-पूजा के समान इसका भी उद्भव आर्येतर समाज में हुआ जान पड़ता है। ऋग्वेद में अरण्यानी की पूजा का उल्लेख मिलता है।[७५] अरण्यानी का अर्थ होता है वन की आत्मा और इससे किसी वृक्ष-विशेष की पूजा का संकेत नहीं मिलता। ऋग्वेद में अश्वत्थ[७६] अथवा पिप्पल[७७] वृक्ष के उल्लेख तो किये गये हैं, पर उनकी पूजा का नहीं। यदि वैदिक साहित्य में वृक्ष-पूजा का कहीं उल्लेख उप-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लब्ध होता भी है तो वह अथर्ववेद,[७८] ब्राह्मण[७९] तथा उपनिषद[८०] में। अथर्ववेद में अनेक आर्येतर रीति-रिवाजों को मान्यता मिली, क्योंकि यह उस युग की रचना है जब वैदिक धर्म में कई आर्येतर आराध्य देवों को स्थान दिया गया। इसी क्रम में वृक्ष-पूजा को भी मान्यता मिली। अतः अथर्ववेद में अनेक वृक्षों के प्रति पवित्रता के भाव व्यक्त किये गये हैं।

वृक्ष-पूजा आर्येतर जातियों की देन है, इसका सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है हड़प्पा-युगीन सभ्यता में पिप्पल-वृक्ष की पूजा का प्रचलन। सिन्धु-घाटी के निवासी दो प्रकार से वृक्ष की पूजा करते थे—एक तो स्वाभाविक रूप में और दूसरा, वृक्ष से आविर्भूयमान देवता के रूप में।[८१] आज भी संसार की कतिपय आर्येतर-वंशियों में वृक्ष-पूजा विद्यमान है। हट्टन महोदय के मत में भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को सर्वप्रथम आबाद करने वाली नेग्रितो आदिम-जाति वृक्ष को पूजनीय मानती थी और उन्हींसे यह प्रथा आर्य-समाज में आयी।[८२] अंडमान द्वीप-समूह के आदिम-जातियों में वृक्ष-पूजा प्रचलित है और उनमें तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की आदिम-जातियों के बीच रक्त-सम्बन्ध प्रमाणित है।

बौद्ध पालि-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वृक्ष-पूजा बड़ी व्यापक थी। वृक्षों को देवता, अप्सरा, नाग, प्रेतात्मा आदि का निवास स्थान मानकर लोग संतान, यश, धन इत्यादि की अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए वृक्षोपासना करते थे।[८३] कतिपय लोग वृक्ष-वासी प्रेतात्माओं तथा नागों के भय-निवारणार्थ वृक्ष-पूजा करते। वस्तुतः वृक्ष-पूजन नहीं होता था, पूजा तो की जाती थी पूजित वृक्ष में निवास करने वाले देवता अथवा प्रेतात्मा की। भारतीय ग्रामीण जनता में आज भी यह विश्वास प्रबल है और वह कई वृक्षों को भूत-प्रेतादि का स्थान मानती है। इसी आधार पर कई वृक्षों को देव-स्वरूप माना जाता है, जैसे पिप्पल। जब इसको दार्शनिक आधार प्रदान किया गया तो समस्त प्रकृति परमेश्वर की अभिव्यक्ति मानी गयी, पर जनता के विश्वास का आधार तो अपने मूल-रूप में ही बना रहा।

वृषभ-पूजा—कृषि-प्रधान देश में वृषभ की पूजा का प्रचलन सर्वथा स्वाभाविक है। यों तो वृषभ की महत्ता को हड़प्पायुगीन समाज में ही अंगीकार किया गया, पर उस समय उसकी पूजा होती थी यह प्रामाणिक रूप में नहीं कहा जा सकता। भगवान् शंकर का वाहन होने के कारण हिन्दू-धर्म में वृषभ को पूज्य माना जाता है। बौद्ध-ग्रंथों में भी वृषभ को श्रद्धास्पद बतलाया गया है। कहीं-कहीं अवसर-विशेष पर वृषभ के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के वर्णन भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलते हैं। पंचुपोसथ-जातक (४९०) में इस सम्बन्ध की एक कहानी में यह उल्लेख मिलता है—"मगध राज्य के प्रत्यन्त ग्राम के मुखिया के एक वृषभ की सर्पदंश के कारण मृत्यु हो गयी। इसकी सूचना मिलते ही सभी ग्रामवासी जहाँ वृषभ मरा पड़ा था, वहाँ रोते हुए दौड़े और उन्होंने उसे पुष्पमालाओं से सजाकर दफनाया।" इस प्रसंग में शिव तथा वृषभ के सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। शिव के वाहन के रूप में वृषभ का सर्वप्रथम सचित्र वर्णन कुषाण-शासकों की मुद्राओं में मिलता है; अतः बुद्ध के समय में शिव के वाहन के रूप में वृषभ-पूजा की प्रथा की विद्यमानता संदिग्ध प्रतीत होती है। कृषिकर्म के लिए वृषभ पर निर्भरता के कारण कृषक-वर्ग में उसके प्रति अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की आकांक्षा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कृषक हिन्दू-समाज गो तथा वृषभ के प्रति सदा ही अत्यन्त श्रद्धालु रहा है। आज भी पूर्वी भारत में दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी-पूजा के साथ गो-वृषभ की भी पूजा की जाती है। महाराष्ट्र में आषाढ़पूर्णिमा के दिन वृषभ-पूजा करने की प्रथा व्याप्त है। वस्तुतः गो-वृषभ-पूजा के मूल में भावना निहित है कि कृषि-कर्म में उनके सहयोग से ही पारिवारिक सम्पत्ति की वृद्धि सम्भव है। अतः यह निर्णय सही होगा कि वृषभ-पूजा की मान्यता के दो प्रमुख कारण हुए—पहला, कृषि में उसका सहयोग तथा दूसरा, उसे भगवान् शंकर का वाहन मानना।

लोक-धर्म के प्रमुख अंग—जातक कथाओं से बुद्ध-युगीन समाज के जन-समुदाय द्वारा प्रतिपादित धर्म के मूल-तत्त्वों का ज्ञान भी उपलब्ध होता है। जातकों में इनके उल्लेख कुरु-धर्म तथा दश-राजधर्म के नाम से मिलते हैं। इनके अंतर्गत अविहिंसा, अक्रोध, सत्य, दान, पर-वस्तु को बिना दिये ग्रहण नहीं करना, मार्दव, आर्जव, मातृ-पितृ-सुश्रूषा, शील, मिथ्याचार-विरति, आत्म-दमन, धृति, तप, परित्याग, मद्यपान-विरति तथा शौच के आचरण को धर्म की संज्ञा प्रदान की गयी है।[८४] धर्म के इन अंगों पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि इनमें अधिकांश का ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मतों में समान-रूपेण प्रतिपालन होता है। मनु ने दश-धर्म (धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्याँ, सत्य तथा अक्रोध) के आचारण का विधान किया है! जैन-मत के पञ्च-महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सुनृत तथा अपरिग्रह और बौद्ध-मत के दशशील वस्तुतः ब्राह्मण संन्यासियों द्वारा मान्य आचार-संहिता से ग्रहण किये गये, अतः तीनों में इतना साम्य दृष्टिगोचर होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्राट् अशोक ने सभी धर्मानुयायियों के लिए जिस समान धर्म की नियमावली को अपने धर्म-लेखों में उत्कीर्ण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करवाया, वह जातकों में उपलब्ध धर्म के नियमों से मिलता-जुलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि पहले बौद्ध लेखकों ने जिस लोक-धर्म का अपनी लोक-कथाओं में संयोजन किया, उसे पुनः अशोक ने अपने अभिलेखों में धम्म नाम से प्रतिष्ठित किया। अशोक की अभिरुचि सभी धर्मावलम्बियों में बौद्ध-मत के उस सर्वग्राह्य आचार का प्रचार करने में थी जिसकी जन-समुदाय में युगों से प्रतिष्ठा थी। अशोक के धर्म में अल्पासिनव, बहुकल्याण, दया, दान, सत्य, शौच, मार्द्दव, साधुता, अविहिंसा, मातृ-पितृ-सुश्रूषा, गुरुजन-सेवा और ज्ञातृयों, ब्राह्मणों, श्रमणों आदि के प्रति सद्व्यवहार प्रमुख हैं।[८५] अविहिंसा, दया, सत्य, दानशीलता, शौच, मार्द्दव तथा मातृ-पितृ-सुश्रूषा को जातकों में तथा अशोक के धर्म में समान महत्त्व मिला है। धर्म के शेष अंगों में भी न्यूनाधिक समानता विद्यमान है। अशोक ने धार्मिक सहनशीलता को महत्त्वपूर्ण माना, तो जातकों में अविरोध की महत्ता बतलायी गयी। मिथ्याचार का विरोध दोनों ने किया। अशोक ने धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने के मूल में मानवमात्र के लिए इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख-शांति की उपलब्धि को प्रमुख माना था।[८६] उनका परम लक्ष्य तो पारलौकिक ही था जो जीवन के प्रति सनातन-धर्म के दृष्टिकोण से अभिन्न नहीं माना जा सकता। मनुष्य के सभी धर्माचरण वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। अशोक ने कहा—'यं चु किंचि परिकामते देवानंप्रियो प्रियदसि राजा त सवं पारत्रिकाय··· '।[८७] धम्म-जातक (४९७) के अनुसार धर्मानुष्ठान का लक्ष्य स्वर्ग-लोक की उपलब्धि है और इस लक्ष्य की पूर्ति के साधन हैं—अ-प्राणिहिंसा, मिथ्याचार-विरति, मातृ-पितृ-सुश्रूषा तथा सदाचार-पालन। स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग में बाधक होने के कारण क्रोध, ईर्ष्या, तृष्णा तथा विषयासक्ति का त्याग वांछित माना गया।[८८] अशोक ने भी चांड्य, नैष्ठुर्य, क्रोध, मान तथा ईर्ष्या के त्याग का उपदेश दिया।[८९] अतः इन समानताओं से प्रकट होता है कि अशोक के अभिलेखों में धर्म के जिस स्वरूप का हमें ज्ञान होता है वह पालि त्रिपिटक में वर्णित लोक-धर्म पर आधारित है। अतः बुद्ध-कालीन लोक-धर्म के सांगोपांग ज्ञान के लिए अशोक के धर्म-लेखों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जातकों में परवस्तु के उपभोग तथा पर-स्त्री की ओर सकाम दृष्टिपात करने की निषेधाज्ञा मिलती है।[९०] सदाचारी उस व्यक्ति को कहा गया है जो चोर-वृत्ति से सर्वथा विरत रहता है, जो सदा सत्य-वचन बोलता है, जो धन-अर्जन करने के लिए केवल सत्यमार्ग का अवलम्बन करता है—कपटपूर्वक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्जित धन के उपभोग से विरत रहा है, जो अमर्यादित आनन्दोपभोग से विरत रहता है, जो सदुद्देश्य से कदापि विचलित नहीं होता और जो पूर्ण निष्ठावान् है तथा जैसा बोलता है उसके अनुसार आचरण भी करता है।[९१] अन्यत्र इस विचार की भी अभिव्यक्ति मिलती है कि घृणा से घृणा का अंत करना संभव नहीं, एकमात्र प्रेम द्वारा घृणा को जीता जा सकता है, तथा जो प्रभुता प्रचंड साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है वह चिरस्थायी नहीं हो सकती।[९२]

यद्यपि बौद्ध-पिटक में अनेक सदाचार के उल्लेख हैं परन्तु मातृ-पितृ-सुश्रूषा, गुरुजन सत्कार तथा दानशीलता के विशेष विस्तार के साथ विवरण उपलब्ध होते हैं। ये सदाचार अति प्राचीन हैं और सभी भारतीय धर्म-सम्प्रदायों ने इनके महत्त्व को अंगीकार किया है। भगवान् बुद्ध ने बौद्ध उपासकों तथा भिक्षुओं को माता, पिता तथा गुरुजनों की सेवा का महत्त्व बतलाया। उन्होंने कहा—'भिक्षुओ, माता-पिता अपनी सन्तान का बड़ा उपकार करते हैं—वे उनका पालन-पोषण करते हैं तथा उन्हें इस संसार से परिचित कराते हैं।'[९३] उन्होंने यहाँ तक कहा कि जिन कुलों में माता-पिता की पूजा होती है वे ब्रह्मलोक-तुल्य हैं, क्योंकि माता-पिता साक्षात् प्रजापति हैं।[९४] वेदों में माता-पिता की तुलना द्यावापृथ्वी से की गयी है। प्राचीन भारतीय समाज में माता-पिता अर्थात् अपने जन्मदाता की पूजा स्रष्टा की भाँति की जाती थी, अतः उनके महत्त्व का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। बौद्धों ने तो मातृ-पितृ-पूजा को स्वर्ग प्रदान करने में भी समर्थ कहा।[९५] उन्होंने यह माना कि माता-पिता अपनी सन्तान के लिए मानवरूप में देवता हैं। अतः अंगुत्तर-निकाय तथा इतिवुत्तक में कहा गया है कि सन्तान अपने माता-पिता की पूजा उन्हें मधु, भोजन, पेय, वस्त्र एवं शय्या प्रदान करके, उनको स्नान कराकर तथा उनका शरीरावलेपन करके और उनके चरण धोकर सम्पन्न करे।[९६] एक जातक में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने माता-पिता की समुचित सेवा करेगा और गुरुजनों के प्रति सदा श्रद्धालु रहेगा, तो उसे अवश्यमेव त्रयोत्रिंस देवलोक में स्थान मिलेगा।[९७] गुरुजन-सेवा के महत्त्व को भिक्षु-संघ में भी स्वीकार किया गया था और इस कारण वरिष्ठ भिक्षुओं को अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हुई थीं।

गुरुजन-सेवा के समान दानशीलता को भी बुद्धकालीन समाज में धर्म का प्रमुख अंग माना गया था। अनेक जातकों में दानशीलता की महत्ता के गान मिलते हैं। वस्तुतः अति प्राचीन काल से दान को धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है और जातकों में वर्णन मिलते हैं कि ऐसा सुनने को कभी नहीं मिला कि किसी सद्गृहस्थ के द्वार से कोई भिक्षु या श्रमण या ब्राह्मण-तापस खाली हाथ लौट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया हो।[९८] दानशीलता की महत्ता के पुनः पुनः उल्लेख मिलते हैं और लोक-कथाओं में दान के साथ महादान के भी वर्णन किये गये हैं। अंगुत्तर-निकाय तथा सुत्त-निपात में गृहस्थों द्वारा सम्पन्न किये गये महादानों में प्रभूत दान दिये जाने के उल्लेख आते हैं।[९९] ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि दाता ने अपना सर्वस्व दान में दे दिया।[१००] इस प्रकार का दान महादान की श्रेणी में आयगा। समाज में ऐसे धनाढ्य श्रेष्ठि भी विद्यमान थे जो प्रतिदिन सैकड़ों भिखारियों को भोजन कराते थे। बुद्ध के समकालीन श्रावस्ती के प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक अपनी दानशीलता के लिए विख्यात थे—वे नित्य सैकड़ों बौद्ध-भिक्षुओं को भोजन कराते थे।[१०१] कई दानी दानशालाएँ चलाते थे, जहाँ निर्धनों को दान दिया जाता था। श्रमणों, ब्राह्मणों, तापसों, भिखारियों तथा निर्धनों को दान में भोजन-वस्त्र दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[१०२]

पालि-पिटक में यह कहा गया है कि दानशीलता सर्वोत्तम धर्माचरण है, क्योंकि इसके पुण्य-प्रताप से दानी मरणोपरांत स्वर्ग में स्थान पाता है।[१०३] दानी पुरुष ब्रह्मलोक, शक्रलोक तथा नागलोग में जन्म पाता है, ऐसा लोगों का दृढ़ विश्वास हो गया था। अरक-जातक (१६९) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि यदि कोई व्यक्ति सात वर्षों तक निरन्तर दान देता रहेगा, तो वह ब्रह्म-लोक में जन्म पाकर वहाँ सात युगों तक वास करेगा। उरग-जातक (३५४) के अनुसार देवराज शक्र इस कारण भयभीत रहा करते हैं कि कहीं कोई महान् दानी अपने पुण्य-प्रताप से देवलोक में जन्म लेकर उन्हें पदच्युत कर स्वयं देव-राजपद पर आसीन न हो जाय। दानशीलता के प्रताप से शक्रपद-प्राप्ति की कई कथाएँ जातकों में मिलती हैं।[१०४] संखपाल-जातक (५२४) के अनुसार एक राजा ने अपनी दानशीलता के प्रताप से नागलोक में नागराजा के रूप में शरीर पाया। इस तरह की कथाओं का उद्देश्य जनता को दानशीलता में प्रेरित करना था। इन कथाओं के मूल में यह उद्देश्य भी निहित प्रतीत होता है कि पशुयज्ञ से जिस पुण्य को प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है उसकी उपलब्धि दान द्वारा भी संभव है। उपनिषदों में पशुयज्ञ की निःसारता के संकेत मिलते हैं और बुद्ध-युग में यह भावना अत्यन्त मुखर हो गयी।

जातकों में दान-विधि के सम्बन्ध में कई रोचक बातों का पता चलता है। कई दानी तो अपनी दानशीलता प्रदर्शित करने के लिए दानशालाओं का निर्माण करते थे। दानपतियों द्वारा अपने-अपने नगरों में प्रायः ६-६ दानशालाओं के निर्माण की प्रथा प्रचलित थी—चार तो चारों नगरद्वारों में, एक नगरमध्य में और एक दानी के आवास के निकट बनाया जाता था।[१०५] श्रमण तथा ब्राह्मण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रायः भोजन, वस्त्र, यान, उद्यान, गंध, विलेपन इत्यादि अनेक वस्तुओं को दान में प्राप्त करते थे।[१०६] यज्ञादि अवसर-विशेष पर तो ब्राह्मणों को प्रभूत दान मिलते थे। उन्हें स्वर्ण, रजत, अन्न, स्त्री, दास-दासी, गो-वृषभ, अश्व, हस्ति इत्यादि अनेकानेक सामग्री दान में दी जाती थी।[१०७] इस प्रकार के दान महा-दान की श्रेणी में आते हैं जिसका सामर्थ्य जनसाधारण में नहीं था। बड़े-बड़े श्रेष्ठि तथा राजे-महाराजे ही महादान करने में सक्षम थे।

यह तो असंदिग्ध है कि बुद्धकाल में दान की बड़ी प्रतिष्ठा रही, परन्तु समाज में कंजूसों का कभी अभाव नहीं रहा है। जातकों में भी कई ऐसे धन-कुबेरों के उल्लेख मिलते हैं जो दान के नाम से भड़कते थे। कुछ श्रेष्ठि दान तो करते थे, पर सड़े खाद्यान्न का ही। बिलारिकोसिय-जातक (४५०) में एक ऐसे कंजूस श्रेष्ठि की कथा मिलती है जो ब्राह्मणों को निम्नकोटि के चावल दान किया करता था। एक दिन जनता में इसको लेकर बड़ा क्षोभ हो गया और जन-समुदाय के समक्ष उस श्रेष्ठि को अपमानित होना पड़ा। कभी-कभी ऐसे कंजूसों का भी जन्म हो जाता था जो अपनी पैत्रिक दान-शालाओं को बन्द कर देते अथवा उन्हें ध्वस्त कर जला डालते।[१०८] यद्यपि समाज में कतिपय कंजूस थे, परन्तु सद्गृहस्थ श्रमणों, ब्राह्मणों, तापसों, निर्धनों तथा अभावग्रस्तों को मुक्तहस्त से दान दिया करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१३

तापस सम्प्रदाय

संन्यास-जीवन का विकास—संन्यास-जीवन के अस्तित्व के प्रमाण ऋग्वेद काल से ही मिलने लगते हैं। ऋग्वेद में मुनियों[1] और यतियों[2] के उल्लेख हैं, जो उस युग के तापस थे। वे केश बढ़ाये रहते और शारीरिक स्वच्छता के प्रति उदासीन रहते थे। ऐतरेय-ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ये तपस्वी मृगचर्म धारण करते, श्मश्रु बढ़ाते, तप करते तथा सांसारिक सुखोपभोगों से विरत रहा करते थे।[3] ऐतरेय-ब्राह्मण से इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि उस समय तक तापस-सम्प्रदाय समाज में लोकप्रिय न हो पाया था। इससे तापस-जीवन के सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न है कि क्या यह अवैदिक साधना थी ? हड़प्पायुगीन मुहरों में आदि-पशुपतिनाथ तथा श्मश्रु-युक्त पुरोहितों के चित्रण इस विचार को प्रश्रय देते हैं कि संभवतः हड़प्पा संस्कृति में तप की प्रतिष्ठा थी। वैदिक आर्य इन तपस्वियों के गंदे रहन-सहन को पसंद नहीं करते थे। धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि उपलब्धियों को विशेष महत्त्व देने के कारण वैदिक आर्य आरंभ में तापस-जीवन के प्रति विशेष अनुरक्त नहीं थे, परन्तु कालान्तर में जब आर्य-आर्येतर-भेद का अन्त हो गया, तो आर्यों ने तप को नया रूप देकर अपना लिया। अब आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए तप एवं गृहत्याग की अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा। आश्रम-सिद्धान्त के आधार पर जीवन का वर्गीकरण कर व्यक्ति के लिए गृहत्याग को अनिवार्य बना दिया गया, परन्तु छांदोग्य-उपनिषद के समय तक वानप्रस्थ और संन्यास के भेद का कोई स्पष्ट संकेत नहीं दीखता है। उपनिषदों से प्रतीत होता है कि साधारणतया लोग पर्याप्त समय तक गृहस्थ-जीवन बिता कर वन की ओर प्रस्थान करते थे जहाँ वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधना-रत हो जाते थे। याज्ञवल्क्य मुनि ने गृहस्थ-आश्रम के अवसान होने पर संन्यास ग्रहण किया था।[4] मुण्डकोपनिषद् ने तप को ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का साधन बतलाया है और कहा है कि ब्रह्मज्ञानी को भिक्षान्न पर निर्भर रहना चाहिए।[5]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रसंग में आश्रमों पर विचार नहीं किया गया है, परन्तु जाबालोपनिषद् में चतुराश्रमों के उल्लेख के साथ ये विचार भी व्यक्त किये गये हैं कि व्यक्ति को क्रमशः पूर्ववर्ती तीनों आश्रमों का सेवन करके सन्यास में प्रवेश करना चाहिए, अथवा जिस क्षण हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी क्षण प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिए।[६] इससे प्रतीत होता है कि उन दिनों दोनों प्रकार की प्रथाएँ मान्य थीं।

आध्यात्मिक चिंतन के क्रम में जब यह अनुभव किया गया कि सभी इन्द्रिय-जन्य सुख-भोग क्षणिक हैं; स्थायी सुख का उद्गम तो सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त ब्रह्म की अनुभूति है, तो समाज में सन्यासी-वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। उपनिषद्काल में विशेष आध्यात्मिक चिंतन होने के कारण अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का उदय हुआ और इसी क्रम में बुद्ध-काल में भी ऐसे मतों का प्रादुर्भाव हुआ जिनमें गृहत्याग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। प्रव्रज्या को महत्त्व प्रदान करने वाले नवीन दार्शनिक विचारों को मानने वालों के जीवन का लक्ष्य ही बदल गया। जन-साधारण की स्वाभाविक चेतना को महत्त्वपूर्ण दीखने वाली वस्तुओं का उन लोगों के जीवन में कोई महत्त्व नहीं रहा जो शाश्वत सत्य की खोज में तल्लीन हो गये। उन्होंने वैदिक यज्ञों तथा अन्य धार्मिक बाह्याडंबरों को जीवात्मा के उत्कर्ष के लिए, आत्मा तथा परमात्मा के एकत्व की अनुभूति की अवस्था में पहुँचने के लिए, असमर्थ पाया। अतः ब्रह्म-जिज्ञासु अरण्यवासी बनने लगे। संभवतः सर्वप्रथम ब्राह्मणों ने सांसारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुओं तथा वानप्रस्थियों के रूप में मोक्ष का मार्ग ढूँढ़ना आरम्भ किया, परन्तु अन्य वर्णों के लिए इस मार्ग का द्वार बंद था, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव यह अनुमान लगाना अनुपयुक्त नहीं होगा कि सभी वर्णों के आत्म-जिज्ञासुओं तथा मोक्षाकांक्षियों के लिए प्रव्रज्या का द्वार उन्मुक्त था, यद्यपि गृहत्यागियों में ब्राह्मणों की संख्या अधिक रही होगी।

जैसा कि ऊपर कहा गया, सन्यासियों अथवा परिव्राजकों के सम्प्रदाय का अभ्युदय बुद्ध के आविर्भाव के समय से पर्याप्त पूर्व हो चुका था, यद्यपि बुद्ध-पूर्व काल में संन्यासियों के कितने वादों का अस्तित्व था यह कहना कठिन है, परन्तु बुद्ध-जन्म के समय संन्यासियों के अनेक सम्प्रदायों के अस्तित्व के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्वकाल में भी उनके एकाधिक सम्प्रदाय रहे होंगे, जिनके विषय में हम अनभिज्ञ हैं। प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों में आश्रमवासी संन्यासियों के पर्याप्त वर्णन उपलब्ध हैं। रामायण में विश्वामित्र, वशिष्ठ, गौतम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि मुनियों के आश्रमों के सुन्दर वर्णन किये गये हैं। जब भगवान् राम तथा लक्ष्मण अयोध्या से मिथिला जा रहे थे तो उन्होंने मार्ग में तत्कालीन ऋषियों के अनेक आश्रमों का दर्शन किया। पश्चात् जब राम, सीता तथा लक्ष्मण वनवास-काल में दक्षिण भारत गये तो वहाँ भी उन्होंने ऋषियों के अनेक आश्रमपदों को देखा। चित्रकूट के आश्रमपदों का भगवान् राम ने पुनर्गठन भी किया। इसि-गिलिसुत्त, खग्गविषाणसुत्त तथा कई अन्य पालि-सूत्रों में अतीत के तापसों के वर्णन किये गये हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि बुद्ध के आविर्भाव-काल के पूर्व समाज में संन्यास-जीवन आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

बुद्ध-काल में तापस-जीवन की व्यापकता— बुद्ध एवं जैन सूत्रों के अनुसार बुद्ध-काल में अनेक नये तापस सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ। धार्मिक तथा दार्शनिक उथल-पुथल के इस युग में परिव्राजक-जीवन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस युग में जो नये धर्म-सम्प्रदाय अस्तित्व में आये उनमें इस विषय में मतैक्य था। बौद्ध, जैन, आजीविक आदि मतों में समान-रूप से सांसारिक जीवन से वैराग्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया। इन धर्म-सम्प्रदायों के पनपने के लिए जो उर्वर क्षेत्र प्राप्त हुआ, उसका निर्माण उपनिषदों की उस दार्शनिक विचारधारा ने किया, जिसके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। उपनिषद् दर्शन तथा बौद्ध, जैन, आजीविक आदि नये दार्शनिक मतों के प्रसार के फलस्वरूप वृद्ध-युवा, स्त्री-पुरुष, सभी बड़ी संख्या में प्रव्रजित होने लगे और अरण्यों में तापस बड़े-बड़े समूहों में अपने आचार्यों के साथ निवास करने लगे।

पालि-पिटक से प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० के भारत में सांसारिक जीवन से वैराग्य की एक प्रबल वेगमयी आँधी-सी प्रवाहित हो रही थी। दीघ-निकाय,[७] मज्झिम-निकाय,[८] संयुत्त-निकाय,[९] थेरीगाथा[१०] तथा सुत्त-निपात[११] में सांसारिक जीवन की निःसारता बतलाते हुए वैराग्य-जीवन की महत्ता के गीत गाये गये हैं। इन गीतों में बतलाया गया है कि सांसारिक सुखोपभोगों में लीन व्यक्तियों के लिए आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि प्राप्त करना संभव नहीं होता, क्योंकि विषय-वासनाएँ विभिन्न रूपों में मनुष्य के मन को चलायमान करती रहती हैं। पालि-सूत्रों से ज्ञात होता है कि लोग धन, वैभव तथा परिवार के मोह की उपेक्षा कर, निर्मोही बन अरण्यवासी बनने लगे। ब्राह्मण महासाल समस्त संसारिक सुखों का सहर्ष परित्याग कर प्रव्रजित हो वनवासी बन कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कन्द-मूल-फल खाकर जीवन यापन करने में अथवा परिव्राजक-रूप में भ्रमणरत हो भिक्षान्न-मात्र पर निर्भर रहने में ही परम तुष्टि का अनुभव करने लगे।

बौद्ध पालि-पिटक से प्रतीत होता है कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में प्रव्रज्या को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया कि माता-पिता भी अपनी संतान को अध्यात्म-लाभ हेतु प्रव्रजित होने के निमित्त प्रोत्साहित करने लगे। असातमन्त जातक (६१) के अनुसार माताएँ भी अपने पुत्र को स्त्रीजाति के दुर्गुणों का वर्णन कर उन्हें अरण्यवासी बनने की प्रेरणा देने लगीं। ऐसा जान पड़ता है कि इस युग के धर्मोपदेशकों ने बड़ी संख्या में लोगों को पारिवारिक जीवन से विरक्त कर दिया और लोग वैराग्य के जोश में नारी-जाति के प्रति उदासीन होने लगे। जो व्यक्ति परिवार के सम्पूर्ण बंधनों को तोड़ लेने का मन में संकल्प कर लेता, वह अपनी पत्नी को ही इस कार्य में सबसे बड़ी बाधा पाता। जब युवा गृहस्थ पत्नी के प्रति अपनी प्रबल प्रेमासक्ति एवं आकर्षण के उन्मूलन में अपने को असमर्थ पाता, तो वह उसे ही विषयासक्ति का आधार मानकर समस्त दुर्गुणों का आगार समझने लगता।

तापस-जीवन की व्यापकता के कारण— आखिर इस युग में तापस-जीवन के इतने लोकप्रिय हो जाने के क्या कारण थे? तप का अर्थ होता है तपना अथवा प्रदीप्त होना, अर्थात् शरीर को तपा कर तेजस्वी बन जाना। आरम्भ में तप का रूप था आत्मसंयम, परन्तु कालान्तर में इसने आत्म-पीड़न का रूप ग्रहण कर लिया। तापस जन शरीर को नाना प्रकार से पीड़ित करने लगे। आत्मोत्कर्ष के लिए शरीर तथा मन को क्लेश पहुँचाने की अनिवार्यता पर लोगों की आस्था दृढ़ हो गयी। लोग अरण्यवासी बनने लगे, अरण्यभूमि तपोभूमि बन गयी। अब यह विश्वास अटूट हो गया कि तप ही वह साधन है जिससे मनुष्य दैवी-शक्तिसम्पन्न बन सकता है। तप द्वारा अपने इष्टदेव को प्रसन्न कर उनसे मनोवांछित वरदान प्राप्त कर शक्तिशाली बन जाने के अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। तपस्वियों को अलौकिक शक्तिसंपन्न मानने के कारण जनता के हृदय में उनके प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा की भावना को प्रश्रय मिला। तपश्चर्या में योगाभ्यास का प्रमुख स्थान रहा है और योग की अनन्त शक्ति पर लोगों का दृढ़ विश्वास था। लोग मानते थे कि योगी जन अदृश्य होने, आकाश में संचरण करने, जल में चलने, पर्वत के एक पार्श्व से दूसरे में प्रविष्ट हो जाने अथवा दीवार को बीच से निर्बाध पार कर जाने के सदृश असाधारण कार्य सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं। स्वेच्छया विभिन्न रूप धारण करने में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा कार्य-सम्पादन में योगी को वैसा ही समर्थ माना जाने लगा जैसा कि कुम्भकार विभिन्न आकार के मृण्मय पात्रों के निर्माण में निपुण रहता है।[१२] योगशक्ति के सफल प्रदर्शन द्वारा योगी जनता में अपनी धाक जमा लेता था। जो योगी जनसमूह के समक्ष अपनी दिव्य शक्तियों का प्रदर्शन अन्य योगियों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से करता, उसे ही सबसे बड़ा योगी मान लिया जाता था और तदनुकूल उसे समाज में सम्मान प्राप्त होता। बुद्ध और महावीर के लिए भी यह अनिवार्य हो गया था कि वे अपनी अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन कर जनता में अपने प्रति आस्था उत्पन्न करें। पालि-सूत्रों में भगवान् बुद्ध द्वारा अलौकिक शक्ति-प्रदर्शन के अनेक प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं। महावग्ग में बुद्ध द्वारा दिव्य-शक्ति-प्रदर्शन के एक प्रमुख प्रसंग का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है—'उन दिनों उरूवेला के काश्यप-बंधुओं का समाज में बड़ा प्रभाव था और उनके वार्षिक यज्ञ में स्थानीय जनता सोत्साह भाग लेती थी। बुद्ध ने विचार किया कि यज्ञ के अवसर पर यदि अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया जाय तो उसका जनता में बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। काश्यप-बंधु नागपूजक थे; अतः उनके उपास्य नागदेव की अग्नि को भगवान् बुद्ध ने अपनी अग्नि से पराभूत कर दिया। उन्होंने नागदेव को अपने भिक्षापात्र में डाल दिया और उरूवेल जटिल से कहा— देखा, मैंने तुम्हारे नागदेव की शक्ति को किस प्रकार समाप्त कर दिया है? इस पर उरूवेल काश्यप ने सोचा — वास्तव में श्रमण अद्भुत दिव्य-शक्ति-सम्पन्न हैं, तभी तो चारों दिक्पाल महाराजे भी उनके उपदेशों के श्रवणार्थ आ जाते हैं।'[१३] अंगुत्तर-निकाय में बुद्ध द्वारा आकाश-संचरण का वर्णन मिलता है। जातकों में भी ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख हुआ है जब भगवान् बुद्ध को दिव्य-शक्ति का प्रदर्शन करना अनिवार्य हो गया। पालि सूत्रों के अनुसार वे अद्भुत योगबल-सम्पन्न व्यक्ति थे जिससे उनकी समता सुब्रह्मा और सुद्धवास भी नहीं कर सकते थे।[१४] इस युग के अन्य धर्मोपदेशकों को भी अलौकिक शक्ति-सम्पन्न कहा गया है। महा-मोग्गालान इद्धिमंत्रज्ञों में अग्रणी माने जाते थे।[१५] उनका योगबल भी असीमित था। महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा अपरिमित ज्ञानी कहे गये हैं।[१६] उन्होंने अपनी श्रेष्ठ मंत्रशक्ति के द्वारा ही अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी मक्खलि-गोसाल को पराभूत किया। तीर्थंकर गोसाल की गणना भी भारतीय इतिहास के तीन महान् अवधूतों में की जाती है।[१७] भोजपुत्र रोहिताश्व भी जब तपस्वी का जीवन व्यतीत कर रहे थे तो वे असीम योगबल-सम्पन्न थे। उनको

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आकाश-संचरण में समर्थ कहा गया है।[१८]

वस्तुत: साधारण मनुष्य की दृष्टि में तप दैवी शक्ति प्राप्त करने का साधन था, परन्तु सभी व्यक्ति अद्भुत अलौकिक शक्ति-मात्र उपलब्ध करने के उद्देश्य से प्रव्रजित नहीं हो जाते थे। विवेकशील व्यक्ति तो आध्यात्मिक ज्ञान की जिज्ञासा से प्रेरित होकर ही संन्यासमार्ग के पथिक बनते थे। वैराग्य के अधिकांश प्रसंगों से यही प्रतिभासित होता है कि सांसारिक सुख-भोगों की क्षणभंगुरता के कारण ही मनुष्य के हृदय में अरण्यवास की भावना का उद्रेक होता था। गौतम बुद्ध तथा वर्द्धमान महावीर ने सत्य-ज्ञान की खोज में संसार का परित्याग किया। जातक कथाओं में भी इस बात पर बल दिया गया है कि सांसारिक विषय-वासनाएँ मनुष्य को अधोगति के मार्ग में ले चलती हैं, अत: वैराग्य ही आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम मार्ग है। वैराग्य के मूल में प्रेरक शक्ति आत्म-जिज्ञासा ही थी, यह बात अलग है कि साधारणतया लोग योगियों की दिव्य-शक्ति से प्रभावित होकर उनके प्रति भक्ति-भाव रखने लगे।

जनता सभी धर्म-सम्प्रदायों के तापसों का समान आदर करती थी, क्योंकि उसको सैद्धान्तिक मतभेदों से कोई मतलब नहीं था। उसकी दृष्टि में सभी संसारत्यागी एवं आध्यात्मिक चिंतक श्रद्धा के पात्र थे। पालि-सूत्रों से विदित होता है कि समाज में श्रमण तथा ब्राह्मण, दोनों का समान रूप में आदर-सत्कार किया जाता था।[१९] लोग विपत्तियों के निवारणार्थ विभिन्न देवताओं के साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी आह्वान करते थे।[२०] जैन-सूत्रों के अनुसार तापसों का भोजन-सत्कार पुण्य-कर्म माना जाता था। सच्चे क्षत्रिय के कर्त्तव्यों में बड़े-बड़े यज्ञानुष्ठानों एवं श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराने तथा दान देने के उल्लेख मिलते हैं।[२१] उत्सव के दिन गृहस्थ श्रमण-ब्राह्मण को भोजन के लिए आमन्त्रित करते थे।[२२] राजसभा में भी उन्हें समुचित सम्मान मिलता था। वे वहाँ धर्मोपदेश के लिए जाते और उसके बदले में उन्हें सम्मान प्राप्त होता था। ऐतिहासिक अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में श्रमणों तथा ब्राह्मणों को बड़ा आदर मिला। अशोक के धर्मलेखों में इनका एक साथ उल्लेख मिलता है। अशोक ने अपनी प्रजा को श्रमण-ब्राह्मण का समादर करने तथा उनको उदारतापूर्वक दान देने का उपदेश दिया। अशोक तथा उनके पौत्र दशरथ ने उन आजीविकों का भी ध्यान रखा जिन्हें बौद्ध घृणा की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने आजीविक तापसों के लिए बराबर एवं नागार्जुनी की पहाड़ियों को काट कर गुफाओं का निर्माण कराया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बौद्ध-ग्रंथों से इस बात का भी कोई संकेत नहीं मिलता कि किसी वर्ण-विशेष अथवा जाति के आधार पर किसी व्यक्ति को तापस-जीवन से वंचित होना पड़ता था। आरंभिक युग में जब ब्राह्मणों ने वैराग्य का मार्ग अपनाना शुरू किया तो क्षत्रियों ने भी उनका साथ दिया। क्षत्रिय नरेशों ने राजवैभव का परित्याग कर वैखानस स्वीकार किया। धर्मशास्त्र में शूद्र को संन्यास-आश्रम का अधिकारी नहीं माना गया है। इसका अधिकार द्विजातिमात्र को दिया गया है। वस्तुतः शूद्र के लिए वेदाध्ययन तथा वेदमंत्रों द्वारा धार्मिक कर्मों का निषेध हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब ब्राह्मणों ने वैखानस-जीवन को नियमबद्ध किया, तो उन्होंने शूद्र को इस जीवन से वंचित रखा। संन्यासी की अपनी कोई जाति नहीं रह जाती है। जिस क्षण व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है, वह केवल संन्यासी रह जाता है। अतः जिन शूद्रों को ब्राह्मणों ने सदा अपने से हीन समझा, उन्हें संन्यासी के रूप में समान पद देना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। प्रतिकूल सामाजिक वातावरण के कारण शूद्र यदा-कदा ही संन्यासी हुआ करते थे, अतः उनका उल्लेख नहीं मिलता। कट्टरपंथियों के विचार में यद्यपि शूद्र संन्यास-जीवन का अधिकारी नहीं माना गया, परन्तु ज्ञान को कभी बाँध कर नहीं रखा गया। सच्चा ज्ञान तो अन्तर की चीज है जो स्वतः फूट पड़ता है, अतः इसमें किसी वर्ण का एकाधिकार नहीं हो सका। कतिपय विचारकों ने यह अनुभव किया कि शूद्र-वर्ण में जन्म पाने से ही व्यक्ति-विशेष को आध्यात्मिक ज्ञान-जगत् में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित रखना अनुचित होगा। बुद्ध-काल में अनेक वाद प्रचलित हुए जिनमें सभी जातियों के लिए आध्यात्मिक जगत् का द्वार उन्मुक्त रखा गया। इन वादों का प्रादुर्भाव पूर्वयुग के दार्शनिक चिंतन के फलस्वरूप ही हुआ और यह कथन सर्वथा उपयुक्त नहीं है कि बौद्ध-धर्म के उदय के कारण ही सभी जाति के लोगों को तापस-जीवन में प्रवेश का अधिकार मिल पाया। बुद्ध-पूर्व समाज में भी मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने वाले उदारचेता विचारकों का अभाव नहीं था। मातंग-जातक में मातंग नामक चांडाल की कथा है, जिसे ज्ञानसम्पन्न तपस्वी होने के कारण समाज के सभी वर्गों से आदर प्राप्त हुआ था। शूद्र, दास तथा चांडाल जब तापस बन जाते थे, तो उनका उचित सम्मान किया जाता था। अतएव यह निर्णय करना सही होगा कि समाज का उदारवादी वर्ग सभी जातियों के लिए संन्यास का द्वार उन्मुक्त रखने के पक्ष में था।

प्रमुख तापस सम्प्रदाय— पालि-पिटक में तापस सम्प्रदायों की कई सूचियाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलती हैं। सामञ्ञफल-सुत्त तथा महापरिनिब्बाण-सुत्त के अनुसार बुद्धकालीन समाज में ६ प्रमुख तापस सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा थी। इन श्रमण सम्प्रदायों के प्रमुखों की गणना उस समय के मुख्य विचारकों में की जाती थी और जनता उनका बड़ा आदर करती थी। उनके नाम हैं— पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्याययन) अजित केसकम्बल, सञ्जय वेलट्ठिपुत्त एवं निगण्ठ नात (थ)-पुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र)। इन आचार्यों के सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्यत्र उल्लेख मिलते हैं—मुण्डसावक, परिव्राजक, मागन्दिक, तेदण्डिक, अविरुद्धक, देवधम्मिक, पिसाचिल्लिक, अचेलक तथा एकसाटिक नामक सम्प्रदायों के ,जिनके विषय में पर्याप्त बातें ज्ञात नहीं हो पाती हैं।[२३] नवीं शताब्दी ई० सन् के एक जैन टीकाकार ने एक अति प्राचीन अर्द्ध श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें केवल इन पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है— निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक तथा आजीविक।[२४] अशोक के धर्मलेखों में केवल ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा आजीविक तापसों के उल्लेख हैं। ब्राह्मण तथा श्रमण शब्दों से ब्राह्मण-अब्राह्मण वर्ग के कई नगण्य सम्प्रदायों को समाहित माना जा सकता है। न तो सम्पूर्ण पालि-धर्मग्रंथ एक काल की रचना है और न जैन-सूत्र ही, अतः उनमें तापस सम्प्रदायों की जो सूचियाँ दी गयी हैं वे एक-सी नहीं हैं। डॉ० सुकुमार दत्त महोदय के विचार में इस क्रमहीनता के ये कारण प्रतीत होते हैं—आंशिक एवं सदोष ज्ञान, जाति एवं वर्ग के अंतर का अपर्याप्त विश्लेषण तथा परम्परा एवं व्यक्तिगत ज्ञान के बीच की अस्पष्टता।[२५]

विभिन्न तापस सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक विरोध के बावजूद उनके बाह्याचरण में कई प्रकार की समानताएँ थीं। इस कारण विभिन्न प्रकार के तापसों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना दुष्कर कार्य है। पालि-पिटक में तापसों के लिए परिव्राजक, भिक्षु, श्रमण, यति, संन्यासी आदि शब्द मिलते हैं। निकायों में प्रायः परिव्राजक शब्द प्रयुक्त हुआ है, पर जातकों में तापस। जैन औपपातिक-सूत्र (७४) में तापसों का जो विवरण मिलता है उससे वे वानप्रस्थी प्रतीत होते हैं। उनके प्रसंग में सपरिवार अरण्यवास, अग्नि-परिचर्या, भूमिशयन सदृश तप तथा अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने और सम्पत्ति के स्वामित्व आदि के उल्लेख किये गये हैं। सम्भवतः ब्राह्मण-धर्मावलम्बी तापसों के दो वर्ग थे— प्रथम वर्ग था वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों का और दूसरा, परिव्राजकों का। रीस डेविड्स महोदय के मत में परिव्राजक वस्तुतः तापस नहीं थे। इनके विचार में परिव्राजक संज्ञा से उन धर्मोपदेशकों तथा दार्शनिकों का बोध होता है जो वर्ष के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आठ अथवा नौ मास भ्रमणशील रहा करते और प्रायः उन लोकमंडपों में वास करते जहाँ दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श हुआ करते थे।[२६] परन्तु रीस डेविड्स महोदय की धारणा इस विषय में भ्रांत प्रतीत होती है। परिव्राजकों का जीवन तापसों के ही समान था— उनका भोजन भिक्षान्न होता था और उनके अन्य आचरण भी तापसों के आचरण से अभिन्न थे। अतः उनको तापस-समुदाय से भिन्न मानना हमारी भ्रांति होगी।

परिव्राजक—परिव्राजकों के संभवतः दो वर्ग थे–ब्राह्मण परिव्राजक और अन्य-तैर्थिक परिव्राजक। ब्राह्मण परिव्राजक प्रायः संन्यासियों को कहा जाता था। जातक कथाओं में तापसों तथा परिव्राजकों के जो विवरण उपलब्ध हैं उनके आधार पर उन्हें वानप्रस्थी एवं संन्यासी माना जायगा। जातकों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तापस आचार्यों के आश्रमों में शिष्यों का जमघट रहता था। तापस आचार्यों के सन्निकट पाँच-पाँच सौ शिष्यों की मंडली जमा होने के उल्लेख मिलते हैं। उरूवेल काश्यप के शिष्यों की संख्या पाँच सौ थी। उनके दो भ्राताओं के भी क्रमशः ३०० और २०० शिष्य थे। तीनों भाइयों ने अपने-अपने शिष्य-समूहों के साथ उरूवेला में आश्रम स्थापित किये थे।[२७] सञ्जय परिव्राजक राजगृह के निकट अपने २५० शिष्यों के साथ वास करते थे।[२८] तापसों के प्रधान आचार्य को गणसत्था कहा जाता था।[२९] सत्था संज्ञा से ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण सभी प्रकार के तापस-समुदाय के प्रधान का बोध होता है। भगवान् बुद्ध भी सत्था कहलाते थे। निकायों में ४५ प्रमुख तापसों के नामोल्लेख मिलते हैं जिनमें अधिकांश ब्राह्मण परिव्राजक प्रतीत होते हैं। इनके नाम हैं— अगिवच्छगोत्त,[३०] अजित,[३१] अन्न-भार,[३२] अनुगार,[३३] उग्गहमाण,[३४] उत्तिय,[३५] उपतिस्स,[३६] कतृयन,[३७] कन्दरक,[३८] कुण्डलिय,[३९] कोकनुद,[४०] जम्बुखादक,[४१] तिम्बरुक,[४२] दीघनख,[४३] नन्दिय,[४४] निग्रोध,[४५] पटिकपुत्त,[४६] पलायि,[४७] पविट्ठकोलित,[४८] पसूर,[४९] पिलोतक,[५०] पेस्स,[५१] पोट्ठपाद,[५२] पोतलिपुत्त,[५३] पोतलिय,[५४] भगवगोत्त,[५५] मिगसिर,[५६] मागन्दिय,[५७] मोलियसीवक,[५८] वच्छगोत्त,[५९] वरधर,[६०] वेखनस,[६१] सकुल-उदायि,[६२] सञ्जय,[६३] सज्झ,[६४] संदक,[६५] सभिय,[६६] समन्दकानि,[६७] समञ्ञकानि,[६८] सरभ,[६९] सामंडक,[७०] सुचिमुखी,[७१] सुतवा,[७२] सुभद्द[७३] तथा सुसीम।[७४] इनमें अनेक अपने समय के प्रमुख धार्मिक नेता माने जाते थे और जनता पर उनका बड़ा प्रभाव था। यह सर्वथा असंदिग्ध है कि इन परिव्राजकों द्वारा बुद्ध का प्रभुत्व स्वीकार करना बौद्धमत के प्रसार का प्रमुख कारण हुआ।

संन्यास-जीवन का अनुशासन— जातकों में वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अन्तर अस्पष्ट है। इन दोनों आश्रमियों के अन्तर को धर्मशास्त्र में ही स्पष्ट किया गया है। जातकों में इनका मिश्रित विवरण मिलता है। वानप्रस्थी के रूप में अरण्यवास करने और संन्यास-पद को प्राप्त कर मोक्ष की तैयारी की अवस्था के अलग वर्णन जातकों में नहीं किये गये हैं। कुछ लोग ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्त करने के पूर्व ही सांसारिक जीवन से विरक्त हो अरण्यवासी बन जाते थे,[७५] तो कुछ लोग ब्रह्मचर्य-आश्रम की परिसमाप्ति पर,[७६] और कुछ लोग गृहस्थ-आश्रम के अपने दायित्वों को पूर्ण कर गृहत्यागी बनते थे।[७७] यद्यपि गृहस्थ प्रायः सन्तानलाभ के पश्चात् वन का मार्ग अपनाते थे, पर यदि इसके पूर्व ही उन्हें सांसारिक जीवन से वैराग्य हो जाता, तो उनके गृहत्याग करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। कभी-कभी गृहस्थ अपनी पत्नी तथा संतान के साथ अरण्यवासी बन जाते थे।[७८] जातकों के इस विवरण में और धर्मशास्त्र की व्यवस्था में बड़ा साम्य दीखता है। बौधायन-धर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्त करके अथवा गृहस्थ-आश्रम की समाप्ति पर या वानप्रस्थ-आश्रम से संन्यास में प्रवेश किया जा सकता है।[७९] आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्त करके अथवा गृहस्थ-जीवन से प्रव्रजित होने की छूट प्रदान करते हैं।[८०] परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने गृहस्थ-आश्रम की परिसमाप्ति के पूर्व प्रव्रज्या ग्रहण करने का निषेध किया है। मनु के मत में जबतक व्यक्ति गृहस्थ-जीवन के दायित्वों से मुक्त नहीं हो जाता, उसे संन्यास का अधिकार नहीं है।[८१] इस निषेध का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि बुद्ध-युग में गृहत्यागियों की अतिशय संख्या-वृद्धि के फलस्वरूप पारिवारिक जीवन में अशांति एवं अव्यवस्था फैलने लगी थी।

पालि-पिटक, जैन-सूत्र तथा धर्मशास्त्र में परिव्राजक-जीवन के सविस्तार विवरण उपलब्ध होते हैं। इन धर्म-सम्प्रदायों में पर्याप्त दार्शनिक मतभेद था, परन्तु जहाँतक भिक्षु-जीवन के अनुशासन का सम्बन्ध है, इनमें पर्याप्त समानता दीखती है। दूसरी शताब्दी ई० पू० के पश्चात् देश में सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ। इसके पूर्व तापस अथवा भिक्षु प्रायः राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, वाराणसी, कौशाम्बी, कपिलवस्तु आदि नगरों के निकट वृक्ष के नीचे, या गुहाओं अथवा उद्यानों में वास करते थे। राजगृह में तापसों के निवास योग्य कई सुन्दर एवं उपयुक्त स्थल थे, जैसे— वेणुवन,[८२] गृद्ध्रकूट पर्वत,[८३] मोरनिवाप,[८४] सर्पिणिया नदीतटवर्ती परिव्राजकाराम,[८५] जीवकाम्रवन[८६] सीतवन,[८७] मद्दकुच्चि,[८८] तपोदाराम[८९] आदि। महापरिनिब्बाण-सुत्त में गौतम न्यग्रोध, चोर-प्रपात, सप्तपर्णीगुहा तथा ऋषिगिरि के कालशिला को भी तापसों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के निवासयोग्य रमणीय स्थल कहा गया है। इन स्थलों के कारण राजगृह परिव्राजकों के ठहरने का एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता था और वहाँ सदा परिव्राजकों का जमघट रहता था। कई परिव्राजक राजगृह के स्थायी निवासी बन गये थे। उरुवेला (बोधगया) में निरंजना (नीलाजन=फलगू) नदी के तटपर एक अति मनोहर, आश्रम था जहाँ स्नान-हेतु सुन्दर सोपानों का निर्माण किया गया था जो नदी के निर्मल जल में झलकते रहते थे।[९०] वैशाली में महावन, गोतमक-चैत्य, उदेन-चैत्य, चापाल-चैत्य, सीतम्बवन, सरन्दद-चैत्य तथा बहुपुत्त-चैत्य अति रमणीय स्थल थे।[९१] महावन भगवान बुद्ध का प्रिय निवास-स्थान था और वे वहाँ कूटागारशाला में वास करते थे।[९२] नालन्दा तथा चम्पा में क्रमशः पवारिकाम्रवन[९३] तथा गर्गरा पुष्करणी (गग्गरा-पोक्खरणी)[९४] परिव्राजकों के प्रिय निवास-स्थल माने जाते थे। श्रावस्ती में प्रसिद्ध जेतवन था।[९५] इस प्रकार उन दिनों के नगरों के निकट अनेक मनोमुग्धकारी स्थल थे जो तापसों के निवास के सर्वथा उपयुक्त थे। इन स्थानों में वास करने वाले तापस मध्याह्न-वेला में नगर तथा ग्राम में भिक्षान्न के लिए जाते थे।[९६] मध्याह्न-भिक्षा का विधान जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण, तीनों सम्प्रदायों के भिक्षुओं के लिए समान रूप से किया गया है। बुद्ध ने भिक्षुओं को मध्याह्न-भोजन के लिए उपासकों के आमंत्रण यदा-कदा स्वीकार करने की अनुमति दी और आज भी हिन्दू संन्यासियों में यह प्रथा प्रचलित है। सम्भवतः यह अवस्था बुद्ध-काल में भी रही होगी। बौद्धों ने बुद्ध के जीवन-काल में ही कहीं-कहीं स्थायी विहार बनाना प्रारम्भ कर दिया था। इस क्रमी में जेतवन में विहार-निर्माण कराया गया, परन्तु कुछ समय तक विहारों की संख्या अपर्याप्त बनी रही। बौद्ध-भिक्षु वर्षाकाल में भी प्रायः पर्णशालाओं में ही वास करते थे।[९७] इन पर्णशालाओं के आकार-प्रकार का ज्ञान बराबर की गुफाओं और साँची तथा भारहुत के तोरणों में उत्कीर्ण चित्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

ऐसे परिव्राजकों की संख्या भी नगण्य नहीं थी जो ग्रामों एवं नगरों के निकट के आवासों को तपश्चर्या के लिए बाधक मानते थे। अतः वे सघन वन-प्रदेशों में कुटिया बनाकर तापस-जीवन व्यतीत करते—वे अरण्य के शांत वातावरण को ही अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए सर्वोत्तम मानते थे। दीघ-निकाय के कस्सप-सीहनाद-सुत्त तथा उदुम्बरीक सीहनाद-सुत्त, कतिपय जातकों[९८] तथा सुत्त-निपात[९९] में इन तापसों के जीवन का विवरण उपलब्ध होता है। वनों में उपलब्ध शाक, नीवार, मूल, फलादि आहार पर वे जीवन-निर्वाह करते थे। धर्मशास्त्र के अनुसार वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों को वन में प्राप्त होने वाले कन्द-मूल, फल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा अन्न पर जीवन-निर्वाह करना चाहिए।[100] ग्रामों तथा नगरों से सुदूर वनों के निवासी तापसों के लिए नियमित भिक्षाटन संभव न होने के कारण वे समय-समय पर ग्राम-नगरों में मुख्यतया नमक और सिरका संग्रह करने आ जाते थे।[101] वे प्रायः ग्राम-नगरों के निकट ही वर्षावास करते और पावस-ऋतु के अंत में पुनः अरण्यों में आवश्यक सामग्री के साथ चले जाते थे।

विभिन्न मत के तापसों के वस्त्र तथा वाह्याकृति में उनकी तपश्चर्या के अनुरूप न्यूनाधिक अन्तर स्पष्ट हो जाता था। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बीच तप के स्वरूप एवं उसकी उग्रता के सम्बन्ध में मतभेद था। कुछ कठोरतम तप के पक्षपाती थे, तो कुछ इसके विरोधी। जैन, आजीविक तथा अचेलक (अचेल = नग्न) कठोरतम तप का समर्थन करते थे। निर्ग्रंन्थों ने नग्नता-निवारण के लिए वस्त्र-धारण तक का विरोध किया। कई तापस चर्म, वल्कल, केशकम्बल, अश्वपुच्छ के कम्बल, उलूकपंख, घास इत्यादि के वस्त्र पहना करते थे।[102] श्मशान-भूमि और कूड़े के ढेर से प्राप्त चीथड़ों को जोड़कर बनाया गया वस्त्र भी पहना जाता था।[103] बौद्ध-भिक्षु भी पांसुकूल वस्त्र धारण करते थे, परन्तु ग्राम-नगरों में प्रायः जाते रहने के कारण उन्होंने पांसुकूल वस्त्र के स्थान पर मोटे कपड़े का काषाय वस्त्र पहनना उपयुक्त समझा। बौद्ध मध्यममार्गी थे, इस कारण भी उन्होंने वस्त्र के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की हो। धर्मशास्त्र के समान पालि-पिटक में भी ब्राह्मण तापसों को वल्कलधारी तथा मृगचर्मधारी चित्रित किया गया है।[104] वे काषाय वर्ण के पुराने और मोटे वस्त्र भी पहना करते थे।[105] कोई तापस कैसा वस्त्र पहने यह इस बात पर निर्भर करता था कि वह किस प्रकार का तप पसंद करता था। तापस-जीवन वस्तुतः सांसारिक भोग-विलास का त्याग था, अतः संन्यासी के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह ऐसा वस्त्र धारण करे जिससे वह न तो आकर्षक ही दीखे और न उससे उसमें संसार के प्रति किसी प्रकार के मोह का आभास मिले। तापस को दूर से ही देखकर समझ लिया जाता था कि कोई गृहत्यागी आ रहा है। जातक कथाओं में यह भी कहा गया है कि वह वल्कल तथा मृगचर्म पहनता, कभी-कभी अपनी जटाओं को सिर के ऊपर ग्रंथी बनाकर बाँधता और पीठ पर दो टोकरियों को डंडे में बाँध कर लटकाये रहता।[106] जैसा कि ऊपर कहा गया है, वानप्रस्थी और संन्यासी के अन्तर को केवल धर्मशास्त्र में स्पष्ट किया गया है। तदनुसार वानप्रस्थी के लिए केश, श्मश्रु, मूँछ और नाखून बढ़ाने का विधान है,[107] पर संन्यासी अथवा भिक्षु के लिए केश, श्मश्रु, मूँछ और नाखून नहीं रखने का।[108] हिन्दू-संन्यासी और बौद्ध-भिक्षु समान रूप से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिर मुड़ाते रहे हैं। आजीविक तापस तो बालों को उस्तरे से साफ करने की अपेक्षा उखाड़ना पसंद करते थे।

अलग-अलग सम्प्रदाय के तापस भिन्न-भिन्न प्रकार के तप करते थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, जीवन के प्रति अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुरूप तापसों द्वारा तप अपनाये जाते थे। जैन, आजीविक, तथा कतिपय ब्राह्मण-संन्यासी कठोर तप के पक्षपाती थे, पर बौद्ध मध्यममार्गी होने के कारण शरीर को कठोर क्लेश पहुँचाने के विरुद्ध थे। दीघ-निकाय,[१०९] मज्झिम-निकाय,[११०] तथा अंगुत्तर-निकाय[१११] में अचेल (नग्न) तापसों के तप के सविस्तार वर्णन किये गये हैं, जिनके अनुसार वे पैंतीस प्रकार के तप का आश्रय लेते थे। इनमें कई प्रकार के तप अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं, अतः इन सूत्रों के विवरण को इस विषय में अति-रंजित माना जायगा। जातकों में आजीविकों के घोर तप के विवरण मिलते हैं, जैसे— शीतकाल की भीषण शीतरात्रि में खुले स्थान में रहना और ग्रीष्मकाल में दिनभर सूर्य की प्रखर किरणों से शरीर को तप्त करना।[११२] वानप्रस्थी भी इस प्रकार के तप करते थे,[११३] परन्तु आजीविक तापस उनसे कठोरतर तप में विश्वास करते थे। उनके विषय में उल्लेख मिलते हैं कि वे पैर के पंजों पर आसन लगाना, चमगादड़ के समान हवा में लटके रहना, काँटों पर बैठना, कण्टकशय्या पर शयन करना, पंचाग्नि से शरीर को तपाना, जल-प्रवेश करना इत्यादि अनेक प्रकार के तपाचरण करते थे।[११४]

जटिल तापस—विनय-पिटक में जटिल तापसों के तीन आश्रमों का उल्लेख मिलता है जो गयाक्षेत्र के उरूवेला (बोधगया) नामक स्थान पर नि ंजना नदी के तट पर स्थित थे। वहाँ पर तीन काश्यप-बंधु अपने एक सहस्र अनुयायियों के साथ वास करते थे जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। ये काश्यप-बंधु थे—उरूवेल काश्यप, नादि काश्यप और गया काश्यप जिनके क्रमशः पाँच सौ, तीन सौ और दो सौ शिष्य थे। इन मगधवासी ब्राह्मण तापसों के लिए अंग एवं मगध की जनता की बड़ी श्रद्धा थी।

जटिल शब्द का अर्थ है जटाधारी, अतः जटामय सिर के कारण इन तापसों को जटिल कहा गया है। ये वैदिक धार्मिक परम्परा के अनुसार यज्ञ तथा अग्नि-होत्र करते थे। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी जान पड़ते हैं। उरूवेल काश्यप प्रतिवर्ष एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान करते थे, जिसमें भाग लेने के लिए अंग तथा मगध की जनता बड़ी संख्या में प्रचुर खाद्यान्न के साथ उपस्थित हुआ करती थी।[११५] जब हेमन्तऋतु में अष्टका समारोह का अवसर समुपस्थित होता, तो जटिल

तापस हिमपातमय शीतरात्रियों में निरंजना नदी के जल में डुबकी लगाया करते।[११६] उदान[११७] तथा थेरीगाथा[११८] के अनुसार जटिल तापस, नदी-स्नान द्वारा शरीर-शुद्धि पर विश्वास करते थे। प्राचीन काल से हिंदू-समाज में नदी-स्नान का महत्त्व रहा है। अग्नि और जल सभी पापों के विनाशक माने गये हैं। परन्तु बौद्ध वेद-ब्राह्मण-विरोधी होने के कारण नदी-स्नान तथा अग्नि-परिचर्या को अन्धविश्वासजन्य कर्म मानते थे और उन्होंने इनका कई तरह से उपहास किया। बौद्धों के विवरण के अनुसार जब उरूवेल काश्यप ने अपने पाँच सौ अनुयायियों के साथ बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया, तो सभीने अपने सिर मुड़ा लिये और अग्निहोत्र की सामग्री को नदी में फक दिये।[११९] इस विवरण से भी अग्निहोत्र की निरर्थकता की ध्वनि निकलती है।

काश्यप-बंधुओं के अनुयायी जटिल तापस बड़ी संख्या में एक ही स्थान पर वास करते थे, अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक होगा कि बौद्धों और निर्ग्रन्थों के समान उनका जीवन भी संघीय था। श्री वेनी माधव बरुआ महोदय के मत में जटिलों का पारस्परिक सम्बन्ध सामुदायिक न होकर घरेलू था।[१२०] बुद्ध-काल के तापस सम्प्रदायों में सामुदायिक जीवन-पद्धति अपनाने की प्रथा चली हुई थी, पर विभिन्न सम्प्रदायों के जीवन के विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं। जटिलों के सामुदायिक जीवन के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान अल्प है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४

जैन-श्रमण तथा आजीविक तापस

जैन-संघ—बुद्ध के समान महावीर ने भी जैन-संघ का गठन सनातन-धर्म की संन्यास-परम्परा को आदर्श मान कर किया। प्रसिद्ध विद्वान् जकोबी ने बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं की जीवन-पद्धति किस रूप में तथा किस सीमा तक ब्राह्मण संन्यास-परंपरा द्वारा प्रभावित हुई, इसका विद्वतापूर्ण विवेचन किया है।[१] बौद्ध एवं जैन भिक्षुओं के आचार में उल्लेखनीय साम्य है। दोनों के ही नियमित भिक्षाटन करने, कम-से-कम भौतिक वस्तुओं के उपयोग, अहिंसा तथा सत्य के आचरण और ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा के पालन तथा नृत्य-संगीत, मादक-द्रव्य, उच्चासन, शैय्या, माला एवं कुसमय भोजन के निषेध-सम्बन्धी विचारों में समानता है। दोनों में जो प्रमुख भेद है वह साधन के स्वरूप के विषय में है—बौद्ध मध्यम-मार्गी रहे, पर जैन-श्रमण उग्रपंथी।

जैन भिक्षु-जीवन के नियमों का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम ग्रंथ है आचारंग-सूत्र, जिससे ज्ञात होता है कि जैन-श्रमण को अनिवार्यतः पंच-महाव्रत की प्रतीज्ञा करनी पड़ती थी। ये पाँच महाव्रत थे—अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[२] इन पाँच महाव्रतों तथा बौद्ध-भिक्षुओं के अष्टांगिक मार्ग की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ने दूसरे से प्रेरणा ली, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इन दोनों ने ब्राह्मण-संन्यासियों के पंच-व्रत को आधार मान कर अपने-अपने सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिए नियमावली के विधान किये। जैन-धर्म में अहिंसा का अर्थ होता है किसी भी रूप में प्राणि-हिंसा-विरति। प्राणी के अन्तर्गत वनस्पति-जगत् भी समाहित माना जाता है। जैन-श्रमण के लिए कठोर शब्दों के प्रयोग का निषेध किया गया है। ऐसे सत्य-भाषण का भी निषेध है जिससे किसी व्यक्ति को कष्ट पहुँचने की संभावना हो। दोनों ही जैनियों की दृष्टि में हिंसा की श्रेणी में आते हैं।[३] सुनृत का अर्थ है सत्य-भाषण। अतः जैन-श्रमण को सदा सच बोलना चाहिए। सभी प्रकार के असत्य वचन से उसे दूर रहने का आदेश दिया गया है।[४] सत्य को कोमल एवं संयत वाणी में व्यक्त करना उचित है,[५] परन्तु इस प्रकार के सत्य-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाषण का निषेध है जिससे किसी व्यक्ति की हानि सम्भावित हो। अतः जैन-श्रमण के लिए अहिंसक सत्य अपेक्षित माना गया है। उदाहरणार्थ, यदि किसी श्रमण के सामने से कोई व्यक्ति भागता हुआ निकल जाय और उसका पीछा करने वाला व्यक्ति पूछे—'हे श्रमण, क्या आपने किसी मनुष्य को इधर से भागते हुए देखा ?', तो उस अवस्था में उसके लिए मौन रह जाना अथवा अस्वीकार करना उचित होगा।[६] अस्तेय के अनुसार किसी भी अन्य व्यक्ति की वस्तु उसकी अनुमति के बिना ग्रहण नहीं की जानी चाहिए।[७] इस महाव्रत से प्रतीत होता है कि भिक्षु को जो भी वस्तु उपलब्ध होती थी, वह भिक्षा के माध्यम से। चतुर्थ व्रत के अनुसार भिक्षु को मन, वचन तथा कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए,[८] अर्थात् इन्द्रिय-सुख का परित्याग। अपरिग्रह का तात्पर्य है समस्त इन्द्रिय-सुख में आसक्ति का त्याग।[९]

जैन-श्रमण पावस-ऋतु को छोड़कर वर्ष के सभी महीनों में सदा भ्रमण-शील रहते थे, परन्तु उनके लिए सर्वत्र जाने का निषेध किया गया था।[१०] कठोर आत्म-नियन्त्रण का आचरण करने के कारण ऐसे स्थानों में जाने का, जहाँ पर मन अथवा शरीर से नैतिक पतन की सम्भावना रहती, उनके लिए निषेध किया गया। इस प्रकार के स्थान थे— गीत-वादन-नृत्य-स्थान, आमोद-प्रमोद के स्थान, आराम, उद्यान आदि।[११] उन अशांत स्थलों में जाने का भी निषेध किया गया जहाँ पर दंगे, झगड़े अथवा विप्लव के कारण व्यक्तिगत असुरक्षा हो। वन-पर्वत भी चोर-डकैतों के आवास बन जाने के कारण श्रमणों के लिए निरापद नहीं माने जाते थे। बाजार और सार्थवाहों के ठहरने के स्थानों में जाना भी सर्वथा सुरक्षित नहीं रहता था, क्योंकि छद्मवेशी चोर अथवा डकैतों का भेदिया समझ कर श्रमण के पकड़े जाने की संभावना रहती थी।

सामान्यतया श्रमणों के लिए एक स्थान में ठहरने की अधिकतम अवधि एक महीना निर्धारित की गयी है।[१२] केवल वर्षाकाल में वे भी अन्य तापस सम्प्रदायों के समान एक स्थान में ठहरते थे। जैन-सूत्रों में वर्षावास को पज्जुसन कहा गया है।[१३] जैन-श्रमणों के द्वारा वर्षावास की प्रथा को अपनाने के दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं—पहला तो यह कि बरसात में अनेकानेक जीव-जन्तु भूमि पर संचरण करने लगते हैं जिससे मनुष्य के पैरों से कुचल कर उनके मर जाने की आशंका बनी रहती है, दूसरा यह कि घासों और जंगली पौधों की वृद्धि तथा यत्र-तत्र पानी जमा हो जाने के कारण मार्ग ढूँढ़ना कठिन हो जाता है।[१४] अतः अहिंसाव्रती होने के कारण जैन-श्रमणों को किसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उपयुक्त ग्राम अथवा नगर में वर्षावास करना अनिवार्य हो जाता था। वर्षावास के लिए वे ऐसा ग्राम अथवा नगर चुनते, जहाँ स्वाध्याय एवं तप के लिए उपयुक्त स्थान उपलब्ध होता, जहाँ अनायास भिक्षा मिल जाती और जहाँ विरोधी सम्प्रदाय के तापसों के आने की संभावना नहीं रहती। पावस-ऋतु के चार मास बीत जाने पर श्रमण अन्य स्थान के लिए प्रस्थान करते थे, पर यह देखना भी आवश्यक माना जाता था कि मार्ग जीव-जन्तुओं से मुक्त हो और सहयात्री ब्राह्मणों तथा श्रमणों की संख्या भी अधिक न हो। अनुकूल परिस्थिति के अभाव में उन्हें मार्गशीर्ष मास के अन्त तक अपनी यात्रा स्थगित रखनी पड़ती थी।[१५]

उन दिनों जैन-श्रमणों के लिये आवासों की समुचित व्यवस्था नहीं थी, अतः उन्हें ठहरने के लिए गृहस्थों से उपयुक्त आवास की याचना करनी पड़ती थी।[१६] जैन-श्रमण के लिए सभामंडप, देवस्थान, पारिवारिक आवास, उद्यान-गृह इत्यादि जहाँ भीड़भाड़ रहती है, अनुपयुक्त माने गये हैं।[१७] विरोधी विचार के तापसों के सम्पर्क से दूर रहना पसंद करने के कारण वे उन स्थानों में नहीं ठहरते थे जहाँ विभिन्न सम्प्रदायों के तापस ठहरा करते। गृहस्थों के घरों में ठहरने में भी कठिनाइयाँ पायी गयीं।[१८] परिवार की युवती कन्याओं को देखकर श्रमणों के मन में विकार उत्पन्न होने की संभावनाएँ रहती थीं। कभी-कभी श्रमण पथभ्रष्ट भी हो जाते थे। यदि परिवार का कोई सदस्य किसी संक्रामक रोग से ग्रस्त रहता, तो उस परिवार में ठहरने वाला श्रमण भी उसका शिकार हो जा सकता था। श्रमणों का रहन-सहन प्रायः गन्दा होता था, अतः परिवार के सदस्यों की असुविधा का खयाल रखकर भी वे परिवार से दूर रहना उचित समझते थे। अतएव उनके आवास के लिए ऐसा स्थान उपयुक्त माना जाता था जिससे श्रमण-जीवन में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता और जहाँ ठहरना स्वीकार करने से पंच-महाव्रत का उल्लंघन भी नहीं हो पाता।[१९] शयन करने के लिए भी श्रमण को गृहस्थों से निर्धारित प्रकार के खाट की याचना करनी पड़ती थी।[२०] यदि एक ही कमरे में अनेक श्रमणों को ठहरना पड़ता, तो वे अपने विस्तरों के बीच इतनी दूरी का अन्तर अवश्य रखते जिससे हाथ फैलाने पर वे एक दूसरे का अंगस्पर्श नहीं कर पाते।[२१] अंगस्पर्श द्वारा कामोद्दीपन की संभावना को ध्यान में रखकर यह नियम बनाया गया प्रतीत होता है।

अपने अतिवाद के कारण जैन-श्रमणों ने उन्हीं वस्तुओं का स्वामित्व स्वीकार किया जो श्रमण-जीवन के लिए अत्यावश्यक थे, जैसे—चीवर, जूते, दंड तथा छत्र। यहाँ बौद्ध-भिक्षुओं के मध्यम-मार्ग तथा जैन-श्रमणों के अतिवाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध-भिक्षुओं को अनेक वस्तुओं के उपयोग का अधिकार मिला। श्रद्धालु उपासक भिक्षुओं के उपयोग की वस्तुओं को भिक्षु-संघ को दान करते थे, जिनको संघ द्वारा भिक्षुओं में वितरित कर दिया जाता था—उनके लिए सुई तक अपने पास रखने की व्यवस्था की गयी थी, पर जैन-श्रमणों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था का सर्वथा अभाव रहा। उनको अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को सीधे गृहस्थ से माँगना पड़ता था। कई वस्तुएँ ऐसी भी थी जिन्हें वे अपने पास नहीं रखते थे, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें गृहस्थों से माँग लेते और काम पूरा करके पुनः वापस कर देते।[२१] उन्हें केवल चीवर, जूते, दंड तथा छत्र सदृश जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं को ही अपने पास रखने का अधिकार प्रदान किया गया।[२२]

जैन-श्रमणों में भी मुण्डित सिर रहने की प्रथा है, परन्तु वस्त्र के सम्बन्ध में वे ब्राह्मण-संन्यासियों तथा बौद्ध-भिक्षुओं के समान काषाय-वस्त्र धारण नहीं करते हैं। वे या तो नग्न रहना पसन्द करते हैं अथवा श्वेत वस्त्र धारण करना।[२३] वस्त्रधारी अथवा श्वेताम्बर जैन-भिक्षु पूर्वकाल में बौद्धों के समान फेंके हुए चीथड़ों के वस्त्र पहना करते थे, परन्तु इसमें सुधार करके यह नियम बनाया गया कि श्रमण उपासकों से आवश्यक वस्त्रों की याचना करें। उपासकों द्वारा प्रदत्त वस्त्र बौद्ध-भिक्षुओं को सघ के माध्यम से उपलब्ध होता था, पर जैन-श्रमणों के लिए व्यक्तिगत-रूप में गृहस्थों से वस्त्र माँगने की व्यवस्था की गयी।[२४] उपासक से वस्त्र की याचना करते समय श्रमण को यह स्पष्ट करना आवश्यक होता था कि उसे किस प्रकार का कपड़ा चाहिए, अर्थात् सूती, ऊनी या रेशमी अथवा सन या आरकूट इत्यादि[२५] का बना हुआ। उसे यह भी स्पष्ट कहना पड़ता था कि उसको अधोवस्त्र चाहिए अथवा उत्तरीय। बुद्ध ने भिक्षुओं को तीन चीवर रखने की अनुमति दी, पर महावीर ने केवल अधोवस्त्र अथवा उत्तरीय या दोनों की, लेकिन यदि कोई श्रवण दुर्बल या रुग्ण रहता तो इस नियम में शिथिलता की जाती थी।[२६] शीतकाल में चार वस्त्र उपयोग में लाये जाते थे।[२७] भिक्षुणियों के लिए विशेष नियम बनाये गये और तदनुसार उनको सदा चार वस्त्र रखने की अनुमति दी गयी[२८]— दो वस्त्र तीन-तीन हाथ के, तीसरा दो हाथ का और चौथा चार हाथ का। जैन-श्रमण को उसी वस्त्र के लिए याचना करने का अधिकार दिया गया जिसे उपासक दान के लिए बनवाकर रखते थे।[२९] जैन-श्रमणों के पास प्रायः एक ही वस्त्र रहने के कारण एक विशिष्ट नियम यह भी बनाया गया कि वे आवश्यक होने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर किसी साथी श्रमण से सीमित अवधि के लिये कोई वस्त्र माँगकर उसका उपयोग कर सकते थे।[३०] परन्तु बौद्ध-भिक्षुओं में इसका निषेध हुआ क्योंकि उनके लिए वस्त्र की व्यवस्था का भार संघ पर था। श्रमण को इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि माँगा हुआ कपड़ा पाँच दिनों के अन्दर लौटा दिया जाय, वह किसी दूसरे को उपयोग के लिए न दिया जाय और उस कपड़े का उपयोग ऐसी लापरवाही से न किया जाय कि वह बदरंग हो जाय।[३१]

ऊपर कहा गया है कि जैन-श्रमण के लिए काषाय वस्त्र पहनने का निषेध था। उन्हें धुले हुए, सुगंधित अथवा मूल्यवान् वस्त्र पहनने की भी अनुमति नहीं दी गयी।[३२] श्रमण-जीवन के नियमानुसार वे प्रायः बिना धुले वस्त्र पहना करते थे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर अल्प-जल में वस्त्र साफ किये जा सकते थे।[३३] वस्त्र धोने के पश्चात् सूखने के लिए जहाँ-तहाँ फैलाने का निषेध किया गया है। स्तम्भ-सदृश ऊँचे स्थान अथवा अस्थिर वस्तु पर वस्त्र फैलाने के क्रम में स्वयमेव गिर पड़ने का तथा उस वस्तु के गिरने से दबकर किसी प्राणी की मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, और ऐसा भी हो सकता है कि यदि वहाँ जीव-जन्तु हों तो वस्त्र में दबकर मर जायँ। अतः वस्त्र फैलाने के सम्बन्ध में यह नियम बना।[३४]

श्रमण को भिक्षापात्र भी उपासक से ही माँगना पड़ता था।[३५] मूल्यवान् धातु या पत्थर के बने अथवा अलंकृत पात्र अग्राह्य माने गये।[३६] यदि उपासक किसी श्रमण-विशेष के लिए पात्र-क्रय करता, तो वह भी अग्राह्य माना जाता।[३७] न तो उपासकों को किसी प्रकार की आर्थिक असुविधा हो, और न श्रमण-जीवन के आदर्श का ही विरोध हो, इस विचार से कांस्य और मिट्टी सदृश अति सामान्य पदार्थ से निर्मित पात्रों की याचना करने का नियम बनाया गया।[३८] जो पात्र उपयोग में लाया जा चुका होता या जिसको किसी ने छोड़ दिया होता और जिसको लेनेवाला कोई दूसरा तापस न होता, इस प्रकार का पात्र श्रमण के लिए ग्राह्य माना जाता था।[३९] श्रमण को अपने पास एक पीने का पात्र और एक भिक्षा-पात्र रखने का अधिकार दिया गया, अतः उपासक से याचना करते समय कौनसा पात्र चाहिए यह बतलाना उसका कर्त्तव्य माना जाता था।[४०] पात्र ग्रहण करते समय उसका यह भी कर्त्तव्य हो जाता था कि वह उसकी भली-भाँति परीक्षा कर लेता कि उसमें कहीं जीवित प्राणी, बीज या घास तो नहीं है। यदि पात्र के भीतर इनमें से कोई दिखलायी पड़ जाता, तो वह उन्हें निकाल कर पात्र को अच्छी तरह पोंछ डालता।[४१] पात्र के भींगे होने पर उसे पोंछा नहीं जाता था। श्रमण-जीवन के इन नियमों से यही झलकता है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन-श्रमण के प्रत्येक कार्य में अहिंसा की भावना को प्रमुखता दी गयी।

आजीविक तापस—आजीविक तापसों का जीवन भी बौद्धों एवं निर्ग्रन्थों के समान सामुदायिक था। उनके रहने के स्थान को विनय-पिटक में आजीविक-सेय्य[८२] कहा गया है, जो उवासगदसाओ के आजीवियसभा (आजीविकसभा)[८३] का रूपान्तर है। जब आजीविक सम्प्रदाय के प्रधान मक्खलि गोसाल पोलासपुर गये, तो उन्होंने सर्वप्रथम आजीविक-सभा में जाकर अपने भिक्षापात्र को रखा। इससे प्रतीत होता है कि आजीविक तापसों के जीवन का नियमन संघीय नियमों द्वारा होता था।

आजीविक तापस कठोरतम तप के समर्थक थे और वे दिगम्बर जैन-श्रमणों के समान नग्न रहा करते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में उनको नग्न कहा गया है[८४] और अजन्ता के एक भीत्ति-चित्र में भी पूर्ण काश्यप नग्न दिखलाये गये हैं। जैन-श्रमण प्रायः अधोवस्त्र धारण करते थे, पर आजीविक पूर्ण नग्न रहा करते थे। महावीर और गोसाल कई वर्ष एक साथ रहे, अतः महावीर के इस सम्बन्ध में जो विचार बन गये उसमें गोसाल के दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा, ऐसा होर्नल तथा बशाम महोदय मानते हैं।[८५]

पालि-पिटक में आजीविकों के तप-सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध होते हैं वे निःसन्देह अतिरंजित हैं। बौद्धों के अनुसार आजीविक तापस नाना प्रकार के घृणित तप करते थे। कठोर तप के प्रति अपने स्वाभाविक विरोध के कारण बौद्धों के तप को यथासम्भव निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया। आजीविकों की भी समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। गोसाल के लिए लोगों के हृदय में श्रद्धा का अभाव नहीं था, क्योंकि वे अपने समय के प्रमुख धर्मोपदेशकों में थे। यह मान लेना सर्वथा सही नहीं है कि आजीविक तापस अशुचि-तप के पक्षपाती थे। जम्बुक तापस को अशुद्धि कर्म करने के कारण ही आजीविक समुदाय से निष्कासित कर दिया गया था।[८६] उसके विषय में कहा जाता है कि वह नग्न रहा करता था और भिक्षाटन के लिए न जाकर मलमूत्र खा जाता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आजीविक तापस कठोरतम तप के समर्थक होने पर भी इस तरह के तप को प्रश्रय देने के पक्षपाती नहीं थे जिसे समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५

बौद्ध भिक्षु-संघ

संघ-जीवन का क्रमिक विकास—सुव्यवस्थित बौद्ध भिक्षु-संघ के प्रादुर्भाव का मनुष्य के धार्मिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षुओं के संघ-जीवन का विकास धीरे-धीरे हुआ। बौद्ध-धर्म के शैशव काल में न तो सुव्यवस्थित संघ-जीवन था और न संघ-जीवन के लिए उपयुक्त विहारों का ही अस्तित्व। वस्तुतः बौद्ध-भिक्षुओं के लिए स्थायी विहारों के निर्माण के क्रम का प्रारम्भ दूसरी शताब्दी ईसवी सन् में किया गया। आरम्भ में भगवान बुद्ध ने अन्य तापस सम्प्रदायों से मिलता-जुलता मार्ग अपनाया। वस्तुतः उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं के लिए जो नियम बनाये, वे तत्कालीन तापसों की जीवन-पद्धति से प्रभावित थे। बौद्ध-भिक्षु भी अन्य तापसों के समान केवल वर्षा-ऋतु में उपयुक्त आवासों का आश्रय लिया करते थे, शेष महीनों में वे भ्रमणशील रहा करते। प्रकृति की शरण में निवास करना ही भिक्षु-जीवन का सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना गया था। उपसम्पदा की दीक्षा देते समय भिक्षु को सम्बोधित कर कहा जाता था कि इस धर्म के अनुयायी को वृक्षमूल को ही आवास बनाना पड़ेगा और आजीवन इस आदर्श का पालन करना होगा[1]। पालि-पिटक में इस बात के उल्लेख मिलते हैं कि बौद्ध-भिक्षु अरण्य, वृक्षमूल, पर्वत, कन्दरा, श्मशान-भूमि, खुले मैदान तथा पुआल के ढेर पर रहा करते थे[2]; परन्तु श्मशान-भूमि तथा पुआल के ढेर पर रहने के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करना संदिग्ध प्रतीत होता है। भिक्षुओं द्वारा पर्णशाला[3] बनाकर अरण्यवास करने तथा पर्वत-कन्दराओं[4] में निवास करने के निश्चित प्रमाण मिलते हैं।

भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया, किन्तु उन्होंने आरम्भ में भिक्षुओं के लिए अरण्यवास की आवश्यकता को स्वीकार किया था। जिस प्रकार ब्राह्मण-तापस वन में तथा नदी-तट पर अपने आश्रमों की स्थापना करते थे, उसी प्रकार बौद्ध-भिक्षु भी एकांतवास के लिए अरण्य में तथा नदी-तट पर अपने लिए पर्णशालाएँ बनाते। मन की एकाग्रता के लिए जनाकीर्ण स्थानों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की अनुपयुक्तता के कारण ही भिक्षु अरण्यों में कुटिया बनाकर रहते थे, जहाँ उनको अपनी साधना के लिए सर्वथा उपयुक्त वातावरण उपलब्ध होता था। अरण्यवास की अवधि में भिक्षु को अपने लिए निर्धारित नियमों का समुचित पालन करना पड़ता[५] था—वह यथासमय शय्यात्याग करता, भिक्षापात्र को झोले में डालकर कंधे से लटका लेता, पीठ पर उत्तरासंग डाल लेता, चप्पल पहनता, थाली तथा अन्य पात्रों को यथास्थान रखता और द्वार बंद करके भिक्षाचर्या के लिए नियमित रूप से प्रतिदिन निकल जाता। अपनी कुटिया के आस-पास के अरण्यवासियों से तथा निकटवर्ती ग्राम के निवासियों से जो थोड़ा-बहुत भोजन भिक्षा में उपलब्ध होता, उसी से वह जीवन-निर्वाह करता। कई भिक्षु अरण्य में अथवा नदी-तट पर निर्मित पर्णशाला में निवास न करके किसी एकांत ग्राम में ही समय व्यतीत करते। धम्मदिन्ना नामक भिक्षुणी ने एक ग्राम में एकांतवास किया था।[६] एक बार सारिपुत्त तथा मोग्गलान ने कोकालिक नामक अपने एक मित्र के घर में एकांत वर्षावास किया था।[७] इस प्रकार के एकांतवास का लक्ष्य था—समाधि की अवस्था की उपलब्धि के लिए मानसिक एकाग्रता की साधना।

बौद्ध-धर्मावलम्बियों का संख्या-वृद्धि के साथ भिक्षुओं के जीवन में भी कई परिवर्तन हुए। उनके एकांतवास तथा भ्रमणरत जीवन के स्थान पर धीरे-धीरे सुव्यवस्थित संघ-जीवन ने ले लिया। श्रद्धालु बौद्ध उपासकों ने भिक्षुओं के निवास के लिए आरामों का दान आरम्भ कर दिया।[८] दान में प्राप्त आरामों का उपयोग वर्षावास के लिए किया जाने लगा, परन्तु शीघ्र ही ये आराम स्थायी आवासों में परिवर्तित हो गये। ऐसे आराम जो ग्राम तथा नगर के न तो अति निकट ही थे और न अति दूर, वे भिक्षुओं के लिए आदर्श माने गये, क्योंकि वहाँ जाने में न तो भक्तजनों को किसी प्रकार की असुविधा होती थी और न भिक्षुओं को चारिका में। न तो इन स्थानों में दिन में भीड़-भाड़ रहती और न रात्रि में कोलाहल होता। इनको हवा के झोकों से भी सुरक्षित बनाया जाता था।[९] इन स्थानों में वास करने वालों पर अनायास लोगों का ध्यान नहीं जाने के कारण इनको एकांतवास के सर्वथा उपयुक्त माना गया। जब भिक्षु-संघ को इस प्रकार के आरामों पर, जो एकांत-साधना के लिए सर्वथा उपयुक्त थे, स्वामित्व प्राप्त हो गया, तो अरण्यवास की अनिवार्यता स्वतः समाप्त हो गयी।

भिक्षुओं के आवासीय आरामों का नाम पड़ा—संघाराम। श्रद्धालु उपासकों को केवल संघारामों का निर्माण करके ही संतोष नहीं हुआ, उन्होंने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विहारों का भी निर्माण कराया। भिक्षु-संघ के लिए विहार-निर्माण के लिए उन्होंने मुक्तहस्त दान दिया। श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक के विषय में विख्यात है कि उन्होंने विहार-निर्माण में ५४ कोटि कार्षापण व्यय किये।[१०]

जब भिक्षुओं के आवास के लिए पर्याप्त विहारों का निर्माण हो गया, तो भिक्षु-संघ को उनकी समुचित व्यवस्था की समस्या का सामना करना पड़ा। बौद्ध उपासक विहारों का निर्माण करके संघ को दान कर दिया करते थे, अतः सभी संघारामों का स्वामित्व भिक्षु-संघ के हाथों में था। प्रत्येक भिक्षु के लिए आवास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व संघ पर था। इस कार्य के लिए संघ द्वारा एक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी, जो प्रत्येक भिक्षु के लिए आवास की व्यवस्था करता।[११] पर्याप्त संख्या में विहारों का निर्माण हो जाने पर भी भिक्षु सदा एक ही स्थान में निवास नहीं करते थे। वे केवल वर्षाकाल में किसी विहार-विशेष अथवा आराम में वास करते थे, अन्यथा वे यत्र-तत्र घूमा करते और जिस किसी भी विहार में पहुँच जाते, वहाँ जितने दिन वे निवास करना चाहते, उनके रहने की व्यवस्था हो जाया करती थी।

जब कालान्तर में भिक्षु स्थायी रूप से विहारों में वास करने लगे और उनका जीवन सुव्यवस्थित, स्थिर तथा नियमित हो गया, तो वरिष्ठ भिक्षुओं के मन में यह विचार आया कि यदि समान विचार रखने वाले भिक्षुओं को एक ही आवास में रखा जाय, तो वे विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा सम्बद्ध विषय में विशेष प्रगति कर सकेंगे। विरोधी विचार वालों में कटु वाद-विवाद हो जाने की संभावना रहती है। अतः भिन्न-भिन्न विचार के भिक्षुओं का वर्गीकरण करके उन्हें विभिन्न आवासों में स्थान दिया जाने लगा।[१२]

भिक्षु-जीवन के उपयुक्त पात्र—बौद्ध-संघ के आदि-काल में उन सभी व्यक्तियों को भिक्षु-धर्म की दीक्षा दी जाती थी जो इसके लिए कृतसंकल्प होते। केवल स्त्री-जाति को इस अधिकार से वंचित किया गया था, परन्तु कालान्तर में भगवान् बुद्ध को अनुभव हुआ कि सभी वर्ग के लोगों को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देना भिक्षु-संघ के लिए अहितकर होगा। जिन लोगों के संस्कार उत्तम रहते हैं वे ही प्रायः धर्मनिष्ठ हुआ करते हैं। भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों के अनुसार आचरण करने की पात्रता सभी लोगों में नहीं थी, अतः उन लोगों का संघ-प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया जो इसके लिए अनुपयुक्त पाये गये। जिस अपराधी व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन समाज-विरोधी कर्मों में व्यतीत हुआ हो, उसका चित्त

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आध्यात्मिक साधना में नहीं लग पाता है, अतः चोर-डाकू को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने का निषेध कर दिया गया।[१३] अंगुलिमाल को दस्यु होने पर भी भिक्षु-धर्म की दीक्षा दी गयी, परन्तु विशेष परिस्थितिवश ऐसा किया गया। लुब्धक और मत्स्यघातक सदा हिंसक कर्म में रत रहने के कारण बुद्ध के अहिंसा-धर्म को ग्रहण करने के अयोग्य सिद्ध हुए। सारिपुत्त ने इस वर्ग के लोगों को धर्मोपदेश दिया, तो उन्होंने श्रद्धावश उसको श्रवण कर तदनुसार आचरण करने का प्रयास तो किया, पर वे उसमें असफल रहे।[१४] मानसिक स्वस्थता के साथ शारीरिक स्वास्थ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक समझ कर संक्रामक रोगियों को भिक्षु-जीवन के अनुपयुक्त माना गया। संक्रामक रोगी अन्य भिक्षुओं को भी रुग्ण बना देता, अतः कुष्ठ तथा यक्ष्मा सदृश रोगों से ग्रसित व्यक्तियों के भिक्षु-संघ-प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया।[१५]

जैसे-जैसे समय बीतता गया, भगवान् बुद्ध को नयी-नयी समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनके संघ में अनेक समाज-विरोधी तत्त्व भिक्षु-धर्म की दीक्षा लेकर प्रवेश पाने लगे। इससे समाज में भिक्षु-संघ की निंदा होने लगी। भगवान् बुद्ध ने विचार किया कि उनके भिक्षु-संघ को यदि समाज में समुचित सम्मान, आदर तथा भक्ति का स्थान पाना है, तो उस प्रकार के लोगों को भिक्षु-धर्म में दीक्षित करना उचित नहीं होगा, जिनके कारण संघ के प्रति जन-भावना क्षुब्ध हो जाय। यदि उन लोगों को जिन्हें समाज शंका की दृष्टि से देखता है, भिक्षु-संघ में स्थान दिया गया, तो संघ की बड़ी बदनामी होगी और बौद्ध-भिक्षुओं के धर्मोपदेशों का जनता में अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ने से धर्म-प्रचार का कार्य शिथिल पड़ जायगा—ऐसा सोचकर बुद्ध ने धर्म-प्रचार के लिए नीति निर्धारित करने में जनता की मनोवृत्ति का पूरा ध्यान रखा। उन्होंने उन व्यक्तियों का संघ-प्रवेश निषिद्ध कर दिया जिनको भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने से समाज में संघ-विरोधी भावना पनपने की संभावना हो सकती थी अथवा किसी अन्य के अधिकार का उल्लंघन होता था। चोर तथा दस्यु को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने से वंचित करने का कारण उनमें बुद्ध की शिक्षा के ग्रहण एवं पालन की क्षमता का अभाव-मात्र नहीं था। ये ऐसे समाज-विरोधी तत्त्व थे जिनसे जनता तो तंग रहती ही थी, शासन को भी पर्याप्त परेशानी होती थी। जब सभी व्यक्तियों के लिए संघ-प्रवेश का द्वार उन्मुक्त था, तो अनेक चोर-डाकू दंड से बचने के लिए भिक्षु होने लगे। इससे समाज में भिक्षु-संघ के विरुद्ध वातावरण का निर्माण होने लगा, साथ ही वैधानिक प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। अतः सभी दृष्टियों से अपराधकर्मियों को भिक्षु-धर्म की दीक्षा न देना बौद्ध-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संघ के लिए श्रेयस्कर माना गया। ऋणी तथा दास को भिक्षु-धर्म में दीक्षित करने से अन्य व्यक्ति के अधिकार का हनन होता था, इसलिए इनके भी बौद्ध-संघ में प्रवेश पाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।[१६] भगवान् बुद्ध को यह भी देखना था कि कोई ऐसा व्यक्ति भी भिक्षु न हो जाय जिससे संघ को राज्य का कोप-भाजन बनना पड़े, अतः उन्होंने राजसेवकों को भिक्षुधर्म की दीक्षा देने का निषेध किया।[१७] उपसम्पदा की दीक्षा देते समय भिक्षु से यह प्रश्न किया जाता था कि वह राजसेवक है अथवा नहीं और जब नकारात्मक उत्तर मिलता तब उसे दीक्षा दी जाती।[१८]

भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों को श्रवण कर अनेक अल्पवय नवयुवक भिक्षु हो गये जिससे उनके माता-पिता को असीम संताप हुआ। जिस माता-पिता के वृद्धावस्था का संबल उनका एकमात्र पुत्र प्रव्रजित हो जाता, उनका हृदय विदीर्ण होना नितांत स्वाभाविक था। एक श्रेष्ठिपुत्र के भिक्षु हो जाने के फल-स्वरूप उसके माता-पिता को बुढ़ापे में जीविका के लिए भिक्षा का सहारा लेना पड़ा।[१९] स्वयं भगवान् के परिवार में एकमात्र पुत्र के भिक्षु हो जाने के कारण माता-पिता के कष्ट का उदाहरण मिलता है। राजकुमार सिद्धार्थ गौतम के संसारत्याग के पश्चात् उनके पिता के शोक-संतप्त हृदय का सहारा राहुल थे, परन्तु जब राहुल ने भी भिक्षु-धर्म की दीक्षा ले ली, तो वृद्ध शुद्धोदन का अंतिम सहारा भी उनसे दूर हो गया। अत्यन्त शोकाकुल होकर उन्होंने भगवान् से एक ही याचना की कि भविष्य में किसी भी व्यक्ति के एकमात्र पुत्र को उसके माता-पिता की सहमति के बिना भिक्षु-धर्म की दीक्षा न दी जाय। भगवान् बुद्ध ने अपने पिता के इस निवेदन को स्वीकार कर लिया।[२०] मज्झिम-निकाय के रट्ठपालसुत्त से भी विदित होता है कि एकमात्र संतान के माँ-बाप अपने पुत्र के भिक्षु-धर्म में दीक्षित होने के विपक्ष में रहते थे। रट्ठपाल के पिता ने अपने पुत्र को प्रव्रज्या-मार्ग से विरत करने के लिए भिक्षु-जीवन के कष्टों का वर्णन किया। उन्होंने अपने पुत्र को कहा—'हे तात, तुम हमारे एकमात्र पुत्र हो जिसका पालन-पोषण हमने अत्यन्त प्यार से तथा सभी सुखों का उपभोग कराते हुए किया है; तुमने कभी दुःख सहा नहीं, फिर भिक्षु-जीवन की कठोरता को तुम किस भाँति सहन करोगे ?' एकमात्र पुत्र को उसके पिता की इच्छा के विरुद्ध भिक्षु-धर्म में दीक्षित नहीं करने का एक कारण यह भी था कि ऐसी सन्तान को धर्मकार्य के लिए प्रदान करने की प्रथा नहीं थी। दूसरा कारण यह था कि एकमात्र पुत्र के प्रव्रजित हो जाने से उसके वंश का अंत ध्रुव हो जाता। जब-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक इन समस्याओं पर विचार नहीं किया गया, उस समय तक एकमात्र पुत्र को भी भिक्षु-धर्म की दीक्षा मिलती रही, परन्तु जब इन पर समुचित विचार-विमर्श हुआ, तो अपने माता-पिता की अनुमति के विना उसके भिक्षु होने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।[21] भगवान् बुद्ध का धर्म अहिंसक था, अतएव किसी के एकमात्र पुत्र को भिक्षु बनाकर उसके माँ-बाप को मार्मिक दुःख पहुँचाने में कोई औचित्य नहीं था।

प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षाएँ—बौद्ध-भिक्षु बनने के लिए प्रव्रज्या और उपसम्पदा की दीक्षा लेना अनिवार्य होता है। आरम्भ में भगवान् बुद्ध स्वयं ही प्रव्रज्या और उपसम्पदा की दीक्षाएँ देते थे। भिक्षु-धर्म की दीक्षा लेने के लिए भगवान् के निकट उन व्यक्तियों को भिक्षुगण पहुँचा देते थे जो इसके लिए कृत-संकल्प रहते। इस व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह था कि दीक्षा लेने के लिए दूर-दूर से प्रत्याशियों को बुद्ध के पास जाना पड़ता था, जिससे मार्ग तय करने में काफी समय नष्ट हो जाया करता था। अतएव बुद्ध ने कहा—'हे भिक्षुओ, अब आपलोग स्वयमेव विभिन्न प्रदेशों में तथा विभिन्न देशों में प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षाएँ दिया करें।'[22] इस निर्णय ने भगवान् बुद्ध के संदेशों के प्रसार-मार्ग को प्रशस्त कर दिया, क्योंकि अब विभिन्न प्रदेशों में तीव्र-गति से भिक्षु-संघों की स्थापना होने लगी और संघ के माध्यम से बौद्ध-धर्म का जनता में प्रचार होने लगा।

भिक्षुओं को प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षाएँ देने की छूट देना सर्वथा दोषमुक्त निर्णय नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप दो प्रमुख समस्याएँ उपस्थित हुईं। एक तो यह कि अयोग्य भिक्षुओं ने उन लोगों को भी दीक्षित कर दिया जो इसके पात्र नहीं थे। दूसरी यह कि वरिष्ठ भिक्षुओं में अपने शिष्यों तथा अनुयायियों की संख्या-वृद्धि करने की प्रवृत्ति हो गयी। किसी भी बड़ी संस्था में इस प्रवृत्ति की विद्यमानता अस्वाभाविक नहीं मानी जायगी, परन्तु बौद्ध-संघ के लिए यह अहितकर होता। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही नेतृत्व के लिए प्रति-स्पर्धा होने लगती है, जिसका परिणाम संस्था के लिए घातक होता है। भगवान् बुद्ध इस तथ्य के प्रति सजग थे, अतः उन्होंने यह व्यवस्था दी कि जो व्यक्ति दस वर्षों तक भिक्षु रह चुका हो, वही उपसम्पदा की दीक्षा देने का पात्र हो सकता है; परन्तु यह भी सदोष सिद्ध हुई, क्योंकि अनेक भिक्षुओं ने दस वर्षों की अवधि तो पूर्ण कर ली थी पर उनमें योग्यता का अभाव था। कभी-कभी तो ऐसा भी देखने को मिलता कि गुरु की अपेक्षा शिष्य ही अधिक योग्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रहता, अतः इस विषय में बुद्ध का यह अंतिम निर्णय हुआ कि उपसम्पदा की दीक्षा देने के अधिकारी केवल वे ही भिक्षु माने जा सकते हैं जिन्होंने दस वर्षों की अवधि पूर्ण करने के साथ वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान भी प्राप्त किया हो।[२३] इस प्रकार भगवान् बुद्ध अपने संघ के हितों के प्रति बड़े सजग रहे। उनका यह लक्ष्य रहा कि ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे संघ को भेद, पारस्परिक वैमनस्य तथा दलगत संघर्ष से बचाया जा सके, क्योंकि इन्हीं दोषों के कारण किसी भी संस्था का सर्वनाश होता है। भगवान् बुद्ध ने संघ को ऐसा सुविचारित विधान दिया जिसमें नवागन्तुकों के मार्गदर्शन का भार उन भिक्षुओं को सौंपा गया जो सच्चे अर्थ में महान् थे और जिनको भिक्षु-संघ के हितों की रक्षा करने के लिए विश्वस्त समझा गया।

आरम्भ में प्रव्रज्या और उपसम्पदा, दोनों दीक्षाएँ एक-साथ दी जाती थीं। इन दीक्षाओं के लिए किसी व्यक्ति की वय क्या हो इसका कोई नियम न था। बाद में नियम बनाया गया कि प्रव्रज्या[२४] की दीक्षा १५ वर्ष की वय में दी जाय और उसके पाँच वर्ष पश्चात् बीस वर्ष की वय में उपसम्पदा[२५] की। प्रव्रज्या की दीक्षा के साथ भिक्षु-जीवन का श्रीगणेश होता था और व्यक्ति पूर्णरूप से भिक्षु तब हो जाता था जब उसे उपसम्पदा की दीक्षा मिल जाती। इन दोनों दीक्षाओं के मध्य की पाँच वर्षों की अवधि परीक्षा-काल थी, जिसमें अन्तेवासी भिक्षु, अर्थात् श्रामणेर पूर्ण भिक्षु-पद को प्राप्त करने की तैयारी करता।[२६] प्रव्रज का अर्थ होता है अग्रसर होना, अर्थात् गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर अरण्यवासी बनना। पालि शब्द पब्बज्जा (प्रव्रज्या) से गृहस्थ के भिक्षु-जीवन प्रवेश का बोध होता है। आश्रम-धर्म में अरण्यवास की दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं—(१) वानप्रस्थ अथवा वैखानस की और (२) संन्यास या भिक्षु-आश्रम की।[२७] वानप्रस्थ-आश्रम को संन्यास की पूर्वावस्था माना गया है। अरण्यवासी वानप्रस्थी के जीवन के प्रमुख नियम हैं—अध्यात्म-साधन में रत रहना, वृक्षमूल में वास करना तथा गृहस्थों से प्राप्त भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह करना।[२८] वानप्रस्थ की अवस्था को लाँघकर जब व्यक्ति संन्यासी बन जाता है, तो वह अपने सिर का मुंडन करवा लेता है, काषाय वस्त्र धारण करता है और पास में रखता है, एक भिक्षापात्र।[२९] संन्यासी समस्त सांसारिक बंधनों को तोड़ डालता है—वह पूर्णरूप से अनासक्त-जीवन व्यतीत करता है। उसका एकमात्र लक्ष्य रह जाता है—आत्मज्ञान की खोज। जब हम बौद्ध एवं ब्राह्मण तापस-जीवन की तुलना करते हैं, तो इस निर्णय पर पहुँचते हैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि बौद्ध-भिक्षु के पाँच वर्षों का श्रामणेर-जीवन वस्तुतः वानप्रस्थ-आश्रम का रूपान्तर है। उपसम्पदा की दीक्षा संन्यास-दीक्षा के समकक्ष है। धर्मशास्त्र में ब्रह्मचर्य-आश्रम की परिसमाप्ति पर अथवा गृहस्थ-आश्रम से गृहत्याग के विकल्प को स्वीकार किया गया है।[३०] अतएव ब्रह्मचर्य-आश्रम को संन्यास की अनिवार्य पूर्वावस्था माना गया। बौद्ध भिक्षु-जीवन में ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ को प्रव्रज्या की अवधि में समाहित कर दिया गया। पाँच वर्षों की इस अवधि में प्रव्रजित भिक्षु श्रामणेर कहलाता था और उसके लिए निर्धारित अधिकांश नियम वे ही थे जिनका आचरण ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी करते थे। वस्तुतः भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इन तीनों आश्रमों को आधार मान कर भिक्षु-जीवन का स्वरूप निश्चित किया। ब्रह्मचारी[३१] तथा श्रामणेर[३२] के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों में प्रर्याप्त समानता दीखती है। दोनों के लिए प्राणि-हिंसा, असत्य-भाषण, मद्यपान, असमय-भोजन और पुष्प-माला-गंध तथा उच्चासन-शैय्या के प्रयोग इत्यादि निषिद्ध माने गये हैं।

उपसम्पदा की दीक्षा के पूर्व पाँच वर्षों के श्रामणेर-जीवन की अनिवार्यता की प्रथा का विकास धीरे-धीरे हुआ। इस प्रथा के पूर्व प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की दीक्षाएँ देने के पहले परिवास[३३] नामक चार महीनों के परीक्षाकाल की पारीपाटी प्रचलित थी। परिवास की व्यवस्था अन्यतैर्थिक परिव्राजकों के लिए की गयी थी। श्रेणिय, वत्सगोत्र तथा सभिय ने जब भिक्षु-धर्म में दीक्षित होने की अपनी इच्छाएँ व्यक्त कीं, तो उन्हें कहा गया—'हे भन्ते जिन अन्यतैर्थिकों को इस धर्म-विनय की दीक्षा लेने की अभिलाषा होगी उन्हें चार महीनों के परिवास-जीवन का पालन करना होगा।'[३४] आरम्भ में परिवास की प्रथा का भी अभाव प्रतीत होता है, क्योंकि जटिलों को बिना किसी प्रकार के परीक्षा-काल के भिक्षु-धर्म की दीक्षा दी गयी।[३५] संभवतः जब यह अनुभव किया गया कि जो लोग बुद्ध की शिक्षाओं के विपरीत विचार के अनुयायी रहते थे, उन्हें बौद्ध-धर्म के आदर्शों के अनुरूप आचरण करने में कुछ समय लग जाता था, तो इस विचार से चार महीनों के परिवास की व्यवस्था की गयी कि ऐसे लोगों को नये धर्म के अनुकूल मानसिक वातावरण के निर्माण का अवसर दिया जाय। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि परिवास की अवधि में नवागन्तुक भिक्षु को ऐसा प्रयास करना चाहिए जिससे अपने पूर्व-मत के विरुद्ध बातों को सुनकर उसके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, अपितु आनन्द के भाव उठें, साथ ही उसे बुद्ध-विरोधी बातें असह्य हों।[३६]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिक्षु-संघ के शैशवकाल में प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की दीक्षाओं के सम्बन्ध में विशिष्ट नियम भी नहीं थे—दोनों दीक्षाएँ एक-साथ दे दी जाती थीं। बुद्ध के पाँच आदि शिष्यों—अचेल काश्यप,[३७] पुकुस्वाति (पुक्कुसाति),[३८] काशिभारद्वाज[३९] तथा नन्द गोपालक[४०] को प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की दीक्षाएँ एक साथ दी गयीं। इन दीक्षाओं के नियम अति सामान्य थे—भिक्षु को केवल अनिवार्य काषाय चीवरों तथा भिक्षापात्र के साथ उपस्थित होना पड़ता था।[४१] बुद्ध के पाँच आदि शिष्य ऋषिपत्तन (सारनाथ) में भगवान् के धर्मोपदेश के श्रवण-मात्र से भिक्षु-धर्म में दीक्षित माने गये।[४२] इसी तरह वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश, उनके चार मित्र तथा पचास वाराणसीवासी भिक्षु-धर्म में दीक्षित हो गये।[४३] जैसा कि ऊपर कहा गया गया है, कुछ समय तक भगवान् बुद्ध स्वयं भिक्षु-धर्म की दीक्षाएँ देते रहे, पश्चात् अन्य भिक्षुओं को इसकी अनुमति मिली। उस समय भी दीक्षा के नियम साधारण थे। बुद्ध, धर्म एवं संघ के शरणगमन की विधि पूरी करके व्यक्ति भिक्षु बन जाता था। शरणगमन की विधि इस प्रकार थी—भिक्षु-पद का प्रत्याशी व्यक्ति अपने सिर और दाढ़ी के केश साफ करके काषाय वस्त्र धारण करता, उत्तरासंग इस प्रकार ओढ़ता कि उसका एक कंधा विवृत रहता, तब वह भिक्षुओं का चरणाभिवादन कर, ऊँकड़ू बैठकर तथा बद्धकरों को ऊपर उठाकर तीन बार कहता[४४]—'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, अर्थात् मैं बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण में जाता हूँ।' इस प्रकार उपसम्पदा की विधि पूर्ण हो जाती। कालान्तर में इस सामान्य विधि का स्थान ले लिया—भिक्षु-संघ की विशिष्ट विधि ने।[४५] प्रव्रज्या और उपसम्पदा के मध्य का विराम भी धीरे-धीरे दीर्घ होता गया और अंत में वह पाँच वर्षों का हो गया। श्रामणेर को भिक्षुपद पर प्रतिष्ठित होने के लिए यह अनिवार्य हो गया कि दस वरिष्ठ भिक्षुओं के संघ द्वारा इसकी अनुमति प्रदान की जाय।[४६] भिक्षुपद के प्रत्याशी श्रामणेर को भिक्षुओं की सभा में श्रद्धा-पूर्वक अवनत हो अपने अञ्जलिबद्ध हाथों को ऊपर उठाकर कहना पड़ता—'भन्ते, संघ से उपसम्पदा पाने की याचना करता हूँ; भन्ते, संघ दया करके मेरा उद्धार करे।' वह तीन बार यही कहता। तदनन्तर श्रामणेर से कतिपय प्रश्न पूछे जाते, जैसे—क्या तुम स्वाधीन हो? क्या तुम ऋणमुक्त हो? तुम राजसेवक तो नहीं हो? तुम्हें अपने माता-पिता की अनुमति मिल गयी है न? तुम्हारी उम्र बीस वर्ष है न?—इत्यादि।[४७] इन प्रश्नों के स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर एक योग्य और समर्थ भिक्षु संघ को ज्ञापित करता—'भन्ते, संघ मेरी सुने—अमुक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामवाले भिक्षु को उपाध्याय (उपज्झाय) बना, अमुक नामवाले आयुष्मान् का शिष्य, अमुक नाम वाला यह पुरुष उपसम्पदा चाहता है। यदि संघ उचित समझे तो संघ अमुक नामक को अमुक नाम के उपाध्याय के उपाध्यायत्व में उपसम्पदा प्रदान करे।' इस ज्ञप्ति (सूचना) के पश्चात् भिक्षु संघ को कहता—'भन्ते, संघ मेरी सुने—अमुक नामवाला, यह अमुक नाम-वाले आयुष्मान् उम्पदा चाहने वाला शिष्य है। संघ अमुक नामवाले को अमुक नाम वाले भिक्षु के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करता है। जिस आयुष्मान् को अमुक नामवाले को उपसम्पदा अमुक नामवाले भिक्षु के उपाध्यायत्व में स्वीकार है वह चुप रहे, जिसको स्वीकार न किया हो, वह बोले। दूसरी बार भी इसी बात को बोलता हूँ—पूज्य संघ मेरी सुने। तीसरी बार भी इसी बात को बोलता हूँ—पूज्य संघ मेरी सुने। संघ को स्वीकार है, इसलिए चुप है—ऐसा समझता हूँ।' इस प्रकार भिक्षु उपसम्पन्न हो जाता।

भगवान् बुद्ध के धर्मप्रचार-सम्बन्धी आचरण के कालानुवर्ती होने के कारण दीक्षा की उपर्युक्त विधि रूढ़ नहीं बनी। उदाहरणार्थ, प्रत्यन्त प्रदेशों में उपसम्पदा की विधि सम्पन्न करने के लिए केवल विनयधर तथा चार भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक मानी गयी।[४८] प्रत्यन्त-भूमि में बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या नगण्य होने के कारण ही वहाँ के लिए उपसम्पदा-सम्बन्धी यह विशिष्ट नियम बना था। प्रत्यन्त-भूमि उन क्षेत्रों को कहा गया है जो मध्यदेश के सीमान्त क्षेत्र थे। बौद्ध-संघ ने उपसम्पदा की विधि-सम्बन्धी एक और विशिष्ट नियम बनाया था, जिसके अनुसार किन्हीं अनिवार्य कारणवश यदि कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ हो जाने पर किसी व्यक्ति के माध्यम से दीक्षा की याचना करता अथवा करती, तो उस अवस्था में संघ इस कार्य के लिए किसी भिक्षु को नियुक्त कर भेज देता था। इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता था कि दीक्षा देने के लिए किसी श्रामणेर अथवा अयोग्य भिक्षु को न भेज दिया जाय।[४९] इस विधि द्वारा एक भिक्षुणी को उपसम्पदा की दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है, अतः समान परिस्थिति में भिक्षु के लिए भी यह व्यवस्था मान्य रही होगी।

उपज्झाय तथा सद्धिविहारिक— प्रव्रज्या-दीक्षोपरान्त श्रामणेर पूर्ण भिक्षु-पद पर प्रतिष्ठित होने के उद्देश्य से एक आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में साधना करता था।[५०] आध्यात्मिक गुरु के लिए उपज्झाय शब्द मिलता है जो संस्कृत उपाध्याय का रूपान्तर है। पालि उपज्झाय का अर्थ है—जो निकट चला गया हो। भिक्षु-संघ में उपज्झाय का वही स्थान था जो गुरुकुलों में आचार्य का।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मनुस्मृति[५१] के अनुसार पेशेवर शिक्षक का कर्म करने वाला उपाध्याय कहलाता है और आचार्य का पद उससे उच्चतर है, किन्तु बौद्ध-संघ में आध्यात्मिक गुरु को उपज्झाय कहा गया है और शिक्षक को आचरिय, अर्थात् आचार्य। आचरियधन[५२] और आचरियभाग[५३] के उल्लेख भी यह प्रमाणित करते हैं कि शिक्षक द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले को पालि में आचरिय की संज्ञा दी गयी। बुद्धघोष के अनुसार भिक्षु-संघ में उपज्झाय के पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए दस वर्षों के भिक्षु-जीवन के अनुभव की आवश्यकता पड़ती थी, पर आचरिय-पद के लिए मात्र ६ वर्षों की।[५४]

पालि-पिटक में श्रामणेर को सद्धिविहारिक कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में सद्ध्रिन् का अर्थ होता है एक लक्ष्य की ओर और पालि में सद्धि का अर्थ है एक-साथ। विहारिक का अर्थ होता है वास करना। पालि शब्दकोष में सद्धि-विहारिक का अर्थ दिया गया है— सहवासी, बन्धु-भिक्षु या शिष्य। श्रामणेर के अपने उपज्झाय-संग वास करते हुए पूर्ण भिक्षुपद-प्राप्ति हेतु यत्नशील रहने के कारण ही वस्तुतः उसे सद्धिविहारिक नाम दिया गया। उसके गुरुसंग निवास की व्यवस्था एक निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए की गयी थी। उपज्झाय तथा सद्धिविहारिक के आध्यात्मिक हित के लिए पारस्परिक सहयोग की कल्पना की गयी है। ब्रह्मचर्य-आश्रम के गुरु-शिष्य तथा भिक्षु-संघ के उपज्झाय-सद्धिविहारिक के सम्बन्धों में पर्याप्त समानताएँ हैं। विनयपिटक[५५] में निर्धारित सद्धिविहारिक के कर्त्तव्यों एवं मनु[५६] द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में अद्भुत साम्य दीखता है। ब्रह्मचारी तथा सद्धिविहारिक के लिए इन कर्मों का समान निषेध किया गया है— प्राणि-हिंसा, मिथ्या-भाषण, मद्य-पान, नृत्य-गीत-वादन, गंधमाला-धारण, काम तथा अशौचाचरण। मनु ने ब्रह्मचारी के लिए अनुलेपन, पादत्राण, इत्र, द्यूत तथा स्त्रीदर्शन का भी निषेध किया है, किन्तु विनय-पिटक में सद्धिविहारिक के लिए इनका निषेध नहीं है। पुनः विनयपिटक में असमय भोजन तथा स्वर्ण-रजत स्वीकार करने का निषेध है, पर मनुस्मृति में नहीं। इन असमानताओं का कारण यह प्रतीत होता है कि वैदिक ब्रह्मचारी तो ब्रह्मचर्य-आश्रम से गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना था, परन्तु बौद्ध श्रामणेर को भिक्षुपद पर प्रतिष्ठित होना पड़ता था। बौद्ध-संघ में भिक्षुओं को विशेष परिस्थितियों में अनुलेपन, जूते-चप्पल, छाते इत्यादि के उपयोग की अनुमति मिल जाती थी, उनके लिए इनका सर्वथा निषेध नहीं किया गया। यदि किसी भिक्षु को चर्मरोग हो जाता, तो उसे अपने शरीर में अनुलेपन लगाने की छूट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दी जाती थी। जब भिक्षु विहार से ि तो वे जूते पहन सकते थे। संघारामों में भिक्षुणियाँ भी निवास करती थीं अतः उनकी ओर दृष्टिपात करने का निषेध नहीं हुआ, परन्तु कामुक दृष्टि से किसी भी नारी को देखना संघ के अनुशासन के विरुद्ध था। द्यूत का उल्लेख निषिद्ध कर्मों में नहीं होने से यह अर्थ लगाया जा सकता है कि बौद्ध विहारों में द्यूत-क्रीड़ा का निषेध नहीं था। कई प्राचीन विहारों के अवशेषों में पाँसों की विद्यमानता से प्रतीत होता है कि अवकाश के क्षणों में भिक्षु द्यूत-क्रीड़ा करते होंगे, लेकिन सद्धिविहारिक के लिए इसका वर्जन न रहा होगा इसमें सन्देह है। इसी प्रकार मनु द्वारा असमय भोजन तथा स्वर्ण-रजत संचय करने का निषेधादेशों में उल्लेख नहीं करने का यह अर्थ लगाना अनुचित होगा कि ब्रह्मचारी को इनकी छूट दी गयी थी। वस्तुतः गुरुकुल के एक सदस्य के रूप में निवास करने के कारण ब्रह्मचारी के लिए भोजनकाल का निर्देश अनावश्यक समझा गया। मनु स्वर्ण-रजत रखने के सम्बन्ध में मौन हैं, पर वे ब्रह्मचारी के लिए लोभ-परित्याग को अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि बौद्ध विहारों के सद्धिविहारिक और गुरुकुल के ब्रह्मचारी के अनुशासन में कतिपय अन्तर के बावजूद दोनों के लक्ष्य और आदर्श समान थे। दोनों के लिए कठोर अनुशासन की व्यवस्था मिलती है। इनके जीवनादर्शों एवं अनुशासन के नियमों में इतना अधिक साम्य दीखता है कि भेद की उपेक्षा कर सहज ही इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि भिक्षु-संघ का सद्धिविहारिक मूलतः वैदिक नैष्ठिक ब्रह्मचारी का ही रूपान्तर था और दोनों के जीवन समान आदर्शों द्वारा अनुप्राणित थे। उपज्झाय और सद्धिविहारिक के बीच वही सम्बन्ध था जो गुरु तथा ब्रह्मचारी शिष्य का होता है, परन्तु श्रामणेर-जीवन की अवधि, ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ—इन दोनों आश्रमों के योग से बनी।

प्राचीन भारत में आध्यात्मिक गुरु का बड़ा महत्त्व था। भारतीय संस्कृति की परम्परा में ज्ञानार्जन के लिए गुरु सेवा की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। वैखानस-धर्मप्रश्न[५७] के अनुसार ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह नित्य गुरु का अभिवादन करे, गुरु के आसनस्थ होने पर स्वयं बैठे, गुरु के आसन-त्याग करते समय शिष्य उनसे पूर्व ही उठकर खड़ा हो जाय, वह गुरु के पीछे-पीछे चले और सदैव गुरु के शय्यासनों से निम्नतर शय्यासनों का उपयोग करे। शिष्य कदापि गुरु की आज्ञा बिना कोई कर्म न करे, यद्यपि गुरु की आज्ञा बिना भी स्वाध्याय और दैनिक चर्या के कर्म नियमित रूप से किये जाने चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सद्धिविहारिक के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों में भी उपज्झाय-सेवा की प्रमुखता है। वह भी ब्रह्मचारी के समान अपने गुरु की सेवा में तत्पर रहता था। उसके कर्त्तव्यों में उपज्झाय के लिए प्रातःकाल दातुन और जल रखना, आसन की व्यवस्था करना, दुग्धभात परोसना, कपड़े बदलते समय उनकी सहायता करना, पात्रों तथा आवास की सफाई आदि के उल्लेख मिलते हैं।[५८] ब्रह्मचारी द्वारा गुरुकुल में इस प्रकार के कर्म करने के उल्लेख नहीं मिलते। ब्राह्मण आचार्य प्रायः गृहस्थ होते थे, अतः उनके परिवार के सदस्य उनकी देख-भाल करते थे। दूसरी ओर उपज्झाय की सेवा-सुश्रूषा करने वाले उनके शिष्य मात्र थे। जातकों से ज्ञात होता है कि श्रामणेर अपने गुरु की परिचर्या अनुचरों के समान करते थे।[५९] आनन्द का शिष्य अपने गुरु की सभी प्रकार से शरीरसेवा और उनको भोजन कराने, दातुन और जल देने तथा उनके शौचालय, आवास एवं शयनकक्ष की देखभाल के कार्य करता था।[६०] मिलिन्द-पञ्हो में इसका भी वर्णन मिलता है कि सद्धिविहारिक अपने उपज्झाय की दैनिक चारिका के लिए भी उनके संग जाता था। नागसेन उपसम्पदा की दीक्षा लेने के दूसरे दिन अपने उपज्झाय के साथ चारिका के लिए ग्राम में गये।[६१] यदि उपसम्पन्न होने पर भी शिष्य गुरु का साथ देता था, तो उपसम्पदा की पूर्वावस्था में चारिका के समय उनके पीछे-पीछे उसके चलने में सन्देह नहीं किया जा सकता है। उत्तर-काल में जब भिक्षु पुष्पमाला धारण करने लगे तो श्रामणेर अपने उपज्झाय को मालाएँ लाकर देने लगे।[६२] भिक्षुओं के लिए केश बढ़ाने का निषेध होने के कारण तथा नापित के अभाव में गुरु-शिष्य एक-दूसरे के सिर के मुंडन भी करने लगे।[६३] सद्धिविहारिक के लिए इस बात के भी निर्देश मिलते हैं कि वह सभी कार्य सावधानी से करे। यदि आसन को स्थानान्तरित करना हो, तो उसे यह कार्य भूमि अथवा दरवाजे से टकराये बिना करना चाहिए, जिससे किसी प्रकार की आवाज न हो।[६४]

उपज्झाय के प्रति सद्धिविहारिक का दायित्व मात्र शरीरसेवा तक सीमित नहीं था। गुरु के प्रति अपने नैतिक दायित्व का सफल निर्वाह करना भी उसका परम कर्त्तव्य माना जाता था। यदि उपज्झाय असत्य-मार्गगामी हो जाता, तो उस अवस्था में सद्धिविहारिक का ही यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वह अपने गुरु से इस सम्बन्ध में स्वयं तर्क करके अथवा किसी अन्य व्यक्ति को इसके लिए प्रेरित कर उन्हें सत्यमार्ग में ले आता। यदि सद्धिविहारिक को इस बात का विश्वास हो जाता कि उसके उपज्झाय ने कोई बड़ा कुकर्म किया है, तो वह इस तथ्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

को संघ के समक्ष उपस्थित करता, जिससे अनुशासन-भंग के अपराध के लिए मानत्त अथवा दूसरे उपयुक्त प्रायश्चित् की व्यवस्था की जाती।[६५] यदि संघ उस स्थिति में किसी उपज्झाय के विरुद्ध कार्रवाई करने का विचार करता, जब उनके सद्धिविहारिक को अपने गुरु के सर्वथा निर्दोष होने का पूर्ण विश्वास रहता, तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वह संघ के दृष्टिकोण में यथासंभव परिवर्तन लाने का प्रयास करता। यदि निर्दोष उपज्झाय के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई करके संघ द्वारा उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान कर दिया जाता, तो सद्धिविहारिक के लिए यह उचित हो जाता कि वह इस बात का प्रयास करता कि संघ अपने निर्णय पर पुनर्विचार करके उसमें संशोधन करे।[६६] गुरुकुलों के ब्रह्मचारी को यह अधिकार नहीं था कि वह अपने गुरु के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई में भाग लेता। प्रश्न उठता है कि बौद्धसंघ ने शिष्य को यह अधिकार क्यों दिया? गुरुकुल का ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-आश्रम की परिसमाप्ति के पश्चात् गृहस्थ बन जाता था, परन्तु बौद्धसंघ का श्रामणेर भविष्य में भी भिक्षुसंघ का सदस्य बना रहता था। जब गुरु-शिष्य सम्बन्ध केवल पाँच वर्षों तक ही सीमित रहता था, तो इस अवधि के लिए ही श्रामणेर को अपने उपज्झाय के दोषों को प्रकाश में लाने के अधिकार से वंचित करना उचित नहीं समझा गया।

सद्धिविहारिकों का अनुशासन भी भिक्षुसंघ के लिए एक समस्या थी। सद्धिविहारिक अपने उपज्झायों की अवज्ञा न करें, इस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए यह नियम बना कि उपज्झायों के प्रति उद्दंडाचरण करने वाले श्रामणेरों को संघ से निष्कासित कर दिया जायगा,[६७] परन्तु इस नियम के साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया कि किसी निर्दोष सद्धिविहारिक को अपने उपज्झाय का कोपभाजन न बनना पड़े। इस सम्बन्ध में उपज्झायों को यह निर्देश दिया गया कि वे किसी निर्दोष सद्धिविहारिक को भिक्षुसंघ से निष्कासित करने की दिशा में कोई पग न उठावें। उपज्झाय से अपने अधिकार का दुरुपयोग न करने की आशा की जाती थी। यदि संघ से विधिवत् निष्कासित सद्धिविहारिक क्षमा याचना करता, तो उसे निराश नहीं होना पड़ता था।[६८]

गुरुजन सत्कार— गुरुकुलों के समान ही बौद्ध भिक्षुसंघ में गुरु-शिष्य-परम्परा के निर्वाह की पूर्ण चेष्टा की गयी। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और सम्मान का आचरण करने में भिक्षु तत्पर रहें, इस विचार से जहाँ-जहाँ उपयुक्त प्रसंग आये, इसके महत्त्व की व्याख्या की गयी। चुल्लवग्ग[६९] में गुरुजन-सेवा सम्बन्धी एक सुन्दर लघु-कथा मिलती है—'अतीत में तीन मित्र—तित्तिर, वानर और हाथी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक साथ निवास करते थे। एक दिन जब तीनों मित्र आपस में वार्त्तालाप कर रहे थे, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उन तीनों में तित्तिर की उम्र सबसे अधिक थी। उस दिन से वानर और हाथी तित्तिर का समुचित सत्कार करने लगे। तीनों मित्र बड़े प्रेम से रहने लगे। वे पारस्परिक श्रद्धा, विश्वास और सौजन्य का पालन करते रहे।' भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को उपदेश दिया कि वे अपने गुरुओं, गुरुजनों तथा जो गुरुतुल्य थे, उनके प्रति व्यवहार में समुचित आदर, अनुराग एवं सत्कार दिखलावें।[७०] उपासकों को भी उपदेश दिये गये कि वे अपने माता-पिता, अग्रज तथा गुरु का सम्मान करें।[७१] धम्मपद[७२] में कहा गया है कि जो व्यक्ति वृद्धों का निरंतर अभिवादन एवं आदर करता है उसके आयु, सौंदर्य, सुख तथा बल में वृद्धि होती रहती है। धम्मपद का यह कथन मनुस्मृति[७३] के श्लोक—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य परिवर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

—का ही रूपान्तर है। जहाँ तक सम्मान की पात्रता का प्रश्न है, इसका मापदण्ड वय-मात्र नहीं माना गया। सनातनी दृष्टिकोण[७४] हो अथवा बौद्ध,[७५] दोनों में समान रूप से धर्मात्मा, सदाचारी एवं ज्ञानी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र कहा गया है। धर्मज्ञ एवं ज्ञानवान् व्यक्ति को अल्पवय होने पर भी सभी से सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी माना गया है। विनयपिटक के अनुसार यदि अल्पवय भिक्षु विनय पर प्रवचन दे रहा हो, तो उस समय वरिष्ठ भिक्षुओं को धर्म का सम्मान करते हुए निम्न आसन ग्रहण करना चाहिए।[७६] यह सोचना उपयुक्त नहीं है कि प्रवचन-कर्त्ता की वय कितनी है। वस्तुतः सम्मान तो किया जाता है धर्म का, व्यक्ति तो धर्म का साधन-मात्र है। सामान्यतया समाज में अपने से अधिक उम्रवालों के प्रति व्यवहार में सदा विनय का आचरण किया जाता रहा है। बौद्ध विहारों में इस आदर्श का पालन किया गया। गुरुजनों को सदा उच्चासन दिये जाते थे, परन्तु वय में तीन वर्षों के अन्तर पर ध्यान नहीं दिया जाता था और इस वर्ग के सभी भिक्षु समान आसन पर बैठते।[७७] शिष्टाचार-सम्बन्धी कई बातों का संघ में ध्यान रखा जाता था, जैसे—यदि वरिष्ठ भिक्षु खाली पैर चलते तो छोटों का जूता पहनना अशिष्ट माना जाता था।[७८]

जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि बौद्ध-संघ के वरिष्ठ भिक्षुओं को श्रामणेरों की तुलना में कई विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं। हमें इस बात के उल्लेख मिलते हैं कि बौद्ध-संघ के वरिष्ठ सदस्यों का अनेक प्रकार से आदर-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सत्कार किया जाता था। वे अभिवादन, अञ्जलिकर्म तथा सेवा-सुश्रूषा के अधिकारी तो थे ही, उन्हें उत्तम आवास, उत्तम जल तथा उत्तम श्रेणी के चावल के उपभोग का भी अधिकार प्राप्त था।[७९] जो भिक्षु वरिष्ठ नहीं थे उन्हें साधारण आवास तथा भोजन से संतोष करना पड़ता था। भोजन में सदा दो तरह का भात बनता था— महीन चावल का और मोटे चावल का।[८०] वरिष्ठ भिक्षुओं को महीन चावल का भात परोसा जाता, पर श्रामणेरों को मोटे चावल का। भोजन परोसने वालों की सुविधा के लिए संघ ने भिक्षुओं को ऐसी शलाका (टिकट) देने की व्यवस्था की थी जिनपर महीन और मोटे चावल के चिह्न बने रहते थे। इस कार्य के लिए संघ एक भिक्षु को नियुक्त करता था। तंडुल-नालि-जातक के अनुसार एक बार मल्लपुत्र दब्ब इस कार्य के लिए नियुक्त किये गये। जब उदायि नामक भिक्षु को मोटे चावल के भात की शलाका मिली तो उसने दब्ब के विरुद्ध प्रचार करना शुरू कर दिया। उसने कहा— "क्या भिक्षु-संघ में दब्ब ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनमें शलाका वितरण की योग्यता है ? क्या मुझ में इस कार्य के सम्पादन की योग्यता का अभाव है ?" इस पर भिक्षु-संघ ने मल्लपुत्र दब्ब के स्थान पर उदायि को ही नियुक्त कर दिया। उदायि ने शलाका वितरित न करके भोजनशाला की भूमि को रेखांकित कर दो भागों में बाँट दिया, जिसमें महीन चावल का भात खाने वाले एक ओर आसन करते और मोटे चावल का भात खाने के इच्छुक, दूसरी ओर। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश भिक्षु महीन चावल का भात परोसने के लिए निर्धारित भाग में जाकर बैठ गये। उदायि की इस कुव्यवस्था पर भिक्षुओं को बड़ा रोष हुआ और उन्होंने बलपूर्वक उन्हें शलाका वितरण के स्थान से यह कहते हुए हटा दिया कि संघ में भिक्षुओं की वरिष्ठता के आधार पर मोटे और महीन चावल के भात परोसे जाते हैं।

इन सबका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वरिष्ठ भिक्षुओं का अपने शिष्यों के प्रति कोई दायित्व नहीं था। तीन मित्रों की कथा में यह स्पष्ट किया गया है कि गुरुजनों और लघुजनों के बीच पारस्परिक श्रद्धा, विश्वास तथा सौजन्य की अपेक्षा की जाती थी। बौद्ध-संघ में सामञ्जस्य की स्थापना के लिए भिक्षुओं में पारस्परिक विश्वास का होना अत्यावश्यक था। शिष्यों की ओर से जो श्रद्धा गुरुओं को प्राप्त होती थी उसके बदले में वे अपने शिष्यों का मार्गदर्शन करते तथा उनके कष्टों के निवारण के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिक्षु-संघ के नियमानुसार सभी वरिष्ठ सदस्यों का अभिवादन किया जाता था, परन्तु भिक्षुणियों को यह सत्कार नहीं मिलता था। चुल्लवग्ग[८१] में भिक्षुओं को यह आदेश दिया गया है कि वे न तो भिक्षुणियों के सम्मुख नतमस्तक हों, न उनके आ जाने पर खड़े हो जायँ, न उनका करबद्ध अभिवादन करें और न किसी अन्य प्रकार की गुरुजनोचित सेवाकर्म ही। इस सम्बन्ध में बौद्ध भिक्षु-संघ ने यह व्यवस्था दी कि भिक्षु कदापि भिक्षुणियों का गुरुजनोचित अभिवादन न करें, परन्तु भिक्षुणियाँ सदा नतमस्तक हो भिक्षुओं का सम्मान करें। सम्भवतः नारी को पारिवारिक जीवन का केन्द्र मानने के फलस्वरूप ही गृहत्यागी भिक्षुओं द्वारा उनके प्रति इस प्रकार की अवज्ञा व्यक्त की जाती होगी। वस्तुतः नारी गार्हस्थ्य का प्रतीक मानी जाती होगी और भिक्षु वैराग्य का, अतः उस सांसारिक जीवन के प्रति जिसका उसने परित्याग कर दिया, वह किस प्रकार नतमस्तक होता ? भिक्षुणियों को अभिवादन प्राप्त करने के अधिकार से ही वंचित नहीं किया गया, संघ में सर्वत्र उन्हें भिक्षुओं की अपेक्षा हीन व्यवहार मिला। जब भिक्षु भोजन करते रहते, तो उस समय भिक्षुणियों को अलग खड़ा रहना पड़ता था।[८२] भिक्षुणियों को यदि अभिवादन तथा अन्य प्रकार के गुरुजनोचित सम्मान प्राप्त करने का अधिकार था, तो केवल भिक्षुणियों से। इस प्रकार भिक्षुणियों को सभी प्रकार से भिक्षुओं से हीन स्थान मिला।

भिक्षुणियों के समान ही क्लीबों तथा श्रामणेरों का गुरुजनोचित अभिवादन नहीं किया जाता था।[८३] भिक्षुओं की तुलना में भिक्षुणियों तथा श्रामणेरों का पद निम्न था, यह असंदिग्ध है। उपसम्पन्न भिक्षु द्वारा अनुपसम्पन्न का अभिवादन अवांछनीय माना गया। इस प्रसंग में ज्ञान के साथ वय की वरिष्ठता का भी ध्यान रखा गया। जहाँ तक वय का प्रश्न है, भिक्षु-संघ ने यह नियम बनाया कि जो वरिष्ठ भिक्षु अन्य मतावलम्बी हो जाय और धर्मविरुद्ध भाषण करे, उसका अन्य भिक्षु अभिवादन नहीं करें।[८४] बुद्ध-विरुद्ध वचन अथवा आचरण किसी भी भिक्षु के लिए कदापि सह्य नहीं हो सकते थे। जब बुद्ध-विरुद्ध आचरण बौद्ध की दृष्टि में महापाप था तो पापी का अभिवादन किस प्रकार किया जाता ? यदि धर्म-विरुद्ध आचरण के कारण किसी भिक्षु के द्वारा प्रायश्चित करने की संभावना रहती, अथवा जो भिक्षु प्रायश्चित करता होता, वह भी अभिवादन करने के योग्य नहीं माना जाता था।[८५] यह स्पष्ट है कि इस श्रेणी के भिक्षुओं को उनके नियम-विरुद्ध आचरण के फलस्वरूप ही सम्मान प्राप्त करने के अधिकार से वंचित किया गया था। संभवतः इनको सम्मान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त करने के अधिकार से वंचित करने का उद्देश्य भविष्य में नियमभंग की पुनरावृत्ति को रोकना भी था।

उपज्झायों का यह कर्त्तव्य माना गया था कि वे अपने सद्धिविहारिकों को पुत्रवत् स्नेह प्रदान करें और सद्धिविहारिकों का भी यह परम कर्त्तव्य था कि वे उपज्झायों का यथोचित सत्कार करें, परन्तु पालि-निकाय में ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सभी भिक्षु इस आदर्श के अनुरूप आचरण नहीं कर पाते थे। कालान्तर में उपज्झाय अपने सद्धिविहारिकों के प्रति दुर्व्य-विहार करने लगे और सद्धिविहारिक भी अपने उपज्झायों का वैसा सम्मान नहीं करने लगे जैसा उनके लिए उचित था। जातकों से ज्ञात होता है कि प्रायः श्रामणेरों को सोने के लिए विहारों में स्थान भी नहीं दिया जाता था जिससे उन्हें उपट्ठानशाला में ही रात्रि व्यतीत करनी पड़ती थी।[८६] एक बार तो ऐसा भी हुआ कि राहुल को शौचगृह में ही रातभर रहना पड़ा। उपज्झाय लोग बीच-बीच में राहुल की परीक्षा लिया करते थे। इसके लिए वे राहुल के अन-जाने में फर्श पर थोड़ी धूल फेंक देते और कहते कि राहुल ने ही फर्श को गंदा किया। बेचारे राहुल चुपचाप धूल उठा लिया करते। जब बुद्ध ने राहुल को शौचगृह में शयन करते देखा तो उनके मन में भाव उठे—'जब राहुल के प्रति भिक्षुओं का यह व्यवहार है तो वे अन्य किशोरों के प्रति क्या करते होंगे ?'[८७] कभी-कभी तो श्रामणेरों को अपने गुरु से मार भी मिलती थी। अहिगुण्डिक-जातक (३६५) के अनुसार एक ग्रामीण युवक ने भिक्षुधर्म की दीक्षा ली, पर उसे तीन बार संघ का परित्याग करना पड़ा क्योंकि एक वृद्ध भिक्षु ने उसे अप-शब्द कहा और मारा भी। इन घटनाओं से प्रतीत होता है कि श्रामणेरों में अनुशासन की कमी का प्रमुख कारण उनके प्रति उपज्झायों का दुर्व्यवहार था। कालान्तर में श्रामणेर काफी अशिष्ट हो गये। चुल्लवग्ग[८८] तथा तित्तिर-जातक (३७) के अनुसार एक बार षड्वर्गीय भिक्षुओं के एक शिष्य-समुदाय ने एक विहार के सभी कमरों पर अपना अधिकार जमा लिया, जिसका फल यह हुआ कि उपज्झायों को रात्रि के लिए कोई कमरे उपलब्ध नहीं हो सके। सारिपुत्त, जिनका स्थान संघ में बुद्ध के पश्चात् दूसरा माना जाता था, रात-भर एक पेड़ के नीचे पड़े रहे। प्रातःकाल जब भगवान् बुद्ध को अपने प्रिय-शिष्य की दुर्गति का पता चला तो वे भिक्षुओं में अनुशासन की कमी के कारण चिंतित हो गये। इस घटना के विवरण से श्रामणेरों के अन्य अशिष्ट व्यवहारों का अनुमान लगाया जा सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पारस्परिक सहयोग—संघ-जीवन की सफलता सदस्यों के पारस्परिक सहयोग तथा सौहार्द पर निर्भर करती है। भगवान् बुद्ध ने इस तथ्य को हृदयंगम किया, अतः उन्होंने भिक्षुओं को प्रगाढ़ भ्रातृत्व-भावना के विकास का उपदेश दिया। बौद्ध-संघ का लक्ष्य था धर्मप्रचार, अतः जिन आदर्शों का प्रचार जन-समूह में करना था उनका संघ में भी आचरण अनिवार्य था, क्योंकि इसके अभाव में लक्ष्यसिद्धि संदिग्ध हो जाती। जब तक भिक्षु स्वयं किसी आदर्श के अनुरूप आचरण करने में सफल नहीं होते, उनके उपदेशों का जनता में अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। वर्षावास समाप्त कर जब सभी भिक्षु एक स्थान पर एकत्र हुआ करते थे, तो भगवान् बुद्ध सभी का कुशल-क्षेम पूछने के साथ उनसे यह प्रश्न भी करते थे कि भिक्षुओं ने वर्षावास की अवधि में एकता, अविरोध एवं अकलह का निष्ठापूर्वक आचरण किया अथवा नहीं ?[८९] भिक्षुओं को किस प्रकार अविरोध तथा उत्साह का जीवन व्यतीत करना चाहिए इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया अनुरुद्ध, किंबिल तथा नन्दिय ने।[९०] ये भिक्षु एक ही आवास में रहते थे। इनमें जो भिक्षु ग्राम में चारिका पूर्ण करके पहले आ जाता वह आसन ठीक करने, पैर धोने के लिए जल रखने, मंच और तौलिया यथा-स्थान रखने, हाथ धोने के लिए जलपात्र रखने और पेय-जल तथा भोजन की व्यवस्था के कार्य करता। जो भिक्षु सबसे पीछे आता वह रुचि रहने पर पूर्वागत दोनों भिक्षुओं के भोजन कर चुकने पर बचा खाद्य ग्रहण करता, अन्यथा उसे फेंक देता। फिर वह आवास में बिखरे सामान को यथास्थान स्थापित करने में लग जाता। जबतक तीनों मित्र एक साथ रहे, उनमें प्रगाढ़ मैत्री-भावना बनी रही और कहीं लेशमात्र भी कलह को स्थान नहीं मिल पाया।

सभी भिक्षु उपर्युक्त आदर्श के अनुकूल आचरण नहीं कर पाते थे। पालि-पिटक में ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि संघ में निःस्वार्थ सेवाभावरहित भिक्षुओं की संख्या न्यून नहीं रही होगी। ऐसे भिक्षु केवल उनकी सुश्रूषा करना पसन्द करते थे जिन्हें वे अपने लिए उपयोगी समझते और जिन्हें वे अनुपयोगी मानते, उन बेचारों की उपेक्षा कर दी जाती। एक बार कोई भिक्षु रुग्ण हो गया, पर किसी ने उसकी सुश्रुषा इस कारण नहीं की कि वह भिक्षुओं के किसी काम का नहीं था। जब भगवान् बुद्ध को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने भिक्षुओं से कहा— 'हे भिक्षुओ, यहाँ किसी के माता-पिता नहीं हैं जो रुग्णावस्था में सेवा-सुश्रूषा करेंगे। यदि रुग्ण होने पर आपलोग एक दूसरे की देखभाल नहीं करेंगे, तो यहाँ इस कार्य के लिए दूसरा है ही कौन ?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हे भिक्षुओ, जो मेरी सेवा के लिए नियुक्त हो, वही रोगी की सुश्रूषा करे'।[९१] बुद्ध के ये उद्गार कितने मर्मस्पर्शी हैं! उनका हृदय मानवमात्र के दुःख-निरोध के लिए अत्यन्त संवेदनशील था, इसमें क्या किसी को सन्देह हो सकता है ? भगवान् बुद्ध ने इसके लिए पूर्ण प्रयास किया कि भिक्षुसंघ में पारस्परिक सेवा एवं सहयोग की भावना अटूट बनी रहे। संघ में इस बात के लिए सभी उपाय किये गये कि रुग्ण भिक्षु की देखभाल में किसी प्रकार की उपेक्षा न की जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह नियम बना कि रुग्ण भिक्षु के मरणोपरांत उसके चीवर एवं भिक्षापात्र उसी भिक्षु को मिलेंगे जिसने रुग्णावस्था में उसकी सुश्रूषा की हो।[९२]

बौद्ध-संघ का आकार जब बृहत् हो गया तो उसके सदस्यों के सम्बन्ध सदा आदर्श नहीं रहने लगे। यह अस्वाभाविक भी नहीं था क्योंकि अधिक संख्या में एक साथ निवास करने पर आपस में मनमुटाव एवं झगड़े हो जाना मानव-स्वभाव है। केवल उस व्यक्ति का किसी से वैमनस्य नहीं रह जाता है जो औसत मनुष्य से ऊपर उठकर वीतराग हो जाता है। सभी भिक्षुओं का मानसिक विकास इस प्रकार नहीं हो पाता था कि वे सभी प्रकार के मतभेदों की उपेक्षा कर आपस में सौहार्द-पूर्वक रहते। हमें भिक्षुओं के आपस में लड़ने-झगड़ने के उदाहरण मिलते हैं। भिक्षुणियाँ भी भिक्षुओं से झगड़ती थीं। एक बार भिक्षुओं और भिक्षुणियों में झगड़ा हो गया तो छन्न नामक भिक्षु भिक्षुओं के दल में घुस गये और उनकी ओर से वे भिक्षुओं से बहस करने लगे।[९३] इस प्रकार के झगड़े केवल कटु शब्द प्रयोग तक ही सीमित नहीं रह पाते थे। भिक्षु अपने विरोधियों को बदनाम करने के लिए अन्य मार्ग भी अपनाते थे। चुल्लवग्ग[९४] के अनुसार मल्लपुत्र दब्ब के विरोधियों ने उन्हें बदनाम करने के उद्देश्य से मेत्तिया नामक भिक्षुणी को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि वह भगवान् बुद्ध के सन्निकट जाकर यह कहे कि दब्ब ने उसके साथ व्यभिचार किया। भिक्षु चाहते थे कि मल्लपुत्र पर इस तरह का मिथ्या दोषारोपण कर उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया जाय। कभी-कभी भिक्षुओं में हाथापाई की भी नौबत आ जाती थी। एक बार षड्वर्गीय भिक्षुओं ने सप्तवर्गीयों की गर्दन पकड़कर उन्हें एक नवनिर्मित विहार से निकाल बाहर किया और सभी कमरों पर अपना अधिकार जमा लिया[९५]। कभी-कभी भिक्षुओं के सम्बन्ध अत्यन्त कटु हो जाते और वे आपस में गाली-गलौच करने लग जाते। ऐसा उस अवस्था में होता था जब कोई भिक्षु दूसरे भिक्षु पर विनय के नियम भंग करने का आरोप लगता और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोषी भिक्षु उसका प्रतिवाद करने लगता। इस सम्बन्ध में अंगुत्तर-निकाय[९६] में कहा गया है कि यदि नियमभंग के अपराधी तथा उनकी भर्त्सना करनेवाले वाले, दोनों ही पक्ष के भिक्षु सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण नहीं करेंगे, तो उनके कटुतापूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करना सम्भव नहीं होगा।

सामूहिक स्वामित्व—भिक्षुओं का जीवन संघीय था। वे शरणागत थे संघ के, वे निष्ठावान् थे तो संघ के प्रति, उनका जीवन संचालित था संघ द्वारा और संघ ही प्रत्येक भिक्षु की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। बौद्ध विहारों की समस्त सम्पत्ति का स्वामी संघ था और जबतक विहारों में भ्रष्टाचार का समावेश नहीं हो गया, तब तक भिक्षुओं को किसी भी वस्तु के स्वामित्व का अधिकार नहीं मिला। विहारों में भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाने पर भी सिद्धान्ततः संघ ही भिक्षुओं की सम्पत्ति का स्वामी बना रहा। संघ को दान में उपलब्ध वस्तुओं को संघ की अनुमति विना अपने उपयोग में लाने का अधिकार किसी भिक्षु को नहीं दिया गया था।[९७] कतिपय वस्तुओं पर सम्पूर्ण भिक्षुसंघ का स्वामित्व स्वीकार किया गया और उनके विक्रय का अधिकार न तो संघ को मिला और न किसी व्यक्ति-विशेष को ही। इनके लिए सामूहिक स्वामित्व का सिद्धान्त मान्य हुआ। ये वस्तुएँ थीं— आराम, विहार अथवा विहार-निर्माण के लिए निर्धारित भूमि, बिछावन, कुर्सी, तकिया, उपधान, बर्तन, उस्तरा, कुल्हाड़ी, फावड़ा, लताएँ, बाँस, मूँज और बब्बज-सदृश तृण तथा काष्ठ और मिट्टी के पात्र।[९८] इन लौकिक वस्तुओं का वास्तविक स्वामी संघ था। यद्यपि उपयोग के लिए भिक्षुओं को इन वस्तुओं को उपलब्ध कराया जाता था, परन्तु इन पर सामूहिक स्वामित्व स्वीकार करने के कारण वे इनके स्वामी नहीं हो सकते थे।

सभी आवासों का स्वामी संघ था। किसी आवास को भिक्षु उसी अवस्था में अपने उपयोग में ला सकते थे जब इसके लिए उन्हें संघ की अनुमति मिल जाती। भिक्षुओं के लिए आवासों की व्यवस्था करना संघ का कर्त्तव्य था और इस कार्य के लिए एक भिक्षु-पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जिसका उल्लेख पहले ही किया गया है। भिक्षु प्रायः घूमते रहते थे। वे केवल वर्षावास की अवधि में एक स्थान में रहते थे। जब भिक्षु किसी विहार में पहुँच जाते तो वहाँ उनके रहने की व्यवस्था कर दी जाती। जब स्थायी विहारों का निर्माण होने लगा तो वे भिक्षुओं को सामूहिक रूप में मिलने लगे। एक बार सप्तवर्गीयों ने एक विहार का निर्माण कराया। षड्वर्गीय भिक्षुओं ने उनसे कहा—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'आवुसो, यह विहार हमें दिया गया है', और उन्होंने बलात् उस पर अधिकार कर लिया जिसका विवरण ऊपर दिया गया है। षड्वर्गीयों की इस अशिष्टता का कारण विहारों पर संघ का स्वामित्व था, न कि किसी भिक्षु अथवा भिक्षुओं के समूह-विशेष का आचरण। भिक्षु के लिए किसी आवास-विशेष में रहने की व्यवस्था कर देने का यह अर्थ नहीं होता था कि उसे सदा के लिए वही आवास मिल गया।

आवासों के समान भिक्षुओं के चीवर तथा भिक्षापात्र पर भी संघ का स्वामित्व स्वीकार किया गया था। चीवर-वितरण के समय यदि किसी भिक्षु को निर्धारित संख्या से अधिक वस्त्र मिल जाते, तो उसे दस दिनों के भीतर संघ को वापस कर देना पड़ता था।[९९] संघ के माध्यम से भिक्षु को वस्त्र-विशेष पर स्वामित्व प्राप्त होता था और व्यक्तिगत स्वामित्व की परिसमाप्ति पर संघ पुनः उस वस्त्र का स्वामी हो जाता था। यदि वर्षावास के पश्चात् किसी भिक्षु को संघ से निष्कासित कर दिया जाता अथवा उसकी मृत्यु हो जाती, तो उसके चीवर पर संघ का अधिकार हो जाता।[१००] भिक्षु के मरणोपरांत संघ उसके वस्त्र और भिक्षापात्र उस भिक्षु को प्रदान कर देता जिसने रुग्णावस्था में उसकी सुश्रूषा की होती।[१०१]

वस्त्राभूषण—तापस-जीवन का लक्ष्य है शरीर की उपेक्षा करना, अतः तापस अपने सिर के बालों पर ध्यान नहीं देते—वे या तो जटा बढ़ाते हैं अथवा अपने सिर का मुंडन करवा लेते हैं। बौद्ध-भिक्षु मुण्डित सिर रहते थे, परन्तु भगवान् बुद्ध की मूर्तियों में उनके केश घुँघराले बने हैं। वस्तुतः उनके केश घुँघराले न थे, पर मूर्तिकारों की कल्पना ने उनको वैसा रूप दिया। पालि-पिटक के अनुसार बुद्ध मुण्डित सिर रहा करते थे। सभी भिक्षुओं को दो महीनों की अवधि व्यतीत होने पर, अथवा जब उनके केश की लम्बाई दो अंगुल हो जाती, तो उन्हें अनिवार्यतः सिर मुँड़ाना पड़ता था।[१०२]

भगवान् बुद्ध ऐसे शिरोभूषण धारण करने के, जो गृहस्थ-जीवन के प्रतीक माने जाते, विरुद्ध थे। अतः उन्होंने पगड़ी बाँधने का भिक्षुओं को निषेध किया।[१०३] जब कोई भिक्षु रुग्ण हो जाता तभी इस निषेधाज्ञा को शिथिल किया जाता था। उन दिनों राजन्य तथा श्रेष्ठि-तुल्य वैभवशाली व्यक्ति पगड़ी बाँधा करते थे, जैसा कि साँची तथा भारहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों में देखने को मिलता है। वेदों में वर्णित उष्णीष तथा साँची और भारहुत में चित्रित पगड़ी में पर्याप्त साम्य है। वेदों के अनुसार उष्णीष धारण करने की प्रथा व्रात्यों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
प्रचलित थी[१०४] और व्रात्येतर लोग विशिष्ट अवसर पर ही इसे धारण करते थे। राजसूय-यज्ञ में उष्णीष धारण करने की अनिवार्यता से इस बात का संकेत मिलता है कि इसे वैभव का प्रतीक माना जाता होगा। बुद्धकाल में उष्णीष गृहस्थों का शिरोभूषण बन गया। आज भी श्रीलंका में प्रव्रज्या की दीक्षा के समय नवशिष्य को जब गृहस्थ के सभी वस्त्र धारण कराये जाते हैं, तो उसे पगड़ी भी बाँधनी पड़ती है।[१०५] इन सबों से यही प्रतीत होता है कि गृहस्थ का शिरोभूषण मानकर ही बौद्ध-भिक्षुओं के लिए पगड़ी बाँधने का निषेध हुआ।

भगवान् बुद्ध भिक्षुओं के जूते-चप्पल पहनने के पक्ष में भी नहीं थे, परन्तु इस सम्बन्ध में उन्हें विचार-परिवर्तन करने को बाध्य होना पड़ा। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर समाज के सभी वर्गों के लोगों ने भिक्षु-जीवन को अपनाया था। भिक्षुसंघ के ऐसे व्यक्तियों की संख्या भी नगण्य नहीं थी जिन्होंने अपने गृहस्थ-जीवन में समस्त सांसारिक सुख-सुविधाओं का उपभोग किया था। अत: ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन के अकस्मात् त्याग के कारण उन्हें बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा। सोण नामक श्रेष्ठि जब भिक्षु बन गये तो खाली पैर चलने में उन्हें घोर कष्ट हुआ। एक दिन उनके सुकुमार चरणतल इस तरह क्षत हो गये कि उन्हें देखकर भगवान् बुद्ध को भी कष्ट हुआ और उन्होंने जूते-चप्पल पहनने की निषेधाज्ञा समाप्त कर दी। उस दिन से बौद्ध-भिक्षु पादत्राण पहनने लगे। इस बात का ध्यान अवश्य रखा गया कि जूते-चप्पल पहनने में मध्यममार्ग की मर्यादा का उल्लंघन न हो। एक अंतराच्छादन-युक्त नये पादत्राण[१०६] और अन्यों द्वारा परित्यक्त होने पर एकाधिक अंतराच्छादन-युक्त[१०७] पादत्राण पहनने की अनुमति भिक्षुओं को मिल गयी। एड़ी वाले जूते और रंग-बिरंगे चप्पल पहनने का निषेध किया गया।[१०८] वस्तुत: सादगी और अहिंसा के आधार पर ही पादत्राण के स्वरूप का निर्धारण किया जाता था। हिंदू संन्यासियों में खड़ाऊँ पहनने की प्रथा है, परन्तु बौद्धों ने अहिंसा के विचार से इसे नहीं अपनाया।[१०९]

जूते-चप्पल पहनने की अनुमति प्रदान करने का उद्देश्य था—चरणतल की रक्षा, न कि फैशन। अत: सर्वत्र जूते-चप्पल पहन कर चलना वर्जित माना गया। कंटकाकीर्ण तथा पत्थर-कंकड़-मय भूमि पर पादत्राण धारण करना अनिवार्य था, परन्तु गाँव तथा संघाराम में जूते अथवा चप्पल पहनना मर्यादा की सीमा का उल्लंघन माना जाता था। जब भिक्षु गाँव में प्रवेश करते थे, तो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उन्हें जूतों को उतार लेना पड़ता था।[110] केवल अस्वस्थ भिक्षु जूते-चप्पल पहने हुए गाँव के अन्दर जाते थे। गाँव के अन्दर जूते-चप्पल नहीं पहनने का पहला कारण यह प्रतीत होता है कि अन्य तापसों में जूता पहनने की प्रथा नहीं थी। दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि भिक्षा में पक्वान्न-ग्रहण करते समय जूता पहनना अवांछनीय माना जाता होगा। तीसरा कारण यह हो सकता है कि गाँव के बाहर तो चरणतल की रक्षा के लिए जूता पहनना आवश्यक हो जाता था, पर गाँव के अन्दर के मार्ग ऐसे नहीं रहते थे कि जूता पहनना अनिवार्य होता। आराम में भी सामान्यतया जूता पहनना वर्जित था, परन्तु रात में काँटों और कीलों से बचने के लिए भिक्षु खुले आराम में न केवल जूते पहन कर चलते, वे दीपक और दण्ड भी साथ रखते थे।[111] स्वच्छता के विचार से वे चौकी और शय्या तक जूते पहनकर जाते।[112] रुग्ण होने पर अथवा पैरों में घाव हो जाने पर जूता पहनने में किसी तरह का निषेध नहीं माना जाता था।[113]

कालान्तर में जब विभिन्न स्थानों में बड़े-बड़े विहारों का निर्माण होने लगा, तब सभी विहारों के भिक्षुओं के रहन-सहन में एकरूपता नहीं रह गयी। कहीं-कहीं भिक्षु परम्परागत नियमों के विरुद्ध आचरण करने लगे। वे अपने विचारों के अनुरूप धर्म की व्याख्या करने लगे। जूता पहनने का भी उद्देश्य केवल चरणरक्षा नहीं रह गया और भिक्षु जूते-चप्पल पहनने में फैशन का ध्यान रखने लगे। अब अनेक प्रकार के चमड़ों तथा पक्षियों के पंखों से निर्मित जूते पहनने की प्रथा चल पड़ी। सादे जूतों के स्थान पर रंग-बिरंगे जूते पहने जाने लगे। विनय-पिटक के अनुसार इस प्रकार के नियम-विरुद्ध आचरण षड्वर्गीय करते थे,[114] लेकिन सभी नियमभंग का दोष उनके ही ऊपर मढ़ दिया गया है, अतः यह सोचना अयथार्थ होगा कि अन्य भिक्षुओं ने अलंकरण के विचार से जूते-चप्पल नहीं पहना होगा।

यद्यपि भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया, किन्तु धर्म-प्रचार के आदिकाल में भोजन-वस्त्र-सम्बन्धी उनके विचार तथा व्यवहार तत्कालीन तापसों के समान थे। अन्तर इतना ही था कि बुद्ध मानव-शरीर को कठोर यातना देने के विरुद्ध थे। उन्होंने वस्त्र के सम्बन्ध में भिक्षुओं को यह उपदेश दिया कि वे कूड़े के ढेर से चीथड़े चुनकर अपने पहनने के लिए चीवर बनावें।[115] विनय-पिटक में भगवान् बुद्ध को भी कूड़े के ढेर से जीर्णवस्त्र चुनते हुए बतलाया गया है।[116] अट्ठकथा के अनुसार पांसुकूल चीवर धारण करने की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथा बीस वर्षों तक प्रचलित रही (अर्थात् भगवान् की संबोधि के २० वर्ष व्यतीत होने तक)।[११७] जब श्रद्धालु उपासक भिक्षुसंघ को बड़ी संख्या में चीवर दान करने लगे, तो बुद्ध ने भिक्षुओं को नव-चीवर धारण करने की अनुमति दे दी।[११८] पांसुकूल अथवा नव-चीवर पहनना ऐच्छिक था। अहिंसा की भावना से प्रेरित होकर बुद्ध ने रेशम और ऊन के धागों से निर्मित वस्त्र धारण करने का निषेध किया।[११९] मृगचर्म धारण करने के निषेध के मूल में भी अप्राणि-हिंसा की ही भावना की। श्रद्धालु उपासक सभी प्रकार के वस्त्र संघ को दान में देने लगे। उपासकों की भावनाओं को ठेस न पहुँचे इस उद्देश्य से बुद्ध ने वस्त्र सम्बन्धी अपने पूर्वनिर्धारित नियमों में संशोधन किया। तदनुसार, अब भिक्षु रेशम, ऊन, कपास, साण तथा क्षौम के धागों से निर्मित चीवर धारण करने लगे।[१२०] प्रारंभ में सभी वस्त्र गोबर तथा पीली मिट्टी से रंग कर पहने जाते थे,[१२१] जिसका उद्देश्य अनाकर्षक दीखना था। कालान्तर में वस्त्रों को ६ प्रकार के रंगों से रंग कर पहनने की अनुमति दी गयी।[१२२]

भिक्षु-जीवन का यह आदर्श माना गया था कि न्यूनतम वस्त्र से काम चलाया जाय, परन्तु जब इस आदर्श के निर्वाह में भिक्षुओं को उदासीन पाया गया, तो पहनने के चीवरों की संख्या निर्धारित कर दी गयी। प्रत्येक भिक्षु को अपने उपयोग के लिए तीन चीवर—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरवासक रखने की अनुमति मिली।[१२३] यदि बौद्ध-भिक्षु ब्राह्मण-तापसों के समान नित्य स्नान का आचरण करते, तो इतने सीमित वस्त्रों से उन्हें कष्ट होता, परन्तु वे तो सामान्यतया प्रतिपक्ष एक ही बार स्नान करते थे। केवल ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल, रुग्णावस्था तथा यात्रा में वे अधिक बार स्नान किया करते थे।[१२४] वर्षाकाल में उपयोग के लिए भिक्षुओं को वार्षिकशाटिका नामक एक अतिरिक्त वस्त्र दिया जाता था।[१२५] यह लुँगी के समान था जिसे भींगने पर पहना जाता होगा। भिक्षुणियों को उदकसाटि नामक वस्त्र दिया जाता था जिसका उपयोग वे स्नान करने के समय अथवा ऋतुकाल में करती थीं।[१२६] शय्या की स्वच्छता के विचार से चर्मरोग से ग्रस्त भिक्षुओं को प्रतिच्छादन नामक कोपिन-समान एक वस्त्र दिया जाता था।[१२७] संघ ने भिक्षुओं को बिछावन का चादर, मुख पोछने का वस्त्र, जल छानने का कपड़ा और एक थैला देने की भी व्यवस्था की थी। जल को वस्त्र से छानकर पीने का नियम था। प्रायः सभी तापस पानी को छानकर पीते थे, क्योंकि जल में छोटे-छोटे प्राणियों के अस्तित्व की संभावना रहती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिक्षुओं को पहनने के लिए जो चीवर प्राप्त होते थे उसके दाता उपासक थे, पर वे भिक्षुओं को प्रत्यक्ष-दान नहीं देते थे। वे तो भिक्षुसंघ को चीवर-दान कर देते जो उनका वितरण भिक्षुओं को करता। भिक्षु नित्य भ्रमण-शील रहते थे, अतः प्रश्न उठता है कि कौन भिक्षु किस क्षेत्र के भिक्षु-संघ से चीवर प्राप्त करने का अधिकारी होता। इस सम्बन्ध में इस नियम का पालन होता था कि जो भिक्षु जिस क्षेत्र में वर्षावास करता उसे उसी क्षेत्र के भिक्षुसंघ से चीवर मिलता। यदि वह दो क्षेत्रों में वर्षावास करता, तो जिस क्षेत्र में उसके वर्षावास का अधिकांश समय व्यतीत होता, उसे उसी क्षेत्र के संघ से चीवर माँगना पड़ता। यदि दोनों स्थानों के वर्षावास काल में समानता होती, तो वह दो संघों से अपने चीवर का आधा-आधा भाग माँग सकता था।[१२८] जब चीवर उपासकों द्वारा संघ को दान कर दिये जाते, तब उनपर संघ का स्वामित्व स्थापित हो जाता था। भिक्षुओं में चीवरों के वितरण के लिए एक चरित्रवान भिक्षु की नियुक्ति संघ द्वारा विधिवत् की जाती थी।[१२९] निष्पक्ष एवं सदाचारी व्यक्ति ही वस्त्र-वितरण के कार्य में न्याय का समुचित निर्वाह करने में समर्थ हो सकता था, अतः उच्चचरित्र-सम्पन्न व्यक्ति को यह कार्यभार सौंपा जाता था। वितरण के पूर्व चीवरों का उत्कृष्टानुत्कृष्टतानुसार पृथक्करण कर लिया जाता था।[१३०] संभवतः भोजन तथा आवास के समान वरिष्ठ भिक्षुओं को उत्तम श्रेणी के चीवर आवंटित किये जाते होंगे और श्रामणेरों को साधारण कोटि के।

बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए आभूषण पहनने का निषेध किया था, परन्तु किसी-किसी विहार में कतिपय ऐसे भिक्षु भी वास करते थे जो कुंडल, कर्णपूर, हार, मेखला, वलय, अँगूठी आदि पहना करते थे।[१३१] यह कहना कठिन है कि कब भिक्षुओं ने आभूषण पहनना आरम्भ कर दिया। आभूषण के समान ही विलेपन का भी निषेध था, परन्तु चर्मरोग हो जाने पर विलेपन का प्रयोग वर्जित नहीं माना जाता था।[१३२] ऐसे भी नेत्रांजन लगाने की प्रथा का भिक्षुओं में व्यापक प्रचार के वर्णन मिलते हैं। महावग्ग में उल्लेख मिलता है कि भिक्षुओं को पाँच प्रकार के अंजनों, अर्थात् कृष्णानुसारि, सोत, रस, गेरूक, तथा कपल्ल के प्रयोग की अनुमति दी गयी थी।[१३३] इन अंजनों को सुवासित किया जाता था—तगर, चंदन, कृष्णानुसारि, कालिय तथा अद्रमुक्तक से। प्रत्येक भिक्षु अपने पास अस्थि, हाथी दाँत, सींग, बाँस, काष्ठ, कांस्य, आदि के बने अंजनपेटिका रखा करता।[१३४] बहुमूल्य होने के कारण स्वर्ण-रजत-निर्मित अंजनपेटिका रखना वर्जित था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छोटी-छोटी वस्तुओं को रखने के लिए जो थैला भिक्षुओं के पास रहता था उसीमें अंजनपेटिका को डाल दिया जाता।[१३५]

जातकों में कुछ शौकीन भिक्षुओं के भी उल्लेख मिलते हैं जो भिक्षु-जीवन के अनुशासन के विरुद्ध शरीरालंकरण किया करते थे। चुल्लनारद-जातक (४७७) में एक ऐसे भिक्षु का वर्णन मिलता है जो अपने शरीर को सजाने-सँवारने में व्यस्त रहता था। उसमें नाममात्र की भी ज्ञान-पिपासा का अभाव था। अन्य भिक्षु तो आध्यात्मिक साधना में रत रहते, पर वह तल्लीन रहता—अपने फैशन में। वह नेत्रों में अंजन लगाता, लम्बे केश रखता, मूल्यवान् परिधान पहनता और पात्र भी रंग-बिरंगे तथा मूल्यवान् रखा करता। इस प्रकार के वर्णन बौद्ध विहारों के इतिहास में उस काल की ओर इंगित करते हैं जब उनमें भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था।

भक्ष्याभक्ष्य—अन्य तापसों के समान भिक्षु-सम्प्रदाय में भी खाद्याखाद्य का विचार किया जाता था, परन्तु इस विषय में बौद्ध-संघ ने रूढ़ नियम नहीं बनाये। मांसाहार का निषेध होने पर भी अवस्था-विशेष में उसे अखाद्य नहीं माना गया। दुर्भिक्ष-काल में गृहस्थ भिक्षुओं को अनेक पशुओं के मांस भिक्षा में दे देते थे जिन्हें वे ग्रहण कर लेते थे।[१३६] मद्यपान भी वर्जित था, परन्तु औषधि के रूप में मदयांश लेना सर्वथा निर्दोष माना गया। रुग्ण भिक्षुओं को मद्यमिश्रित तैल-क्वाथ पीने की स्वतंत्रता थी।[१३७]

जलमिश्रित लवणात्मक यवागू बौद्ध-भिक्षुओं का प्रिय पेय माना जाता था।[१३८] दुग्ध-भात भी अत्यन्त सुस्वादु पेय माना गया था। भगवान् बुद्ध ने इस पेय के गुणों की बड़ी प्रशंसा की और इसे जीवन, आनन्द तथा शक्ति का स्रोत कहा।[१३९] दुग्ध-भात में शहद भी मिलाया जाता था। प्रायः प्रातःकाल के जल-पान में भिक्षुओं को मधुमिश्रित दुग्ध-भात दिया जाता था, परन्तु जिस दिन भिक्षुओं को किसी उपासक के घर में दिन के भोजन का निमन्त्रण रहता, उस दिन दुग्ध-भात के जलपान का निषेध किया गया, क्योंकि सबेरे पेट भर लेने पर वे उपासकों के यहाँ अल्पाहार कर उन्हें रुष्ट कर देते थे।[१४०] सभी नियमों में परिस्थिति के अनुरूप हेर-फेर कर दिया जाता था, जैसे—रोगी को तेल में मिलाकर भालू, शूकर, मत्स्य तथा ग्राह की चर्वी पीने को दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[१४१]

भिक्षुणियाँ— विनय-पिटक में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भगवान् बुद्ध नारी-जाति को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने के सर्वथा विरुद्ध थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वे तो आनन्द के तर्क तथा अनुरोध के सामने झुक गये। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य तथा प्रव्रज्याकांक्षिणी नारियों के अनुरोध को स्वीकार तो कर लिया, पर उन्हें इससे आन्तरिक आनन्द नहीं मिला। बौद्ध भिक्षु-संघ में नारी की विद्यमानता के भावी दुष्परिणामों से वे आशंकित हो उठे थे जो उनके इन शब्दों में व्यक्त हुए— 'हे आनन्द, यदि स्त्रियों को गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म तथा विनय के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी गयी होती तो हे आनन्द, यह विशुद्ध धर्म चिरस्थायी होता, हे आनन्द, तब यह सद्धर्म सहस्रों वर्षों तक स्थिर रहता, परन्तु हे आनन्द, अब स्त्रियों को वह अधिकार प्रदान कर दिया गया, अतः यह विशुद्ध धर्म, आनन्द अब मात्र पाँच सौ वर्षों तक स्थिर रह पायगा।'[१४२]

नारी को प्रव्रज्या का अधिकार प्रदान करने के विषय में न केवल भगवान् बुद्ध, अपितु समस्त विश्व के संन्यासी इसके विरुद्ध थे। जिन धार्मिक संस्थाओं में वैराग्य की प्रमुखता है वहाँ स्त्री की उपस्थिति से पुरुष की आध्यात्मिक साधना में व्यवधान होने की सम्भावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती। बुद्ध ने अनुभव किया कि बौद्ध भिक्षु-संघ में भिक्षुणियों की उपस्थिति के फलस्वरूप कतिपय भिक्षु संघ के उच्च नैतिक आदर्शों से च्युत हो जायँगे। अतः वे भिक्षुणी संघ की स्थापना के विरुद्ध थे। नारी-जाति को प्रव्रज्या के अधिकार से वंचित रखने का एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि पुरुष अपनी दुर्बलताओं का आरोप स्त्री के दुश्चारित्र्य पर करता रहा है, अतः संन्यासी को नारी से दूर रहकर लक्ष्यसिद्धि में सफलता दीखती है। वानप्रस्थ-आश्रम में नारी को अरण्य-वास की अनुमति प्रदान की गयी, परन्तु यह बौद्ध-संघ से असमान परिस्थिति के कारण सम्भव हुआ। यौवन के अवसान पर जब मनुष्य की वासनाएँ प्रसुप्त होने लगती हैं, तब गृहस्थ वानप्रस्थाश्रमी बनता था और पति-पत्नी साथ-साथ निवृत्तिमार्ग में अग्रसर होते थे। दूसरी ओर बौद्ध-संघ में व्यक्ति पन्द्रह वर्ष की वय में ही श्रामणेर बन जाता था। इस अपरिपक्व वय में स्त्री-सान्निध्य से व्यक्ति की दलित-वासनाओं के प्रवल-वेग से प्रज्वलित होने की पूरी संभावनाएँ रहती हैं। बौद्ध-संघ में युवा भिक्षु और युवती भिक्षुणियों की उपस्थिति से अनेक जटिल समस्याओं के उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ थीं। अतः भिक्षु-भिक्षुणी-सम्बन्ध कलुषित न हों, इस विचार से यह नियम बनाया गया कि यदि कोई श्रामणेर किसी भिक्षुणी के संग सहवास करेगा, तो उसे भिक्षु-संघ से निष्कासित कर दिया जायगा,[१४३] परन्तु, जैसा कि इस अध्याय में आगे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बतलाया जायगा, भिक्षुणियों की उपस्थिति के कारण बौद्ध-संघ में बड़ा भ्रष्टाचार होने लगा जिससे समाज में उसकी बड़ी बदनामी हुई। स्त्रियों को संन्यास-जीवन से दूर रखने की प्रवृत्ति का एक अन्य कारण यह भी था कि प्राचीन काल की पितृ-प्रधान कुटुम्ब-व्यवस्था में स्त्री का स्थान पारिवारिक सम्पत्ति के एक अंग-सदृश था। धर्मशास्त्र के अनुसार वस्तुतः कन्या अपने पतिकुल को प्रदान की जाती थी—'कुलाय हि दीयते नारी'। स्त्री-स्वातन्त्र्य का भी समाज में विरोध हुआ जिसकी अभिव्यक्ति—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' जैसी उक्ति में हुई। नारी के बाल्यकाल, युवावस्था यथा वार्द्धक्य में क्रमशः पिता, पति एवं पुत्र उसके संरक्षक माने गये थे। पति के प्रव्रजित हो जाने पर पुत्र नारी का संरक्षक हो जाता था। अत्यन्त उत्सुक होने पर भी याज्ञवल्क्य मुनि की पत्नियाँ प्रव्रजित न हो पायीं। अतः प्राचीन भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण नारी के प्रव्रजित होने के विरुद्ध था।

धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं के अतिरिक्त कतिपय व्यावहारिक समस्याओं के कारण भी भगवान् बुद्ध नारी को प्रव्रज्या का अधिकार प्रदान करने के पक्ष में नहीं थे। यदि कोई नारी वन में अरक्षित रहती, तो उसे समाज-विरोधी तत्त्वों का शिकार बनना पड़ता। विनयपिटक में गुंडों द्वारा वन में अरक्षित नारी के शीलभंग करने का उल्लेख मिलता है।[१४४] यदि वे एकान्त स्थान में स्नान भी करती रहतीं, तो गुंडे उस अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकते थे।[१४५] नारी को एकाकी पाकर दस्यु उनका अपहरण कर लेते थे। वानप्रस्थाश्रम में जो स्त्रियाँ अपने पति का साथ नहीं छोड़ती थीं उन्हें तपोवन में पति का संरक्षण प्राप्त था, परन्तु बुद्ध को तो कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। यदि वे स्त्रियों को भिक्षुणीधर्म में दीक्षित कर साधना-हेतु वन में भेजते, तो उनके गुंडों तथा दस्युओं के चंगुल में फँसने की सम्भावना रहती। यदि भिक्षुणियों को भिक्षुओं के साथ रहने की अनुमति प्रदान की जाती, तो उभयपक्ष के पथभ्रष्ट होने का भय बना रहता। अतः जब स्त्रियों को प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकार मिल गया और वे भिक्षुणियाँ बनने लगीं, तब यह व्यवस्था की गयी कि न तो वे एकाकी आवास के बाहर जायँ न किसी नदी की ओर, और न रात्रि में एकाकी वास करें या संघ के बाहर जायँ।[१४६]

यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि स्त्रियाँ प्रव्रजित होने के लिए इतनी उतावली क्यों होने लगीं? वस्तुतः भगवान् बुद्ध के समकालीन समाज में प्रव्रजित होना एक फैशन-सा बन गया था, तो स्त्रियाँ ही इसमें पीछे क्यों रहतीं?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राय: स्त्रियाँ पुरुषापेक्षा अधिक धर्मभीरु होती भी हैं। धार्मिक जीवन व्यतीत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वृद्धाएँ भिक्षुणी बनने लगीं। विधवाएँ पतिवियोगजन्य कष्ट-सहन की अक्षमता के कारण धर्म-शरणागत होने लगीं। थेरीगाथा में उपलब्ध किसा गौतमी, सुन्दरी, चापा, इसिदासी, सोणा, शाक्य-कुमारियाँ आदि की प्रव्रज्या के विवरणों से स्त्रियों के वैराग्य के अनेक कारणों का पता चलता है। अनेक स्त्रियों को अपने सगे-सम्बन्धियों के मृत होने पर संसार से वैराग्य हो गया तो उन्होंने भिक्षुणी बन जाने का निश्चय कर लिया। अपने पुत्र, पति, माता, पिता तथा भ्राता को खोकर पटाचारा पागल हो गयी। उस मनस्थिति में उसे भगवान् बुद्ध की शरण में जाकर शांति मिली। यही बात किसा गौतमी तथा सुन्दरी के साथ हुई। इस युग के युवकों में भिक्षु बनने की धुन सवार हो गयी थी। अनेकानेक नयुवक अपनी पत्नियों को असहाय छोड़कर भिक्षु बन गये। पति के भिक्षु बन जाने पर पत्नी के लिए यही विकल्प रह जाता था कि या तो वह आजीवन वियोग की अग्नि में जलती रहे, असहाय अवस्था में कष्ट झेलती रहे अथवा भिक्षुणी बनकर मानसिक शांति लाभ करे और अपने पति को भिक्षु-रूप में ही सही, आँखों से देखकर संतोष कर ले। भिक्षुओं की अनेक युवा-पत्नियों ने दूसरा विकल्प चुना। जब पाँच सौ शाक्यकुमार भिक्षु बन गये, तो उनकी पत्नियाँ वैशाली चली गयीं और उन्होंने आनन्द के माध्यम से भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि उन्हें भी प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाय। पति के भिक्षु होने पर चापा भी अपनी सन्तान को उसके पितामह के संरक्षण में छोड़कर पतिपथगामिनी हो गयी। जब किसी परिवार के अधिकांश सदस्य भिक्षु बन गये, तो उस परिवार की कुछ स्त्रियाँ भी संसार से विरक्त हो प्रव्रजित हो गयीं। दाम्पत्य-जीवन की विफलता तथा पारिवारिक कलह के फल-स्वरूप भी अनेक स्त्रियों ने भिक्षुणी बनना अंगीकार किया। इसिदासी ने तीन बार विवाह किया, परन्तु सभी विवाह असफल रहे, तो वह भिक्षुणी बन गयी। अपने पुत्र तथा पुत्रवधुओं के अनादर से विक्षुब्ध होकर सोणा प्रव्रजित हो गयी। असफल प्रेम ने भी कतिपय स्त्रियों को भिक्षुणी बनाया। भद्दा नामक राजगृह की एक श्रेष्ठिकन्या एक दस्यु पर प्रेमासक्त हो गयी। उसने उस दस्यु की प्राण-रक्षा की, परन्तु उस कृतघ्न दस्यु ने एक दिन श्रेष्ठि-पुत्री की हत्या कर उसके मूल्यवान् आभूषणों को हस्तगत करने का विचार किया। इस षड्यन्त्र का आभास मिलने पर श्रेष्ठिकन्या ने उस दस्यु को मार डाला और स्वयं भिक्षुणी बन गयी।

भिक्षुणियों की उपस्थिति से बौद्ध-संघ में एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनेक गृहिणियों ने उस अवस्था में प्रव्रज्या की दीक्षा ली जब वे गर्भवती हो चुकी थीं, जिसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। भिक्षुणी बन जाने के कुछ काल के अनन्तर जब उनमें गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे, तो संघ के अधिकारियों के लिए यह एक विकट समस्या बन गयी। चुल्लवग्ग[१४७] के अनुसार एक स्त्री को भिक्षुणी-धर्म की दीक्षा दी गयी। उस स्त्री के गर्भ में बीजारोपण हो चुका था, पर वह उससे अनभिज्ञ थी। कुछ समय व्यतीत होने पर उस भिक्षुणी में गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे तो वह भावी संतान के पालन-पोषण के विषय में चिन्ता करने लगी। अन्त में संघ ने उसकी चिन्ता दूर कर दी। उस भिक्षुणी को अपनी संतान को शैशवकालपर्यन्त साथ रखने की अनुमति दे दी गयी और शिशु की देखभाल में सहयोग प्रदान करने के लिए एक भिक्षुणी को भी साथ कर दिया गया। निग्रोधमिग-जातक (१२) में भी इसी प्रकार के एक अन्य प्रसंग का विवरण दिया गया है— 'राजगृह के एक धनाढ्य श्रेष्ठि की कन्या के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया तो उसने अपने माता-पिता से प्रव्रज्या लेने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु उस कुल की एकमात्र संतान होने के कारण उसके माता-पिता ने वैराग्यमार्ग के पथिक होने की अनुमति नहीं प्रदान की। अतएव उसने अपने मन में विवाहोपरांत पति से ही वैराग्य की अनुमति प्राप्त करने का निश्चय किया। यथासमय उसका विवाह सम्पन्न हो गया और वह अत्यन्त पतिपरायणा भार्या बन गयी। कुछ काल पश्चात् वह गर्भवती भी हो गयी, जिसका उसे पता नहीं चला और इसी बीच उसने भिक्षुणी बनने के लिए अपने पति की अनुमति प्राप्त कर ली। प्रव्रजित हो जाने के कुछ समय पश्चात् जब उसके शरीर में गर्भ के लक्षण स्पष्ट होने लगे, तो अन्य भिक्षुणियों ने इसकी सूचना देवदत्त को दी। समाज में इस बात का प्रचार हो जाने से संघ की बड़ी निन्दा होगी, ऐसा सोच कर देवदत्त ने तत्काल उस भिक्षुणी को संघ से निष्कासित कर दिया, परन्तु उस भिक्षुणी की प्रार्थना पर संघ में देवदत्त के निर्णय पर विचार-विमर्श किया गया और एक भिक्षुणी पर इस बात का पता लगाने का भार सौंपा गया कि गर्भ उसके संघप्रवेश के पूर्व का था अथवा पश्चात् का। जब यह निश्चित हो गया कि वह भिक्षुणी संघप्रवेश के पूर्व ही गर्भवती हो चुकी थी, तो निष्कासना-देश रद्द कर दिया गया। उसने यथासमय प्रसव किया। उस समय विहार के पार्श्व से कोशल-नरेश प्रसेनजित् की सवारी जा रही थी। उन्होंने शिशु का क्रन्दन सुना, तो रुक गये। फिर यह विचार कर कि शिशु का पालन-पोषण भिक्षुणी किस प्रकार करेगी, स्वयं इस भार को वहन कर लिया।' इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि यदि संघ में किसी भिक्षुणी को गर्भ रह जाता, तो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियमानुसार उसे संघ से निष्कासित कर दिया जाता, परन्तु जब कोई स्त्री उस वैध गर्भ के साथ जिससे वह अनभिज्ञ हो, प्रव्रजित हो जाती तो उसे संघ से निष्कासित नहीं किया जाता। संघ गर्भवती भिक्षुणी को प्रसव की सुविधाएँ प्रदान करता था और संतान के पालन-पोषण का भार प्रायः सद्‌गृहस्थ उठा लेते थे, परन्तु यदि कोई उपासक इस कार्य के लिए प्रस्तुत नहीं होता, तो शिशु आशैशवान्त संघ में ही पलता।

भिक्षु-जीवन के आदर्श का ह्रास—जैसा कि ऊपर कहा गया है, पंद्रह वर्ष की वय में ही व्यक्ति प्रव्रज्या की दीक्षा लेकर बौद्ध भिक्षु-संघ में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता था। इस अल्पवय में सांसारिक जीवन से विमुखता के फलस्वरूप अनेक भिक्षु संघ के उच्चादर्शों के पालन में असफल हो जाया करते थे। कई भिक्षु स्त्री-सान्निध्य के कारण भ्रष्ट हो जाते थे, तो कई मन-विचलित होने पर संघ का परित्याग कर गृहस्थ बन जाते थे। पालि-जातकों में भिक्षुओं द्वारा व्यभिचार किये जाने की अनेक कथाएँ मिलती हैं। यद्यपि इन कथाओं का प्रमुख उद्देश्य भिक्षुओं को सांसारिक प्रलोभनों से सचेत करना था, परन्तु सभी कहानियाँ निराधार नहीं मानी जा सकतीं। भिक्षुओं के भ्रष्टाचार-सम्बन्धी कहानियों में इस तथ्य की प्रमुखता है कि नारी-सौंदर्य के आकर्षण के कारण ही भिक्षु पथभ्रष्ट हो जाया करते थे। भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि संघ में स्त्रियों की विद्यमानता के कारण संघ की पवित्रता पाँच सौ वर्षों से अधिक अक्षुण्ण नहीं रह पायगी। किशोर-वय के श्रामणेरों के स्त्रीसंसर्ग से भ्रष्ट होने की घटनाओं से आश्चर्य भी नहीं किया जा सकता है। विनय-पिटक में कुन्तक नामक श्रामणेर द्वारा एक भिक्षुणी के साथ व्यभिचार किये जाने का उल्लेख मिलता है।[१४८] कतिपय श्रामणेर अथवा नवयुवक भिक्षु गृहस्थों की नवयुवती कन्याओं के रूपगुण पर जब मुग्ध हो जाते, तो फिर भिक्षुजीवन में उनका मन नहीं लगता था जिससे वे संघ का परित्याग कर गृहस्थ बन जाते थे।[१४९]

भिक्षु-जीवन का परित्याग कर गृहस्थ बन जाने का कारण केवल नारी-ही नहीं था। अन्य कारणों से भी भिक्षु संघ को छोड़कर भाग जाते थे। कभी-कभी तो वरिष्ठ भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण नवयुवक भिक्षु-संघ से नाता तोड़ लेते थे। अहिगुण्डिक-जातक के अनुसार एक ग्रामीण युवक को प्रव्रज्या की दीक्षा दी गयी, पर एक वृद्ध भिक्षु द्वारा पीटे जाने पर उसने संघ का परित्याग कर दिया। कुछ नवयुवक भिक्षुओं को अपने माता-पिता के प्रयास से विवश हो भिक्षु-जीवन से विरत होना पड़ा। मज्झिम-निकाय के अनुसार राज-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गृह के श्रेष्ठिकुमार रट्ठपाल को उनके माता-पिता ने यत्नपूर्वक पुनः गृहस्थ बना लिया।[१५०] इसी प्रकार राजगृह के ही श्रेष्ठिकुमार तिष्य के प्रव्रजित हो जाने पर उनके माता-पिता ने एक दासी को उन्हें भिक्षु-जीवन से विरक्त करने के लिए नियुक्त किया और अंत में उन्हें सफलता मिली।[१५१] जब किसी भिक्षु के गृहस्थ-जीवन की पत्नी अथवा पत्नियाँ कातर हो उससे पुनः गृहस्थ-जीवन में लौट जाने के लिए अनुनय करने लगतीं, तो उस अवस्था में कई भिक्षुओं की प्रतिज्ञा भंग हो जाती।[१५२] कभी-कभी भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ संघ छोड़कर बौद्धेतर संप्रदायों में चले जाते थे। यदि बौद्धेतर-मत स्वीकार करने वाले भिक्षु की आस्था बौद्ध-धर्म में पुनः दृढ़ हो जाती, तो उसे बौद्ध-संघ में वापस आने की अनुमति मिल जाती, परन्तु भिक्षुणियों को यह सुविधा नहीं दी गयी।[१५३] परिवास की अवधि पूर्ण होने के पूर्व जो भिक्षु-संघ छोड़कर भाग जाते थे, उन्हें संघ-प्रवेश करने पर पुनः परिवास का पालन करना पड़ता था।[१५४] महावग्ग के अनुसार न केवल नवागन्तुक, पर कतिपय उपज्झाय तथा आचार्य भी, भिक्षु-संघ का परित्याग कर या तो अन्य-मतावलम्बी बन जाते थे अथवा गृहस्थ हो जाते।[१५५]

ब्राह्मण-तापस तथा बुद्ध के समकालीन धर्मोपदेशक, जैसे—वर्द्धमान महावीर और मक्खलि गोसाल कठोर तप के पक्षपाती थे, परन्तु बुद्ध ने कठोर तप को निर्वाण के लिए अनावश्यक बतलाया। उन्होंने मध्यम-प्रतिपदा का उपदेश दिया। उनके विचार में आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर एवं मन को अत्यधिक कष्ट देना अनावश्यक है; इसके बिना भी आत्मज्ञान संभव है। अतएव उन्होंने भिक्षु-जीवन के जो नियम बनाये उनमें कठोर तप को स्थान नहीं दिया गया। भिक्षुओं को जीवन की अनेक सुविधाएँ प्रदान की गयीं। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि भिक्षुओं को कम-से-कम असुविधाओं का समान करना पड़े। भिक्षु-संघ में समाज के सभी वर्ग के लोग विद्यमान थे। कई भिक्षओं ने भिक्षु-जीवन को अपनी आध्यात्मिक उत्कर्ष के सर्वथा उपयुक्त समझा और वे साधना में लीन हो गये। कुछ ऐसे लोग भी भिक्षु बन गये थे जिनमें आध्यात्मिक साधना की सच्ची लगन का अभाव था। संघ में जो सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं उनसे इन भिक्षुओं को तुष्टि नहीं हुई और ये अधिकाधिक आराम की व्यवस्था के लिए प्रयास करने लगे। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नियम उन्हें कष्टसाध्य लगे। इसी वर्ग के भिक्षुओं ने वैशाली की बौद्ध सगीति में दस निषावादेशों को रद्द करने का प्रयत्न किया।[१५६] यह भी कहा जाता है कि कतिपय भिक्षु इन निषिद्ध र्मों का खुलमखुल्ला आचरण करने लगे। पालि-पिटक में इस बात के संकेत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलते हैं कि कुछ भिक्षु भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आदर्शों के पालन में अक्षम रहे। इसके दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं— प्रथम तो यह कि सभी भिक्षुओं में चरित्र की दृढ़ता का अभाव था तथा दूसरा, उपासकों की अतिभक्ति, जिससे भिक्षुओं को सुख-सुविधाओं की प्रचुर सामग्री अनायास मिलती रही।

रजत-स्वर्ण का संग्रह भिक्षु के लिए वर्जित था, परन्तु चुल्लवग्ग[१५७] तथा जातकों से प्रतीत होता है कि कतिपय अर्थलोलुप भिक्षु धनसंग्रह करने लगे। मच्छ-उदान-जातक (२८८) में एक श्रामणेर द्वारा अपने उपज्झाय के एक सहस्र कार्षापणों को हड़प लेने का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि उपज्झाय तथा आचार्य को धन प्राप्त होने लगे थे। इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि कतिपय भिक्षु इस चेष्टा में रहने लगे कि उन्हें कहीं-न-कहीं से सुस्वादु भोजन का निमंत्रण मिला करे[१५८]। बौद्ध-संघ के प्रारम्भिक काल में किसी प्रकार के भी निमंत्रण में जाने के लिए अनुमति प्रदान करना विशिष्ट सुविधा मानी जाती थी। सादा-से-सादा जीवन व्यतीत करना, शरीर की सुविधा के लिए सीमित वस्तुओं का उपयोग करना तथा ऐश्वर्य की सामग्री का स्पर्श नहीं करना ही तो भिक्षु-जीवन के प्रमुख आदर्श थे, परन्तु श्रद्धालु उपासक भिक्षुओं को अनेक उपयोगी वस्तुओं की भेंट करने लगे। भिक्षा-पात्र, चीवर, सूचिपात्र, मेखला इत्यादि वस्तुएँ भिक्षु-जीवनके लिए आवश्यक थीं, अतः बुद्ध ने इन उपहारों को ग्रहण करना उचित समझा। कालान्तर में उपासक विहारों को ऐश्वर्य-सामग्री का भी दान करने लगे, तो भिक्षुओं ने यह विचार कर कि उपासकों को दुख न हो, उन्हें स्वीकार किया, परन्तु कतिपय भिक्षु ऐश्वर्य-सामग्री का उपभोग भी करने लगे, जो भिक्षु-जीवन के आदर्शों के विपरीत था। विनय-पिटक[१५९] में इसका उल्लेख हुआ है कि षड्वर्गीय भिक्षु गद्देदार कुर्सियाँ, मंच, सचित्र उत्तरच्छत, सोना-चाँदी का काम किया हुआ कालीन, अनेक प्रकार की कुर्सियाँ, सोफा, इत्यादि का उपयोग करने लगे। यद्यपि इस तरह के संघ-विरुद्ध कर्म का दोषारोपण षड्वर्गीयों पर किया गया है, पर अन्य सभी भिक्षु इससे वंचित रहे होंगे इसमें संदेह है।

कालान्तर में जब अनेकानेक विहारों का निर्माण हो गया, तो कहीं-कहीं भिक्षु भ्रष्टजीवन व्यतीत करने लगे। चुल्लवग्ग[१६०] में कीटागिरि नामक एक विहार का उल्लेख किया गया है जहाँ के भिक्षु अनेक प्रकार के सांसारिक सुखों में लिप्त हो गये थे। जब एक भिक्षु वाराणसी से श्रावस्ती जा रहा था तब उसे मार्ग में इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
विहार को देखने का अवसर मिला। उसने देखा कि कीटागिरि विहार के भिक्षु मञ्जरिका, विधुतिका, वतंसक, आवेल, उरच्छद आदि नाम की पुष्पमालाएँ बनाकर प्रतिष्ठित कुलों की गृहणियों, कन्याओं, नवयुवतियों, पुत्र-वधुओं तथा दासियों को उपहार में देने लगे थे। उसने भिक्षुओं को कुसमय भोजन तथा मद्यपान, नृत्य, गीत, वादन, खेल-कूद, द्यूत, रथ-दौड़, तीरंदाजी, हाथी-घोड़े की सवारी, तलवार चलाना, मल्लयुद्ध तथा मुक्केबाजी में भाग लेते हुए देखा। उस विहार में नर्तकियों को भी आमंत्रित किया जाता था। महाकण्ह जातक (४६९) के अनुसार कई विहारों में भिक्षु-भिक्षुणियों को सन्तान उत्पन्न होने लगी थी। इस प्रकार के वर्णन निःसंदेह चुल्लवग्ग तथा जातक में उत्तर-काल में जोड़ दिए गए हैं। चुल्लवग्ग का वर्णन तो बिल्कुल अविश्वसनीय प्रतीत होता है, परन्तु उसमें इतना सत्यांश अवश्य है कि कुछेक विहारों में भिक्षु-जीवन के आदर्शों का सर्वथा लोप हो गया था।

कीटागिरि विहार के समान कतिपय विहारों के अस्तित्व के कारण ही भिक्षु-भिक्षुणी-सम्बन्ध कहीं-कहीं आदर्श नहीं रह गये। कहीं-कहीं भिक्षु-भिक्षुणी में अनैतिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे। चुल्लवग्ग[१६२] में कहा गया है कि षड्वर्गीय भिक्षु अपने जंघों या गुप्तांगों को विवृत कर भिक्षुणियों को दिखलाया करते, उन्हें अश्लील शब्दों से संबोधित करते या उनके साथ व्यभिचार करते। पानीय-जातक (४५९) के अनुसार प्रव्रजित होने पर भी कई व्यक्ति सांसारिक वासनाओं के प्रति अपनी आसक्ति दूर करने में असमर्थ हो पापपूर्ण विचारों में मग्न रहा करते थे। मानसिक व्यभिचार शारीरिक पाप का प्रथम चरण है और संभवतः मन में पाप को प्रश्रय देने के कारण भिक्षु शारीरिक पाप में प्रवृत्त होने लगते थे। भिक्षु-भिक्षुणियों की सन्तानोत्पत्ति के उल्लेख निःसंदेह अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। इसमें इतना ही सत्य माना जा सकता है कि कभी-कभी भिक्षु-भिक्षुणी-सम्बन्ध आदर्श नहीं रह पाते थे।

कई विहारों में भिक्षु-जीवन के उच्चादर्शों के लोप होने के अतिरिक्त एक विचित्र बात यह भी हुई कि कतिपय भिक्षु मुख्य विहार से अलग आवास बना कर उनमें सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ लोग प्रव्रजित तो हो जाते थे पर वे अपने पारिवारिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाते थे। देवधम्म-जातक (६) के अनुसार श्रावस्ती के एक श्रेष्ठि ने प्रव्रज्या ग्रहण की, परन्तु वह भिक्षु-जीवन के आदर्शों के अनुरूप जीवन-यापन करने में असफल रहा—'उसने मुख्य विहार के पार्श्व में अपने रहने के लिए कक्ष, अग्नि-गृह तथा भांडागार बनवाया और जब उसके भांडागार में घी, चावल तथा अन्य उपयोगी सामग्री का प्रचुर मात्रा में संग्रह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गया, तभी उसने अंतिम रूप से भिक्षु-धर्म को स्वीकार किया। भिक्षु बन जाने पर भी वह श्रेष्ठि अपने रसोइयों से मनोवांछित भोजन बनवाता, दिन तथा रात के लिए अलग-अलग वस्त्र धारण करता और इस प्रकार वह सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।' कभी-कभी तो अनेक भिक्षु एक साथ विहार के निकट आवासों का निर्माण कर अपने ढंग से रहने लगे। काक-जातक (१४६) के अनुसार एकबार श्रावस्ती के कई धनाढ्य वृद्ध प्रव्रजित हो गये, परन्तु वार्द्धक्य के कारण भिक्षुधर्म के पालन में उन्हें सफलता नहीं मिली। मित्र होने के कारण उन्होंने एक-साथ रहने का विचार किया और वे विहार के निकट पर्णशालाओं का निर्माण कर रहने लगे। जब वे चारिका के लिए निकलते तो अपनी पत्नियों तथा सन्तान से मिलने चले जाते और वहीं भोजन करते। ऊपर के विवरण से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बौद्ध भिक्षु-संघ के इतिहास में एक युग ऐसा भी आया जब कहीं-कहीं भिक्षु अपने लिए स्वतंत्र आवास की व्यवस्था कर उनमें सामान्य भिक्षु-जीवन के विपरीत सुख-सुविधा-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने लगे।

विहारों के पदाधिकारी— भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-संघ की सुव्यवस्था एवं उसके विभिन्न कार्यों के सुसंचालन के लिए आवश्यक पदाधिकारियों की नियुक्ति की अनिवार्यता का अनुभव किया। अतः आवश्यकतानुसार अनेक पदाधिकारियों को नियुक्त किया गया जो संघ के विभिन्न प्रकार के कार्यों का संचालन करने लगे। वे प्रत्येक भिक्षु की आवश्यकताओं का ध्यान रखने लगे। इस प्रकार भिक्षु-संघ के सभी कार्य सुव्यवस्थित हो गये। कोई विहार ऐसा नहीं रह गया जहाँ अव्यवस्था होती और भिक्षुओं को इससे कष्ट उठाना पड़ता। किसी भी शासन की सफलता के लिए प्रशासकीय पदाधिकारियों का चरित्रवान् तथा कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य होता है। बौद्ध भिक्षु-संघ की सुव्यवस्था का श्रेय उन भिक्षु-पदाधिकारियों को है जो कर्त्तव्यपरायण एवं आचारनिष्ठ थे। बौद्ध-संघ में प्रमुख समस्या आध्यात्मिक थी, फिर भी भिक्षुओं की थोड़ी-बहुत भौतिक आवश्यकताएँ थीं, क्योंकि बौद्ध-धर्म के मध्यममार्ग में समस्त सुख-सुविधाओं का परित्याग अनिवार्य नहीं माना गया। अतः भिक्षुओं को जिन वस्तुओं के उपयोग की अनुमति दी गयी, उन वस्तुओं की उपलब्धि तथा उनका भिक्षुओं के बीच न्यायपूर्ण विभाजन संघ का दायित्व था। बौद्ध विहारों में भिक्षुओं की संख्या न्यून नहीं होती थी और भिक्षुओं के पारस्परिक सम्बन्धों से भी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थीं जिनका समुचित समाधान ढूँढ़ना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत्यावश्यक था। इन सबों की यथोचित व्यवस्था प्रत्येक विहार में की गयी। यहाँ पर हम प्रमुख रूप से संघ द्वारा विहारों के प्रशासन पर विचार करेंगे।

बौद्ध-संघ एक बृहत् संस्था थी जहाँ भिक्षुओं में मतभेद, कलह, प्रतिस्पर्धा आदि होने की सभी संभावनाएँ थीं, अतः संघ-संचालकों के समक्ष इनसे बचाव तथा भिक्षुओं में मैत्री-भावना के विकास की समस्या प्रमुख थी। उनका लक्ष्य भिक्षुओं में उच्च नैतिक आचरण के ह्रास को रोकना भी था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पातिमोक्ख की व्यवस्था की गयी। उपोसथ-दिवस में भिक्षु पातिमोक्ख का पाठ करते थे। यह भिक्षुओं की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन था। यह हुई, विशेष व्यवस्था। सामान्य व्यवस्था यह थी कि भिक्षुओं को अपने उपज्झायों एवं आचार्यों से दिन-प्रति-दिन नैतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान उपलब्ध कराया जाता था। संघ-प्रवेशार्थियों को भिक्षुधर्म में दीक्षित करना भी एक प्रमुख समस्या थी—इसके लिए विधिवत् पब्बजा (प्रव्रज्या) तथा उपसम्पदा दीक्षाओं की व्यवस्था की गयी। अनुशासन की स्थापना तो सर्वोपरि थी और इसके लिए भी सारी व्यवस्था की गयी। अनुशासन कई तरह के थे और अनुशासन-भंग के दण्डस्वरूप अनेक प्रकार के प्रायश्चितों का विधान किया गया। बौद्ध-संघ की यह विशेषता थी कि अनुशासन के नियमों को जनतांत्रिक पद्धति से लागू किया गया, जिससे संघ की व्यवस्था एक सुनियंत्रित एवं अनुशासित जनतंत्र-सदृश हो गयी। भिक्षु-संघ के सभी कार्य बहुमत के समादर द्वारा सम्पन्न होते थे।

जहाँतक भिक्षुओं की भौतिक आवश्यकताओं का प्रश्न है, संघ की सुव्यवस्था केकारण किसी भी भिक्षु को अपनी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती थी। संघ के पदाधिकारी, जो विभिन्न विभागीय कार्यों के लिए नियुक्त किये जाते थे, भिक्षुओं को उनकी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराते थे। पदाधिकारियों की नियुक्ति संघ द्वारा विधिवत् की जाती थी।[१६२] नियुक्ति की विधि यह थी कि सर्वप्रथम उम्मीदवार की सम्मति प्राप्त की जाती, पश्चात् संघ में ञत्ति पारित की जाती, जिस पर संघ की स्वीकृति मिल जाने पर सम्बद्ध भिक्षु की पदविशेष पर नियुक्ति सम्पन्न हो जाती थी। भिक्षुओं के विश्वासपात्र तथा श्रद्धास्पद और निष्पक्ष, निर्भीक, निर्मोही तथा अनासक्त भिक्षु संघ के प्रशासकीय पदों के लिए उपयुक्त पात्र समझे जाते थे।[१६३] उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे लोभ, घृणा, मोह तथा भय सदृश दुर्गुणों से मुक्त हों। इन चारित्रिक विशेषताओं के साथ पदाधिकारी भिक्षु को अपने कार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का पूर्ण ज्ञान होना भी आवश्यक था। यदि उसकी नियुक्ति आवास-गृहों के आवंटन के लिए की जाती, तो उसके लिए उपलब्ध आवासों की संख्या, तथा जिन भिक्षुओं के लिए आवासों की व्यवस्था करनी रहती है, उनकी संख्या का ज्ञान होना आवश्यक माना जाता था। इसी प्रकार यदि किसी भिक्षु को चीवर-वितरण का कार्य सौंपा जाता, तो उसे उपलब्ध चीवरों की संख्या तथा जिन भिक्षुओं को चीवर दिये जाते और जिनको नहीं मिलते, उनकी संख्या जानना अपेक्षित था।

बौद्ध-धर्म के आदिकाल में भिक्षु विहारों में वास नहीं करते थे। वे अपने रहने के लिए पर्णकुटियों का निर्माण कर लेते थे, अतः उन दिनों उनके लिए आवास की व्यवस्था कोई बड़ी समस्या नहीं थी। जब भिक्षु संघारामों और विहारों में रहने लगे, तो उनके लिए समुचित आवास की व्यवस्था संघ का प्रमुख दायित्व हो गया। सभी विहारों पर संघ का स्वामित्व था,अतः संघ द्वारा आवासों का वितरण भिक्षुओं में कर दिया जाता था। इस कार्य के संपादन के लिए जिस भिक्षु को नियुक्त किया जाता वह शयनासनप्रज्ञापक[१६४] कहलाता था। इस बात का ध्यान रखना उस पदाधिकारी का कर्त्तव्य था कि कोई भी भिक्षु आवास-विहीन न रहे। यदि कोई भिक्षु किसी अन्य विहार से आता तो शयना-सनप्रज्ञापक को इसकी सूचना मिलने पर वह तत्काल आगत-भिक्षु के लिए आवास की व्यवस्था कर देता। आराम की देखभाल तथा सुव्यवस्था के लिए जिनको नियुक्त किया जाता था वे आरामिक कहलाते थे और वे आरामिकप्रेषक नामक पदाधिकारी के नियंत्रण में कार्य करते थे।[१६५] उपासक ही संघ को विहारों का दान करते थे और इस विचार से कि विहारों का निर्माण भिक्षुओं के आवास के उपयुक्त हो, वे संघ को विहार-निर्माण के निर्देशन का अधिकार प्रदान कर देते। अतः संघ इस कार्य के लिए एक भिक्षु को नियुक्त करता था और इस प्रकार सभी विहार भिक्षुओं की देखरेख में निर्मित होते थे।[१६६]

आवास के पश्चात् दूसरी प्रमुख समस्या थी, वस्त्र की। उपासक चीवरों का दान संघ को कर देते थे और उसके बाद भिक्षुओं में उनके वितरण का कार्य संघ सम्पन्न करता था। अतः चीवारों को समुचित ढंग से उपासकों से ग्रहण करने, फिर उनकी उचित देखभाल तथा वितरण आदि के कार्यभार अलग-अलग भिक्षुओं को सौंपे जाते थे। जो भिक्षु उपासकों से चीवर ग्रहण करता वह चीवर-प्रतिग्राहक[१६७] कहलाता था। अव्यवस्थित ढंग से दानग्रहण करने के कारण दाता उपासकों को नैराश्य न हो, इस विचार से चीवरप्रतिग्राहक की नियुक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की जाती होगी। संघ का लक्ष्य था कि उसके व्यवहार से उपासकों को कदापि दुःख न पहुँचे। चीवरप्रतिग्राहक का कार्य प्रतिग्रहणमात्र था। चीवरों की देख-भाल के लिए चीवर-निदहक[१६८] नियुक्त किया गया था। इसका कार्य यह देखना था कि उपेक्षा के कारण चीवर गंदे अथवा नष्ट न हों। इसके लिए यह आवश्यक हो गया कि चीवरों को भांडार में ठीक से रखा जाय। अतः चीवर रखने के लिए भांडार बना और एक भांडागारिक[१६९] भी नियुक्त किया गया। जब उपासकों से चीवरों का प्रतिग्रहण किया जाता और उनको समुचित ढंग से भांडार में स्थापित कर दिया जाता, तब भिक्षुओं में उनका वितरण किया जाता था। चीवरों का वितरण चीवरभाजक[१७०] का कार्य था। अधोवस्त्र प्रति-ग्रहण करने और संभवतः उनके वितरण का कार्य शाटिकाग्राहक को सौंपा गया था।[१७१]

तीसरी प्रमुख समस्या थी, भोजन की व्यवस्था। इस कार्य के लिए भी भिक्षु-पदाधिकारियों को नियुक्त किया गया। खाद्यभाजक[१७२] भिक्षुओं में शलाका वितरण करता था, जिसे दिखलाकर वे भोजनशाला में भोजन करते थे। जैसा अन्यत्र कहा गया है, उपज्झायों तथा आचार्यों को महीन चावल के भात के लिए शलाका दिये जाते थे और श्रामणेरों को साधारण कोटि के भात के लिए। उपासकों से निमन्त्रण मिलने पर जब थोड़े से चुने हुए भिक्षुओं को भोजन के लिए भेजना पड़ता तो उसके लिए भी शलाका बाँटे जाते थे। यह कार्य भक्त-उद्देशक[१७३] करता था। यह व्यवस्था दुर्भिक्ष-काल में की गयी थी जब उपासकों कोअधिक भिक्षुओं को भोजन कराने में असुविधा होती थी। यवागूभाजक तथा फलभाजक क्रमशः यवागू और फलों के वितरण के लिए नियुक्त किये गये थे।[१७४]

उपर्युक्त प्रमुख समस्याओं के अतिरिक्त भिक्षुओं को कई तरह की छोटी-छोटी वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती थी, जैसे—सूई, कैंची, छलनी इत्यादि की, अतः इन सब के वितरण के लिए अल्पमात्र-भाजक[१७५] को नियुक्त किया गया था। आरम्भ में भिक्षु स्वयं सिलकर चीवर पहना करते थे और जब उन्हें सिले चीवर उपासकों से उपलब्ध होने लगे, तो फटने पर उनको सिलना अनिवार्य हो जाता था, अतः प्रत्येक भिक्षु सूई-धागा अपने पास रखा करता था। केश, नख तथा वस्त्र काटने के लिए कैंची रखनी पड़ती होगी। भिक्षु जल छान कर पीते थे अतः छानने का कपड़ा रखने की व्यवस्था की गयी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रामणेरों की देखभाल का कार्य श्रामणेर-प्रेषक[१७९] करता था, पर उसके कर्त्तव्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः वह यह देखता होगा कि श्रामणेर अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन करें। जो श्रामणेर संघ छोड़कर अन्यत्र चले जाते होंगे और जो भिक्षुपद को प्राप्त कर लेते होंगे उसका लेखा-जोखा भी श्रामणेर-प्रेषक के पास रहता होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्देश

१

१. चुल्लवग्ग (११), दीपवंश (४) तथा महावंश (३) के अनुसार बुध-निर्वाण के तत्काल पश्चात राजगृह के सप्तपर्णी-गुहा में पाँच सौ भिक्षुओं ने एकत्र होकर महाकस्सप के सभापतित्व में विनय तथा धर्म के सूत्रों का संकलन किया। इस संगीति में विनय तथा धर्म के जिन नियमों को मान्यता मिली वे ही थेरवाद के सिद्धान्त हुए। प्रथम संगीति के पश्चात् बुद्ध-निर्वाण के एक सौ वर्षों के अनन्तर वैशाली में दूसरी संगीति हुई (चुल्लवग्ग, १२; दीपवंश, ४-५)। इन दो संगीतियों की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान दोनों संगीतियों की कथा को वास्तविक मानते हैं, कुछ केवल द्वितीय तथा तृतीय संगीति को सत्य मानते हैं, और कुछ केवल तृतीय को। अंतिम विचार को मानने वालों का कथन है कि वस्तुतः बौद्ध संगीति अशोक के समय में ही हुई और उसके पूर्व के दो संगीतियों की कथा काल्पनिक है।

२. चुल्लवग्ग, १३/१/१.

३. *SBE*, १३ भूमिका, पृ० ३६.

४. Winternitz, M.— *A History of Indian Literature*, २, पृ० २-३, १०-११.

५. वही।

६. महापरिनिब्बाण-सुत्त।

७. दीघ-निकाय, १६/४/७-११; अंगुत्तर-निकाय, ६ पृ० ५११.

२

१. अग्नि और बृहस्पति ब्राह्मण वर्ण के हैं, इन्द्र, वरुण, सोम, यम क्षत्रिय हैं, वसु, रुद्र, विश्वेदेवाः तथा मरूत वैश्य हैं और पूषण शूद्र हैं—काणे, पा० वें०, *History of Dharmasastra* जि० २, भाग १, पृ० ४२.

२. मज्झिम-निकाय, जि० २, पृ० ८४, १४८.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

३. दीघ-निकाय, जि० १, पृ० ९०-९१.
४. दीघ-निकाय, १, पृ० १०३.
५. उपसाल्हक जातक (सं० १६६).
६. बौद्ध पिटकों में अनेक ब्राह्मणग्रामों का उल्लेख मिलता है, जैसे—खानुमत (दीघ-निकाय १, पृ० १२७), अम्ब्रसण्डा (दीघ-निकाय २, पृ० २६३-६४), एकनाल (बुक ऑफ किंड्रेड सेइंग्स, १, पृ० २१६), सालिन्दिय (जातक ३, पृ० २९३, ४, पृ० २७६) इत्यादि।
७. वैशाली अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ८५-८६.
८. वही।
९. जातक, २, पृ० ३६; ४, पृ० ४१३; ६, पृ० ७१.
१०. जातक, ४, पृ० २००, ३७६, ३९०; महावंश, ४/४१.
११. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १५०,
१२. सुत्त निपात, २/७/२१; ३/९/५७.
१३. विमानवत्थु ५/१३/१५; पेतवत्थु २/६/१२.
१४. जातक ६, पृ० २०८.
१५. चुल्लवग्ग, ९/१/४
१६. अंगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९.
१७. उदान, १/५.
१८. दीघ-निकाय, १, पृ० ९७-९९.
१९. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १२८
२०. दीघ-निकाय, १, पृ० १३१—यं पि भो समणो गोतमो उभतो सुजातो मातितो च पितितो च संसुद्धगहणिको याव सत्तमा पितामहायुगा अक्खितो अनुपक्कुट्ठो जातिवादेन। (मज्झिम-निकाय २, पृ० १६६ तथा निदानकथा, १/२ भी देखिये।)
२१. दीघ-निकाय, १ पृ० ११३.
२२. दीघ-निकाय—कूटदन्तसुत्त।
२३. जातक, ४, पृ० २०७-८.
२४. मज्झिम-निकाय ३, पृ० १७७; अंगुत्तर-निकाय ४, पृ० १२९-३४; ५, पृ० २९०-९१.
२५. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ८५—यानि तानि नीचकुलानि—चण्डालकुलं वा नेसादकुलं वा वेणकुलं वा रथकार कुलं वा पुक्कुसकुलं वा……।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२६. जातक २, पृ० ५.

२७. कट्ठहारि जातक (७); भद्दसाल-जातक (४६५).

२८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/६/१८/९-१०.

२९. वही, १/६/१८/१, १८-२२, २८-२९, ३०-३३.

३०. काणे, पा० वे०—*History of Dharmasastra*, जि० २, भाग १, पृ० १६१

३१. चुल्लवग्ग, १२/१/३; दीघ-निकाय, १, पृ० १०४-५; अंगुत्तर-निकाय २, पृ० ५३-५४; जातक, १, पृ० ४२५.

३२. जातक, १, पृ० ३३३, ३६१, ३७३, ४५०; २, पृ० ८५, १३१, २३२, २६२, ३९४, ४११; ३, पृ० १४७, ३५२ इत्यादि।

३३. दीघ-निकाय, १, पृ० ८८, १२०; मज्झिम-निकाय, २, पृ० १३३-३४; अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० २२३; सुत्तनिपात, ३/७.

३४. अंगुत्तर-निकाय ३, पृ० ३७१; सुत्तनिपात, ३/७. जातक ६, पृ० ३२.

३५. जातक, १, पृ० १६६, २३९; २, पृ० १३७; ३, पृ० २१५; ६, पृ० ३२.

३६. सुत्तनिपात, २/७/२०-२२.

३७. दीघ-निकाय, १, पृ० १११.

३८. दीघ-निकाय, १, पृ० १२७.

३९. मज्झिम-निकाय, २. पृ० १६४.

४०. जातक, १, पृ० ४३९.

४१. जातक, ३, पृ० २८.

४२. जातक, २, पृ० १८६-७; ५, पृ० १.

४३. जातक, १, पृ० २८९.

४४. कुणाल-जातक (५३६)

४५. जातक, ३ पृ० ४१७.

४६. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १।७।२०।११.

४७. गौतम-धर्मसूत्र, १०।५.

४८. मनुस्मृति, ४।६; १०।८१-८२.

४९. मज्झिम-निकाय, ९८; सुत्तनिपात, ३।९; जातक, २, पृ० १६५; ४, पृ० २०७; ५, पृ० २२.

५०. दीघ-निकाय—सोणदण्डसुत्त, कूटदण्तसुत्त; सुत्तनिपात—कसिभारद्वाज-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुत्त; मज्झिम-निकाय, २, पृ० २०२.
५१. सुत्तनिपात, १।४; जातक, ४, पृ० २७६.
५२. सुत्तनिपात, ३।७.
५३. जातक, २, पृ० २१३; ६, पृ० १८१.
५४. जातक, २, पृ० १६५; ३, पृ० १६२-६३, २९३; ४. पृ० २७६; ५, पृ० ६८ इत्यादि ।
५५. जातक, २, पृ० १५; ४, पृ० १५-२१; ५, पृ० २२, ४७१.
५६. जातक, ४, पृ० २०७.
५७. जातक, ३, पृ० ४०१.
५८. जातक, ३, पृ० २१९; ५, पृ० १२७.
५९. जातक, २, पृ० २००; ६, पृ० १७०, १८२.
६०. जातक, १, पृ० २७२, ४, पृ० ७९, ३३५; ५, पृ० २११ इत्यादि ।
६१. जातक, २, पृ० २१, २५०; ५, पृ० ४५८.
६२. जातक, १, पृ० ४५५.
६३; जातक, १, पृ० २५३.
६४. जातक, २, पृ० २४३.
६५. जातक, ३, पृ० ५०४.
६६. जातक, ३, पृ० ५११.
६७. चुल्लवग्ग, ९।१।४; मज्झिम-निकाय, २, पृ० १२८; ३, पृ० १७७; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० १९४; ३, पृ० २१४; ४, पृ० १२९-३४; ५, पृ० २९०-९१; विमानवत्थु, ५।१३।१५; पेतवत्थु, २।६।१२; जातक, १, पृ० ३२६; ३, पृ० १९४; ४, पृ० २०५.
६८. दीघ-निकाय, १, पृ० ९८.
६९. दीघ-निकाय, १, पृ० ९९; अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० ३२७-८.
७०. जातक, १, पृ० ४९.
७१. *S. B. E.* (*Sacred Books of the East*) २२, पृ० २१८-२९.
७२. जातक, ५, पृ० २५७.
७३. जातक, ३, पृ० १२२, १५८.
७४. जातक, ४, पृ० ८४, १६९; ५, पृ० २९०-९३.
७५. Fick, R. (रिचर्ड फिक)—*Social Organisation in N. E. India in Buddha's time*, पृ० २५३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७६. महावग्ग, ६।२८।४; दीघ-निकाय, १, पृ० ६७; २, पृ० १४५-४६. मज्झिम-निकाय, १, पृ० १७६, ३९५, ५०२.
७७. जातक, ३, पृ० २१, ३२५.
७८. जातक, २, पृ० १२१.
७९. जातक, २, पृ० २६७.
८०. जातक, २, पृ० ३८८.
८१. जातक, १, पृ० १९६.
८२. महावग्ग, ८।१।१६.
८३. जातक, १, पृ० ३४९.
८४. जातक, १, पृ० ३४५; ३, पृ० २९९, ४७५; ५, पृ० ३८४.
८५. जातक, २, पृ० ६४.
८६. दीघ-निकाय, २, पृ० ३४२; जातक, ५, पृ० ४७१ तथा अपण्णक-जातक (१) किंपक्क-जातक (८५)
८७. जातक, १, पृ० २७०; किंपक्क-जातक (८५); अकतञ्ञु-जातक (९०).
८८. महावग्ग, १।७.
८९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।१०।२६।५.
९०. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३७-३८; ४, पृ० २७७, अष्टाध्यायी, १।३।३६; ३।२।२२.
९१. जातक, ३, पृ० ३२६.
९२. भाष्य, १।३।७२.
९३. अर्थशास्त्र, २।२४.
९४. जातक, १, पृ० ४७५.
९५. *S. B. E.*, १३, पृ० २८; दीघ-निकाय, १, पृ० ५१; जातक, ४, पृ० ४७५.
९६. धम्मपद, ८०.
९७. जातक, ६, पृ० १८९, ४३७; अग्रवाल, वा० श०—*India as Known to Panini*, पृ० २३४.
९८. दीघ-निकाय, १, पृ० ७८; मज्झिम-निकाय, २, पृ० १८, जातक, २, पृ० १९७.
९९. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १८, ४६; ३, पृ० ११८; जातक २, पृ० ७९; ३, पृ० ३७६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१००. जातक, ३, पृ० ४०५.
१०१. जातक, ४, पृ० १६१.
१०२. जातक, ३, पृ० २८१.
१०३. उवासगदसाओ, ७।१८४ के अनुसार पलासपुर नगर के निकट ५०० आबादी का एक कुम्भकारग्राम था।
१०४. जातक, ३, पृ० २८१.
१०५. जातक, २, पृ० १८, ४०५; ४, पृ० १५९, २०७.
१०६. जातक, २, पृ० १६७; ३, पृ० ६१, ५०७.
१०७. जातक, १, पृ० ४३०.
१०८. जातक, ४, पृ० ४९५.
१०९. जातक, १, पृ० ३७०; २, पृ० २६७, ४२९; ३, पृ० १९८, ३४८.
११०. जातक, ४, पृ० ३८९.
१११. जातक, २, पृ० २४९.
११२. जातक, १, पृ० २८३.
११३. जातक, १, पृ० २८४.
११४. जातक, १, पृ० ३१०.
११५. जातक, १, पृ० २८३.
११६. जातक, १, पृ० २८४.
११७. जातक, २, पृ० १६७.
११८. जातक, २, पृ० २४८.
११९. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ७९; जातक, ५, पृ० ४१७.
१२०. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १५२, १८३-८४; ३, पृ० १६९; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ८५; ३ पृ० ३८५.
१२१. जातक ४, पृ० २४६.
१२२. वही।
१२३. जातक, ४, पृ० २००, ३७६, ३९०.
१२४. जातक, ४, पृ० ३९०.
१२५. जातक, ३, पृ० २३३.
१२६. जातक, ४, पृ० ३७६.
१२७. जातक, ४, पृ० ३९०-९२.
१२८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २।१।२।८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१२९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १।३।९।१५-१७; गौतम-धर्मसूत्र १६।१९.

१३०. मनुस्मृति, ३।२३९.

१३१. मनुस्मृति, १०।५१-५२.

१३२. मनुस्मृति, १०।५५.

१३३. जातक, ४, पृ० ३८८, ३९०; ५, पृ० ४२९.

१३४. जातक, ३, पृ० ४१, १७९.

१३५. मनुस्मृति, १०।५६.

१३६. बोस, अतीन्द्रनाथ—*Social and Rural Economy of Northern India*, २, पृ० ४३८.

१३७. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ३७६.

१३८. जातक, ६, पृ० १५६.

१३९. जातक, ४, पृ० ३७९.

१४०. जातक, ६, पृ० १५६.

१४१. सुत्त-निपात, १।७।२२-२३.

१४२. जातक, ३, पृ० २३३-३५.

१४३. जातक, ४, पृ० २०१.

१४४. अत्रि-स्मृति, २।८९.

१४५. जातक, ५, पृ० ११०, ३३७.

१४६. मनु-स्मृति, १०।४८.

१४७. Fick, R.—*Social Organisation in N. E. India is Buddha's Time*, पृ० ३२२.

१४८. जातक, ३, पृ० १९४-५; ४, पृ० २०५, ३०३.

१४९. मनु-स्मृति. १०।१८.

१५०. जातक, ३, पृ० १९५; Fick, R.—*Social Organisation in N. E. India in Buddha's Time*, पृ० ३२१.

१५१. जातक, ४, पृ० २५१.

१५२. वही।

१५३. जातक, १, पृ० ३५६.

१५४. जातक, २, पृ० ५; ३, पृ० ४५२.

१५५. जातक, १, पृ० ३१०.

१५६. जातक, ४, पृ० ४०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५७. जातक, १, पृ० २९२.

१५८. जातक, ३, पृ० २३०.

१५९. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०७.

१६०. जातक, १, पृ० १२१; ५, पृ० २९०-९२.

१६१. राजा द्वारा नापित को मित्रवत् सम्बोधन का उल्लेख मिलता है जैसे—जातक १, पृ० १३७ में राजा ने अपने अधीनस्थ नापित को, सम्म = सौम्य कहा। एक कथा में कहा गया है कि प्रव्रज्या ग्रहण करते समय राजा ने नापित को १००,००० कार्षापण कर उपलब्ध कराने वाले ग्राम का दान कर दिया (जातक, १, पृ० १३८)।

१६२. जातक, २, पृ० ५.

३

१. Chanan, D. R.—*Slavery in Ancient India,*, पृ० १५-१८.

२. अर्थशास्त्र, ३।१३, म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा न त्वेवार्यस्य दासभावः।

३. मनु-स्मृति, ८।४१३.

४. महाभारत, सभापर्व, ५२।४५-४६.

५. जातक, ४, पृ० ९९, ददामि ते गामवरानि पञ्च दासीसतं गवं सतानि।

६. जातक, १, पृ० २००; ४, पृ० २२, ९९; ६, पृ० २८५, ५४५-४८; Fick, R.—*Social Organisation in N. E. India in Buddha's Time*, पृ०, ३०७.

७. अर्थशास्त्र, ३।१३.

८. मनु-स्मृति, ८।४१५.

९. जातक, १, पृ० ४५१.

१०. जातक, १, पृ० ४०२, अथ' एकं दासीं भतिं अददमानं सामिका द्वारे निसिदापेत्वा रज्जुया पहारन्ति।

११. मनु-स्मृति, ८।२९९.

१२. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०७-८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१३. जातक, ६, पृ० ५४८-७३.

१४. जातक, १, पृ० ४५१.

१५. जातक, २, पृ० ४२८.

१६. जातक, ३, पृ० १६७.

१७. अर्थशास्त्र, ३।१३.

१८. वही.

१९. जातक, १, पृ० १५६-५७.

२०. कट्ठहारि-जातक (७); भद्दसाल-जातक (४६५).

२१. खुद्दक-निकाय, १, पृ० १३९; जातक, १ पृ० ४६८; Chanan, D. R.—*Slavery in A. I.*, पृ० ६९.

२२. सामन्त-पासादिक, १।२१५; Chanan, D. R.—*Slavery in A. I.*, पृ० ७०.

२३. Chanan, D. R,—*Slavery in A. I.*, पृ० ७०-७२.

२४. चुल्लवग्ग, ४।४।७; ६।४।१.

२५. घड़ों के साथ जलाशय जाती हुई दासियों का उल्लेख मिलता है—जातक, ५, पृ० २८४। कुणाल-जातक के अनुसार जब शाक्य तथा कोलिय जातियों की दासियाँ रोहिणी नदी में निर्मित जलाशय में जल लेने गयीं तो दोनों पक्ष में कलह हो गया—जातक ५, पृ० ४१३.

२६. जातक, १, पृ० ४५३.

२७. जातक, १, पृ० ४८४.

२८. जातक, ३, पृ० १६३.

२९. जातक, १, पृ० ४०२.

३०. जातक, १, पृ० ३८३.

३१. जातक, १, पृ० ४५३.

३२. अर्थशास्त्र, ३।१३.

३३. दीघनिकाय, १ पृ० ६०-६१.

३४. जातक, ६, पृ० ५४६-४७.

३५. अर्थशास्त्र, ३/१३.

३६. मज्जिम-निकाय, २, पृ० ६२.

३७. नारद-स्मृति, ५/२९-३४.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

४

१. ऋग्वेद, ३/५३/४; ५/३/२; १०/८५/३६.
२. शतपथ ब्राह्मण, ५/१/६/१०.
३. बृहदारण्यक उपनिषद्, १/४/३.
४. ऐतरेय-ब्राह्मण, ३३/१.
५. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ५७.
६. जातक, १ पृ० ३०७, इत्थिया हि सामिको आच्छादनं नाम, सामिकम्हि असति सहस्समूलं पि साटकं निवत्था इणग्गा एव नाम ।
७. *The book of Gradual Sayings*, १, पृ० १२०.
८. थेरीगाथा, ४४६.
९. जातक, २, पृ० १३८.
१०. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/४/८-११.
११. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ३/९/८.
१२. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/५/११/१२-१३.
१३. न चाप्यधर्मः कल्याणि बहुपत्नीकता नृणां—*History of Dharmasastra*, भाग, २, पृ० ५५२.
१४. जातक, ५, पृ० १७८.
१५. जातक, ४, पृ० ३१६.
१६. जातक, ३, पृ० ९३.
१७. जातक, ४, पृ० २१९.
१८. थेरीगाथा, १५२.
१९. जातक, २, पृ० १३८.
२०. जातक, ३, पृ० १६२; ४, पृ० २२.
२१. *Psalms of Sisters*, पृ० ४२.
२२. जातक, २, पृ० २२५.
२३. *Psalms of Sisters*, पृ० ४२.
२४. जातक, ३, पृ० ९३.
२५. गौतम-धर्मसूत्र, ४/१; वशिष्ठ-धर्मसूत्र, ८/१
२६. जातक, १, पृ० १९९, ४७७; २, पृ० २२९; ३, पृ० ४२२.
२७. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/५/७—कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्तात् ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२८. मनु-स्मृति, ४/२४४.

२९. वही, २।२३८.

३०. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/४/८-११; बौधायन-धर्मसूत्र, १/८/२-५; विष्णु-धर्मसूत्र, २४/१-४; वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १/२४-२५—तिस्रो ब्राह्मणस्य भार्या। वर्णानुपूर्व्वेण द्वे राजन्यस्य एकैका वैश्यशूद्रयोः। शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जं तद्वत्; मनु-स्मृति, ३/१३.

३१. जातक, ५, पृ० २११.

३२. जातक, ३, पृ० २१.

३३. जातक, २, पृ० ५.

३४. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १०२—गग्गो खो, महाराज, पिता; मन्ताणी माताति।

३५. दीघनिकाय, १, पृ० ९२; ३, पृ० ११८; मज्झिम-निकाय, २, पृ० ४०; सुत्तनिपात, ३/१/१९; सुमंगलविलासिनी, १, २५७. कहीं-कहीं जाति, गोत्र तथा कुल के उल्लेख मिलते हैं, जैसे—जा० २, पृ० ३ में।

३६. अष्टाध्यायी, ४/३/१२५; महाभाष्य, २/४/६२; १/४९२.

३७. मज्झिम-निकाय, २, पृ० ४०.

३८. जातक, २, पृ० ३६०.

३९. *Dialogues of the Buddha*, २, पृ० ११५; जातक ५, पृ० ४१३.

४०. उदय-जातक (४५८) तथा दसरथ-जातक (४६१)

४१. महाजनक-जातक (५३९); ६, पृ० ४८६.

४२. बौधायन-धर्मसूत्र १/१/१९-२६.

४३. जातक, १, पृ० ४५७; जातक, २, पृ० ३२७; ६, पृ० ४८६.

४४. जातक, २, पृ० २३७, ४०३-४; ४, पृ० ३४२-४३.

४५. उदाहरणार्थ, जातक, २, पृ० ११९..

४६. थेरीगाथा, ४४५.

४७. थेरीगाथा, १२, ४६ तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा।

४८. धम्मपद-अट्ठकथा, १२०—राजगहे तु एका सेट्ठिधीता सोलस्सवस्सुदेसिका अभिरूपा अहोसि दस्सनाय। तस्मिं च वये थिता नारियो पुरुसज्झासाय होंति पुरुसलोला।

४९. जातक, ३, पृ० ९३.

५०. जातक, ४, पृ० ४८४.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

५१. जातक, १. पृ० ४५६.

५२. थेरीगाथा, ४७—पटाचारा अपने भृत्य के साथ पलायन कर गयी थी।

५३. गोभिल-गृह्यसूत्र, ३/४/६ पर गृह्यसंग्रह की टीका— नग्निकान्तु वदेत्कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत्।

५४. हिरण्यकेशिन्-गृह्यसूत्र १/६/१९/२ पर मातृदत्त की टीका—नग्निकामासन्नार्तवाम्। तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका। मैथुनार्हेत्यर्थः।

५५. मानव-गृह्यसूत्र, १/७/८.

५६. हिरिण्यकेशिन्-गृह्यसूत्र, १/६/१९/२.

५७. अल्तेकर, अ० स०—*The Position of women in Hindu Civilisation*, पृ० ६१.

५८. अष्टाध्यायी, ३/१/११०.

५९. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/६७-६८.

६०. बौधायन-धर्मसूत्र, ४/१/१५— त्रीणि वर्षाणि ऋतुमती कांक्षेत पितृशासनम्।

६१. मनु-स्मृति, ९/९०.

६२. गौतम-धर्मसूत्र, १८/२१.

६३. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/८/१०; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ३/८/१०; पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/८/२१.

६४. अर्थशात्र, ४/१२.

६५. मनु-स्मृति, ९/९०.

६६. जातक. १, पृ० ४५६; ६, पृ० ७२, ४८६.

६७. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १/१९; आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/१/१/१९, १/१/२/१२-१६; पारस्कर-गृह्यसूत्र, २/२/१-३, २/५/१३-१४.

६८. पारस्कर-गृह्यसूत्र, २/५/१५.

६९. मिलिन्दपञ्हो, १/२२.

७०. काम-सूत्र, ३/१/२.

७१. सुत्त-निपात, १/६/२०.

७२. जातक, १, पृ० २२५.

७३. महाभारत, सभापर्व, ६४/१४; वनपर्व, ५/१५—ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टि वर्षः।

७४. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १/३/१८-१९; आश्वलायन-गृह्यसूत्र— बुद्धि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूपशील लक्षणसंपन्नामरोगामुपयच्छेत ।
७५. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १/३/१०-११.
७६. शतपथ-ब्राह्मण, १/२/५/१६
७७. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १/३/२०—यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धनस्तस्या-मृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके ।
७८. जातक, ४, पृ० २१९—धीता वयप्पता न च नं कोचि वारेति ।
७९. जातक, २, पृ० १३८.
८०. बौधयन-धर्मसूत्र, ४/१/१२—दद्याद्गुणवते कन्याम् ।
८१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/५/२—बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत् ।
८२. दीघनिकाय, १, पृ० ११; जातक, १, पृ० २५८.
८३. जातक, १, पृ० २५८.
८४. कुणाल-जातक (५३६)
८५. पाणिनि ने विवाह के लिए उपयमन (सूत्र, १/२/१६) शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने विवाह सम्पन्न करने की क्रिया को स्वकरण की संज्ञा दी है (१/३/५६)। वार्त्तिक (सूत्र ४/१/५२ पर) तथा पातञ्जल-महाभाष्य (२/२२१) के अनुसार पाणिग्रहण को विवाह की प्रमुखतम धर्म-विधि माना जाता था।
८६. जातक, ३, पृ० ३४२— ब्राह्मणो कहापणे दातुं असक्कोन्तो अत्तनो धीतरं तस्सा पादपरिचारिकं कत्वा अदासि ।
८७. जातक, २, पृ० १८५.
८८. जातक, ४, पृ० १२२.
८९. जातक, ५, पृ० २६९.
९०. जातक, ६, पृ० ३३९—गोलकालो नाम पुरिसो सत्त संवच्छरानि घरे कम्मं कत्वा भरियं लभि ।
९१. मनु-स्मृति, ९/९३, ९७-९८.
९२. जातक, १, पृ० ३००.
९३. जातक, १, पृ० २९७.
९४. जातक, ५, पृ० ४२५-२६.
९५. अथर्ववेद, ९/५/२७-२८-
९६. तैत्तिरीय-सहिता, ३/२/४/४.
९७. नन्द-जातक (३९)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

९८. सुसीम-जातक (१६३)
९९. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० २९५.
१००. जातक, १, पृ० ३०७.
१०१. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/२०.
१०२. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/७४.
१०३. अर्थशास्त्र, ३/४.
१०४. अर्थशास्त्र, ३/२.
१०५. *SBE*., १३, पृ० १५०.
१०६. चुल्लसुतसोम-जातक (५२५); वेस्सन्तर-जातक (५४७).
१०७. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/७८-८०.
१०८. अर्थशास्त्र, ३/४.
१०९. मनु-स्मृति, ९/७६.
११०. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १०९.
१११. वशिष्ठधर्मसूत्र, १७/२०.
११२. अर्थशास्त्र, ३/३.
११३. जातक, ४, पृ० ३५.
११४. जातक, ३, पृ० ३५१.
११५. नारद-स्मृति, १७/९७.
११६. पराशर-स्मृति, ४/२८.
११७. जातक, ५, पृ० ४४६.
११८. जातक, २, पृ० ११६-१८.
११९. अण्डभूत-जातक (६२); कोसिय-जातक (१३०); गहपति-जातक (१९९); उच्छिट्ठभत्त-जातक (२१२); गामणिचण्ड-जातक (२५७) आदि ।
१२०. जातक, २. पृ० ११३-१५.
१२१. जातक, ६, पृ० ३३८.
१२२. चुल्लवग्ग, १०/१३/१.
१२३. जातक, ५, पृ० ६१.
१२४. जातक, २, पृ० २२९-३०.
१२५. जातक, ४, पृ० ४५-४९.
१२६. जातक, १, पृ० ४७७.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१२७. उम्मदन्ती-जातक (५२७)
१२८. जातक, ६, पृ० ३२३.
१२९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/६/१४/१६-२०; मनु-स्मृति, ९/१०१.
१३०. अंगुत्तर-निकाय, २. पृ० ६१.
१३१. सुत्त-निपात, १/२/५, धनिय नामक ब्राह्मण गृहस्थ को अपनी पति-परायणा स्त्री के लिए गर्व था ।
१३२. जातक, २, पृ० १२१-२५.
१३३. जातक, ५, पृ० ८८-९८.
१३४. जातक, ६, पृ० ४५८—सत्ता हि पियभरियासु विय सेसेसु आलयं न करोन्ति ।
१३५. जातक, ३, पृ० ३५१.
१३६. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र. १/१०/२८/१९.
१३७. मनु-स्मृति, ८/३८९.
१३८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/१०/२८/२०.

५

१. महावग्ग, ८/१/२.
२. वही, ८/१/३.
३. वही, ६/३०/२; ६/३०/५.
४. वही, ६/३०/१.
५. वही, ८/१/४.
६. कणवेर-जातक, (३१८).
७. सुलसा-जातक, (४१९).
८. तक्कारिय-जातक, (४८१).
९. जातक, ४, पृ० २४९.
१०. महावग्ग, ८/१/२.
११. वही, ८/१/१.
१२. जातक, ४, पृ० २४८-४९.
१३. जातक, २. पृ० ३८०.
१४. जातक, ३, पृ० ४३५-३८ (सुलसा-जातक)

१५. जातक, ३, पृ० ४७५-७६.
१६. जातक, ३, पृ० ५९-६०.
१७. जातक, ३, पृ० ६०.
१८. जातक, ३, पृ० ६१; ४ पृ० २४९.
१९. जातक, ६, पृ० २२८.

६

१. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ५७; ३ पृ० ९०; अं० नि०, ५, पृ० २१३; जातक १, ४२९, ४८४; २, पृ० ११०, १३५, ३७८; ४, पृ० २७६; ६, पृ० ३६७.
२. आश्वलायन - गृह्यसूत्र, १/१७/२; सांख्यायन - गृह्यसूत्र, १/२४/३; १/२८/६.
३. अष्टाध्यायी, ५/२/२; ६/२/३८.
४. महाभाष्य, १/१९.
५. सूत्र-स्थान, ४६/७.
६. Beal, *Life of Hiuen-Tsiang*, पृ० १०९.
७. अग्रवाल, वासुदेवशरण—*India As Known to Panini*, पृ० १०३.
८. अष्टाध्यायी, ३/१/४८; ३/३/४८; ५/१/९०.
९. जातक, २ पृ० ११०; ६, पृ० ५८०.
१०. अष्टाध्यायी, ४/३/१३६.
११. मज्झिम-निकाय १, पृ० ५७, ८०; ३, पृ० ९०; अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० १०८; सुत्त-निपात, ३/१०; जातक १, पृ० ४२९; २ पृ० ७४.
१२. भोजाजानीय-जातक (२३); महिलामुख-जातक (२६).
१३. तक्कल-जातक; अष्टाध्यायी, ४/४/१००.
१४. अष्टाध्यायी, ४/४/६७.
१५. जातक, ६, पृ० ३७२.
१६. केसव-जातक (३४६).
१७. सुपत्त-जातक (२९२).
१८. अष्टाध्यायी, ६/१/१२८.
१९. महावग्ग, ६/२४-२५.
२०. सत्तुभस्त-जातक (४०२).

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२१. अष्टाध्यायी, ६/३/५९.
२२. वही, ६/३/६०.
२३. कुम्मासपिण्ड-जातक (४१५).
२४. विसवन्त-जातक (६९).
२५. अष्टाध्यायी, ६/२/१२८.
२६. वही, ४/३/१४.
२७. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ९५; अष्टाध्यायी, २/४/१४; ४/३/१६०; ४/२/१८.
२८. जातक, ५, पृ० ३७; अष्टाध्यायी, ४/१/४२; ४/३/१६५; ८/४/५.
२९. ऋग्वेद, १०/९१/१४.
३०. शतपथ-ब्राह्मण, ११/७/१/३.
३१. वही, ३।१।२।२१— तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्तदुहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहमंसलं चेद्भवतीति ।
३२. महावग्ग, ६।२३।१०-१५.
३३. दीघनिकाय, २, पृ० १२७; इसका उल्लेख उदान (८।५) में भी मिलता है। एक जातक में भी बुद्ध का मांसाहार स्वीकार करते हुए वर्णन मिलता है (जातक २, पृ० २६२).
३४. मज्झिम-निकाय १, पृ० ३६४; २, पृ० १९३; *The Book of Kindred Sayings*. २, पृ० १७१; *The Book of Gradual Sayings*, १, पृ० २२९.
३५. मंस-जातक (३१५).
३६. जातक, १, पृ० २४२.
३७. जातक, १, पृ० १६६; ३, पृ० ४२९.
३८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/२/५/१६.
३९. वही, २/३/७/४.
४०. मनु-स्मृति, ३/२२७.
४१. वही, ५/३५.
४२. स्ट्रैबो (Strabo) १६, १, ५९.
४३. जातक, ३, पृ० ४९.
४४. वही.
४५. संयुत्त-निकाय, २, पृ० २५७; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०७; ३,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृ० ३०३; जातक, ६, पृ० १११.

४६. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ४९.

४७. जातक, १, पृ० १९६-९७; २, पृ० ४१९.

४८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/२९.

४९. जातक, १, पृ० १९६-९७.

५०. दीघनिकाय, २, पृ० २९४; मज्झिम-निकाय १, पृ० ५८; २, पृ० १९३.

५१. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३६४.

५२. मज्झिमनिकाय, १, पृ० ४४९; २, पृ० १९३.

५३. जातक, २, पृ० १३५.

५४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/३०.

५५. बौधायन-गृह्यसूत्र, २/११/५१; हिरण्येकेशिन्-गृह्यसूत्र, २/५/१५/१; आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/७/१६/२६.

५६. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/२४/३०-३३; वशिष्ठ-धर्मसूत्र ४/८.

५७. काणे, पा० वा०—*History of Dharmasastra*, २, पृ० ७७७.

५८. पुण्णन्दि-जातक (२१४); रोमक-जातक (२७७) तथा जातक २, पृ० ४१२.

५९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/३२-३६; गौतम-धर्मसूत्र, १७/२९, ३४, ३५; वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १४/४८; विष्णु-धर्मसूत्र, ५१/२९-३१; मनुस्मृति, ५/११-१४.

६०. वही.

६१. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/१९.

६२. जातक, २, पृ० २४२-४३.

६३. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/१९/९.

६४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/५/१७/३८-३९.

६५. मनु-स्मृति, ५/१४-१६.

६६. गोध-जातक (१३८); संखपाल-जातक (५२४).

६७. गोध-जातक (३२५).

६८. जातक, ३, पृ० १०६-७.

६९. अथर्ववेद, ४/३४/६.

७०. शतपथ-ब्राह्मण १२/७/३/५.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

७१. तैत्तिरीय-ब्राह्मण, १/८/६—ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम् । ब्राह्मणो हि आहुत्य उच्छेषणस्य पाता ।

७२. काठक-संहिता, २२/१२.

७३. चुल्लवग्ग, १२/१/३, अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ५३-५४; ४, पृ० ५, २४६; इतिवुत्तक, ७४; पाणिनि, २/४/२५; ६/२/७०.

७४. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, २/५/५; पारस्कर-गृह्यसूत्र ३/३/११.

७५. वारुणि-जातक (४७); इल्लीस-जातक (७८).

७६. वही.

७७. इल्लीस-जातक (७८).

७८. जातक, ४, पृ० ११४.

७९. जातक, १, पृ० ४८९ *S.B E.* २२, पृ० ९४-९५.

८०. जातक, १, पृ० ३६२, ४८९.

८१. जातक, १, पृ० ३६२.

८२. *Sacred Books of the East*, १३, पृ० २११, २१५.

८३. महावग्ग, ६/१४/१.

८४. जातक ५, पृ० ४६७—तात अयुत्तं ते कतं सोत्थियकुले जातेन सुरं पिवन्तेन, मा पुन एवं अकासीति ।

८५. *S.B.E.*, xxii, पृ० ९४-९५.

८६. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/२१; गौतम-धर्मसूत्र, २/२६.

८७. गौतम-धर्मसूत्र, २/२६.

८८. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, २१/११, १५— या ब्राह्मणी च सुरापी न तां देवाः पतिलोकं नयन्तीहैव……पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिवेत् ।

८९. गौतम-धर्मसूत्र, १३/१; मनु-स्मृति ११/९०-९२.

९०. विष्णु-धर्मसूत्र, २१/८४.

९१. मनु-स्मृति, ११/९६.

९२. *S. B. E.*, २२, पृ० ९४-९५.

९३. जातक, ४, पृ० ११५-१६.

९४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/१/२/२३; मनु-स्मृति, २/१७७.

९५. मनु-स्मृति, ११/९३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

१. महावग्ग, ८/३/१; दीघ-निकाय, २, पृ० ३५६-५७; पेतवत्थु, २/१/१७; अग्रवाल, वा० श०— *India as Known to Panini*, पृ० १२५-२६.
२. *S. B. E.*, १३ पृ० २८, दीघ-निकाय, १, पृ० ५१; जातक, ४, पृ० ४७५.
३. विनय, २, पृ० १३५.
४. जातक, १, पृ० ३५६.
५. चुल्लवग्ग, ५/११/१-२.
६. जातक, ३, पृ० २८२.
७. चुल्लवग्ग, ५/११.
८. महावग्ग, ७/१/५.
९. कौटिल्य, २/२३.
१०. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ५०; जातक ३, पृ० ११; ६, पृ० ४९-५०, १४४.
११. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३०-३१.
१२. महापरिनिब्बाण-सुत्त, ५/२६.
१३. वही.
१४. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३०.
१५. वही, पृ० २९; महावणिज-जातक (४९३), जातक ६. पृ० ५००.
१६. महावग्ग, ८/१/२९.
१७. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३१.
१८. शामशास्त्री—अर्थशास्त्र, पृ० १३७.
१९. महावग्ग, ८/१/३६; जातक, ६ पृ० ४७, मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, ५. २८.
२०. Mc Crindle,—*Ancient India*, p. 97, Frg. xii.
२१. Arrian—*Indica*, Chap. xvi. 16.
२२. भिंक्खुणी-पातिमोक्ख, ४/४०/९६; चुल्लवग्ग, ५/२९/२.
२३. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३७.
२४. महावग्ग, ८।१४।२०-२१; चुल्लवग्ग, ४।४०।९६; जातक संख्या, ३२४, ४३१.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२५. जातक, ४३१.
२६. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३८.
२७. वही.
२८. चुल्लवग्ग, १०।१०।१.
२९. Bachofar, *Eary Indian Sculpture*, Pl. xii. परिशिष्ट भी देखिये ।
३०. वही,
३१. कनिंघम, *Stupa of Bharhut*, प्लेट, २२. परिशिष्ट भी देखिये ।
३२. उष्णीष के नमूनों के लिए परिशिष्ट देखिये । डॉ० मोतीचन्द्र ने भी साँची तथा भारहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों में उत्कीर्ण चित्रों में दर्शित २४ प्रकार के उष्णीषों की सूची दी है (प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ६५-६८).
३३. वही, पृ० ६५; कनिंघम, भारहुत, प्लेट, १५.
३४. महावग्ग, ५।२।२.
३५. वही, ५।१।२९.
३६. वही, ५/२/४.
३७. वही, ५/२/२३; ५/८.
३८. वही, ५/७/१.
३९. वही, ५।८।३.
४०. चुल्लवग्ग, ५।२।१, मज्झिम-निकाय ३, पृ० २४३; अंगुत्तर-निकाय, ३ पृ० १६; जातक १, पृ० १३४; २, पृ० १२२, ३७३; ३, पृ० १५३, ३७७ इत्यादि; आचारंगसूत्र, २, २; १, ११— अग्रवाल, *India as known to Panini*, पृ० २३४.
४१. अंगुत्तर-निकाय, ४ पृ० १९९, २५५-५८. २६२; उदान, ५।५; जातक, १, पृ० ३५१; २ पृ० ६; ३ पृ० १५३; ४ पृ० ४२२; पाणिनि, ५/४/३०; ५/२/६८ कौटिल्य, २/११.
४२. दीघ-निकाय, १, पृ० ५१; मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३८६-८७.
४३. जातक, १, पृ० १२९. २३८, २९०; ४, पृ० ८१-८२; ६, पृ० ३३६.
४४. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० ६-७; संयुत्त-निकाय, ३, पृ० १५६, २५१-५२.
४५. वही.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४६. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० ६; अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० २३७; थेरी-गाथा, २९८.

४७. संयुत्त-निकाय, ५, पृ०, ४०७; अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३९१; ४, पृ० २८१.

४८. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० ६; संयुत्त-निकाय, ३, पृ० १५६; धम्मपद, ५४; जातक, ६, पृ० ३३६.

४९. जातक, ६, पृ० ५३०, ५३५, ५३७.

५०. जातक, ६, पृ० ३३६.

८

१. अर्थशास्त्र, १।२१.

२. *S.B.E.*, २२, पृ० ९२.

३. अष्टाध्यायी, ३।३।९९; भाष्य २।१५२—समजन्ति तस्यां समज्या।

४. चुल्लवग्ग, ५।२।६; ६।२।७.

५. जातक, २, पृ० २५३.

६. जातक, ३, पृ० १६०; ४, पृ० ८१-८२; ६, पृ० २७७.

७. जातक, ३, पृ० ४६-४९, २५३; ५, पृ० २८२; ६, पृ० २७५.

८. मुखर्जी, राधाकुमुद—अशोक, पृ० १२९.

९. ब्रह्मजाल-सुत्त।

१०. जातक, ४, पृ० ३२४.

११. जातक, १, पृ० ४३०.

१२. जातक, २, पृ० २६७; ३, १९८.

१३. जातक, १, पृ० २८४.

१४. जातक, १, पृ० २८३.

१५. जातक, २, पृ० २४८; ३, पृ० ४३५.

१६. *S. B. E.*, २२, पृ० ९४-९५.

१७. जातक, १, पृ० २५०.

१८. जातक, ६, पृ० ३२८.

१९. वही.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२०. *S.B.E.*, २२, पृ० ९२.
२१. जातक, ३, पृ० ४३४.
२२. जातक, ६, पृ० ३२९.
२३. दीघ-निकाय, १, पृ० ४७.
२४. जातक, १, पृ० ५०८.
२५. जातक, १, पृ० ४९९.
२६. जातक, १, पृ० ४३३.
२७. जातक, १, पृ० ४९९.
२८. वही.
२९. जातक, १, पृ० ४३३.
३०. वही.
३१. अष्टाध्यायी, ६।२।६४; २।२।९६; ३।३।१०९.
३२. The Woman and Tree or Salabhanijika in Indian Literature and Art, *Acta Orientalia*, VI.
३३. जातक, १, पृ० ५२.
३४. *Acta Orientalia*, VII, पृ० २०१.
३५. जातक, १, पृ० ४८९—ये भुय्येन मनुस्सा सुरं पिवन्ति सुराछणो येव किर सो ।
३६. वही.
३७. जातक, १, पृ० ३६२.
३८. जातक, ४, पृ० ११६.
३९. जातक, २, पृ० ४६-४९; ४, पृ० ९१; ५, पृ० २८६.
४०. सांख्यायन-गृह्यसूत्र, ४।१३.
४१. पारस्कर-गृह्यसूत्र, २।१७।९.

९

१. जातक, ६, पृ० ३२.
२. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३७१; सुत्त-निपात, ३।७.
३. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १३३-३४.
४. दुराजान-जातक (६४); संजीव-जातक (१५०).

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

५. मुखर्जी, राधा कुमुद—*Ancient Indian Education*. पृ० ४४३.
६. वही, पृ० ४५२.
७. चुल्लवग्ग, ६।५, ६।१७.
८. वही, ५।२८.
९. वही ५।११.
१०. जातक, ३, पृ० १५८.
११. जातक, १, पृ० २७२, २८५, ४०९; २, पृ० ८५, ८७; ४, पृ० ५०, २२४; ५, पृ० १२७, २६३.
१२. जातक, ३, पृ० २३८; ५, पृ० १७७, २४७.
१३. जातक, ४, पृ० ३१६; ६, पृ० ३४७.
१४. जातक, ४, पृ० ३९२.
१५. जातक, ३, पृ० ११५.
१६. अल्तेकर, अ० स०—प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, परिच्छेद-५.
१७. जातक, ४, पृ० ९६ (संख्या-४५६).
१८. अल्तेकर, अ० स०—प्रा० भा० शिक्षण पद्धति, परिच्छेद-५.
१९. जातक, १, पृ० २१७-१८.
२०. जातक, ५, पृ० ४५७.
२१. मुखर्जी, राधा कुमुद—*Ancient Indian Education*, पृ० ४८२.
२२. चित्त-संभूत-जा० (४९८).
२३. जातक, १, पृ० २७२, २८५; ४, पृ० ५०, २२४.
२४. मिलिन्द-पञ्हो, ६।२.
२५. जातक, ४, पृ० २२४.
२६. जातक, ५, पृ० २६३.
२७. जातक, ३, पृ० २३८; ५, पृ० २४७.
२८. जातक, ५, पृ० १२७.
२९. मुखर्जी, राधा कुमुद— *Ancient Indian Education*, पृ० १७३-७५.
३०. जातक, १, पृ० २५९; ४, पृ० ३३.
३१. मिलिन्द-पञ्हो, १।२२.
३२. जातक, १, पृ० ४६३.
३३. उदाहरणार्थ, जातक १, पृ० ३००-२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३४. जातक, ३, पृ० १८.
३५. मुखर्जी, राधा कुमुद— *Ancient Indian Education.* पृ० १६५-६७.
३६. वही, पृ० २३१-३३.
३७. विनय, १।७७; ४।१२८. मुखर्जी—वही.
३८. चुल्लवग्ग, ५।२८.
३९. जातक, ६. पृ० २२, ४२७.
४०. अल्तेकर, अ० स०—प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, परिशिष्ट-४.
४१. वही, तथा महावग्ग, ८।१।६, जातक, ८०, १८५.
४२. मज्झिम-निकाय १, पृ० ८५, अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० २८१.
४३. जातक, ६, पृ० ४२७.

१०

१. Barth—*Religions of India,* पृ० ४०-४१.
२. *Cambridge History of India* १, पृ० १५०.
३. दीघ-निकाय, १, पृ० ४७-४९; मज्झिम-निकाय १, १९८, २५०; २, २; सुत्त-निपात, ३।६.
४. महावग्ग, १।५।७.
५. महावग्ग, १।६।१०-२९; आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० ५.
६. महावग्ग, १।७.
७. वही, १।९.
८. वही, १।१०.
९. आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध-धर्म-दर्शन; पृ० ५.
१०. महावग्ग, १।१५।१.
११. वही, १।२०।१७-२४.
१२. वही, १।२१-२२.
१३. वही, १।२२.
१४. वही, १।२३।१.
१५. वही, १।२३।२-१०.
१६. वही, १।३४।१-४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७. महावग्ग, १/२४/५.
१८. वही, १/२४/६-७.
१९. वही, १/२५-५३.
२०. वही, १/५४/१.
२१. *Dictionary of Pali Proper Names*, १, पृ० ७९९; २, पृ० ७२२.
२२. संयुत्त-निकाय १, पृ० १७२; सुत्त-निपात, १/४; यह ग्राम दक्षिणागिरि के निकट था।
२३. *Dictionary af Pali Proper Names*, २, पृ० ७२२.
२४. दीघ-निकाय, म, पृ० ८१.
२५. *Dictionary of Pali Proper Names*, ३, पृ० ९४३,
२६. वही, १, पृ० ८५६.
२७. चुल्लवग्ग, ६/४/९; जातक, १/९२.
२८. *Dictionary of Pali Proper Names*, १, पृ० ७९९.
२९. वही, २, पृ० ११०८.
३०. अंगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९; संयुत्त-निकाय-अट्ठकथा २, पृ० ४५.
३१. मज्झिम-निकाय, १, पृ० १३-१६; ३, पृ० ४६-६१; २४८-५२,
३२. *Dictionary of Pali Proper Names*, २, पृ० १११५.
३३. संयुत्त-निकाय, ५, पृ० १५९-६१.
३४. *Dictionary of Pali Proper Names*, २, पृ० ५४१.
३५. महावग्ग, १/२३/६-१०.
३६. अंगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९.
३७. *Dictionary of Pali Proper Names*, २, पृ० ४७६-७७.
३८. चुल्लवग्ग, ११/१.
३९. महावंश, ३.
४०. महावग्ग, १।५८, ५९, ७२.
४१. चुल्लवग्ग, ७/४/१,३; लक्खण-जातक (११); सिगाल-जातक (११३); विरोचन-जातक (१४३).
४२. चुल्लवग्ग, ७/३/१.
४३. वही, ७/३/६-९; कालबाहु-जातक (३२९).
४४. चुल्लवग्ग, ७/३/११-१२; कालबाहु-जातक (३२९); चुल्लधम्मपात-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातक (३५८)
४५. दीघ-निकाय, १, पृ० १११-१२.
४६. वही, पृ० १२९-३१.
४७. सुत्त-निपात, १/४.
४८. मणिसूकर-जातक (२८५)
४९. जातक, ५, पृ० २६२-६३.
५०. महापरिनिब्बाण-सुत्त ।
५१. राहुल सांकृत्यायन—बुद्धचर्या, पृ० ५०९-१०.
५२. चुल्लवग्ग, ११/१; दीपवंश, ५/४-५.
५३. दीपवंश, ४/१३-१४; ५/१४-१५.
५४. चुल्लवग्ग, १२; दीपवंश, ४-५.
५५. महावग्ग, ५/१३/१२; राहुल सांकृत्यायन—मज्झिम-निकाय, 'भूमिका' देखिए ।
५६. आचार्य नरेन्द्रदेव—बुद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० १५.
५७. दीघनिकाय—पोट्ठपाद-सुत्त ।
५८. दीघ-निकाय, १, पृ० ८३-८४; २, पृ० ३०४.
५९. दीघ-निकाय—महानिदानसुत्त; मज्झिम-निकाय—महातण्हासंखय-सुत्त ।
६०. उपाध्याय बलदेव,—भारतीय दर्शन, पृ० १८०.
६१. दीघ-निकाय—महासतिपट्ठान-सुत्त; संयुत्त-निकाय, ५, पृ० ८-१०.
६२. दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त ।
६३. आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २४.
६४. दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त ।

११

१. Shah, C. J.—*Jainism in Northern India*, पृ० २-३.
२. Stevenson, Mrs Sinclair—*The Heart of Jainism*, पृ० ५१-५७.
३. वही, पृ० ५१.
४. *Cambridge History of India*, १, पृ० १५३.
५. Stevenson, Mrs. Sinclair—*The Heart of Jainism*, पृ० ४८-४९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६. वही, पृ० १५७.
७. दीघ-निकाय, १, पृ० ४९, ५७-५८; मज्झिम-निकाय, १, पृ० १९८.
८. *SBE*, २२, पृ० ७९-८७.
९. वही, पृ० २६३.
१०. Stevenson, Mrs. Sinclair—*The Heart of Jainism*, पृ० ६५.
११. *SBE*, २२, पृ० २६४.
१२. Law, B. C.—*Mahavira : His Life and Teachings*, पृ० ७.
१३. *Cambridge History of India*, १, पृ० १६३.
१४. अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १५०.
१५. जकोबी (*Jacobi*)—जैन-सूत्र, पृ० ११.
१६. दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त ; सुत्त-निपात—सभिय-सुत्त ।
१७. मज्झिम-निकाय—उपालि-सुत्त ।
१८. भगवती-सूत्र १५/५४७.
१९. वही, १५/५४९-५३; महावीर तथा मक्खलि गोसाल के अंतिम मिलन तथा दोनों के संघर्ष के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas.*
२०. वही.
२१. औपपातिक-सूत्र, १२, २७, ३०; आवश्यक-सूत्र, पृ० ६८४, ६८७, परिशिष्टपर्वन्, ४.
२२. परिशिष्टपर्वन् ६/३४.
२३. वही, ५/२०८.
२४. उमास्वाति के जीवन-चरित के लिए देखिए पं० सुखलाल जी—तत्त्वार्थ-सूत्र की भूमिका, पृ० १-३६.
२५. प्रो० उपाध्ये—प्रवचनसार की भूमिका, पृ० २२.
२६. *Cambridge History of India*, १, पृ० १५४.
२७. वही, पृ० १५४-५५.
२८. दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त ।
२९. तत्त्वार्थ-सूत्र १/१—सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।
३०. उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० १६७.
३१. तत्त्वार्थ-सूत्र, ८/५-१६.
३२. जैनी, जे० आर०—*Outlines of Jainism*, पृ० १-६.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

३३. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० १८० ८१.
३४. तत्त्वार्थ-सूत्र, १०/२-३; उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० १७०,
३५. नाहर तथा घोष—*An Epitome of Jainism*, पृ० ६२०-४६.
३६. स्याद्वाद की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए नाहर तथा घोष—*An Epitome of Jainism*, Chap. VIII.
३७. उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० १५३.
३८. नाहर तथा घोष—*An Epitome of Jainism*, Chap. II.
३९. Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० २७-३०.
४०. वही पृ० ३९-४१.
४१. वही, पृ० २४-२६.
४२. महावग्ग, १/६/७-९; मज्झिम-निकाय, १ पृ० १७०-१; जातक, १, पृ० ८१; *Dictionary of Pali Proper Names*, १, पृ० ३८५.
४३. मज्झिम-निकाय, १. पृ० ३१.
४४. विनय, ४/७७.
४५. Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० ९५.
४६. चुल्लवग्ग, ११/१/१.
४७. जातक, ६, पृ० २२२-२३.
४८. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३१.
४९. महावंशटीका, १, पृ० १९०; दिव्यावदान, पृ० ३७०-७१.
५०. संयुत्त-निकाय, ५, पृ० १४, ७६; जातक, १, पृ० ४९३; Norman—*Dhammapada Commentary*, १, पृ० ३०९, २, पृ० ५५-६, *JBORS*, १२, पृ० ५४.
५१. दीघ-निकाय, १, पृ० ५३-५४ (सामञ्ञफल-सुत्त)
५२. जातक, ६, पृ० २२५.
५३. वही, पृ० २३४.
५४. दीघ-निकाय, १ पृ० ५२-५३ (सामञ्ञफल-सुत्त)
५५. Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas* Chap. V.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५६. दीघनिकाय, १ पृ० ५८ (सामञ्ञफल-सुत्त)
५७. वही, पृ० ५८-५९.
५८. वही, पृ० ५५.

१२

१. दीघ-निकाय, १, पृ० १४१-४२.
२. जातक, १, पृ० ३३५.
३. खुद्दकपाठ. पृ० ३.
४. औपपातिक-सूत्र, ४९.
५. हॉपकिन्स (Hopkins)—*Religions of India*, Chap. IX; लाहा, वि० च०—(Law, B. C.)—*India as Described in Early Texts of Buddhism and Jainism*, पृ० २०२.
६. संयुत्त-निकाय, १, पृ० ७६—अस्समेधं पुरिसमेधं सम्मापासं वाजपेय्यं।
निरग्गलं महारम्भा न ते होन्ति महप्फला।।
अंगुत्तरनिकाय, २, पृ० ४२. सुत्तनिपात, २/७/२०.
७. दीघ-निकाय, १, पृ० १२७—तेन खो पन समयेन कूटदन्तस्स ब्राह्मणस्स महायञ्ञो उपक्खटो होति, सत्त च उसभ-सतानि सत्त च वच्छतर-सतानि सत्त च वच्छतरि-सतानि सत्त च अज-सतानि सत्त च उरभ-सतानि थूनूपनीतानि होन्ति यञ्ञत्थाय।
८. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ४१.
९. संयुत्त-निकाय, १, पृ० ७६.
१०. दीघ-निकाय, १, पृ० १२७; संयुत्त-निकाय, १, पृ० ७६; अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ४१; २, पृ० ४२, २०७; जातक, ३, पृ० ४४.
११. जातक, ३, पृ० ४४.
१२. दीघ-निकाय, १, पृ० १४२; अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ४२.
१३. *SBE*, १३, पृ० १२४.
१४. सुत्त-निपात, २/७/२०-२२.
१५. दीघ-निकाय, १, पृ० २३९; मज्झिम-निकाय, २, पृ० २००; अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ६१.
१६. दीघ-निकाय, पृ० २३७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७. वही, पृ० २४४-४५.

१८. लाहा, वि० च० (Law, B. C.)—*India as Described in Early texts of Buddhisns and Jainism*, पृ० १९५; ब्रुआ, बे० का०—*Indian Historical Quarterly*, १९२७, पृ० २५१.

१९. अग्रवाल, वासुदेव शरण—*India as Known to Panini*, पृ० ३५८-६०.

२०. महावग्ग, १।५.

२१. महावग्ग, १।५।४; दीघ-निकाय, १, पृ० २४४; संयुत्त-निकाय, १, पृ० २१९, अंगुत्तर-निकाय, २ पृ० २१; *the Book of Kindred Sayings*, १ पृ० २८१, २९८.

२२. दीघ-निकाय—महागोविंद-सुत्त; मज्झिम-निकाय १, पृ० २५१; संयुत्त-निकाय, ४, पृ० १०१-२; अंगुत्तर-निकाय ३, पृ० ३७०, ४ पृ० १६२.

२३. *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० २८५-३०३; जातक ६, पृ० १२७, २८९.

२४. धम्मपद, ३०.

२५. जातक ३, पृ० १४६.

२६. जातक २, पृ० १२३-२४; दधिवाहन-जातक (१८६); खरपुत्त-जातक (३८६); जातक (४०९); ६, पृ० ७२-७३.

२७. सुत्त-निपात, २/१२/३-४; विमानवत्थु, ४/१०/१०; *The Book of Kindred Sayings*, १. पृ० २९५.

२८. जातक, २, पृ० १०१, ३१२; ४, पृ० ६३; ५, पृ० ३८३.

२९. जातक, ३, पृ० १२९.

३०. *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० ३०१-२; जातक १, पृ० २०४; ६, पृ० १२७, २७८, २८९.

३१. दीघ-निकाय, २, पृ० २२०; जातक ६, पृ० ९७, १२६.

३२. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ४०, विमानवत्थु, १/१३/६, १/१४/६, २/१/१, २/१/१४; ४/२/२; ४/१०/१०; जातक ६, पृ० १३२, २७८.

३३. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० १०३; जातक ३, पृ० २२२; ४, पृ० ६३; ६, पृ० १२६.

३४. जातक, २, पृ० २५४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३५. नागुण्ठ-जातक (१४४); सन्थव-जातक (१६२)
३६. *SBE*, १३, पृ० १२९, १३२; सुत्त-निपात, ३/४.
३७. थेरीगाथा, ८७; जातक १, पृ० ४७४; ६, पृ० १, २६३.
३८. जातक, १, पृ० ३३१.
३९. जातक, ३, पृ० २६२.
४०. वही, पृ० २६१.
४१. जातक, ६, पृ० ३५.
४२. जातक, ४, पृ० १७.
४३. जातक, ५, पृ० ३९२.
४४. महावग्ग, १/६/३०; दीघ-निकाय, २, पृ० २२०-२१; मज्झिम॰ निकाय, २, पृ० १९४.
४५. *Vedic Index*, २, पृ० १८२; तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३/१२/३/१; शतपथ-ब्राह्मण १४/८/५/१; कौषीतकि-उपनिषद् ९५; केन-उपनिषद् १५.
४६. *St. Petersberg Dictionary*.
४७. ऋग्वेद, ४/३/१३.
४८. *Pali Text Society* (*P. T. S.*) *Dictionary*.
४९. वही.
५०. विमानवत्थु-अट्ठकथा, २२४, ३२३.
५१. संयुत्त-निकाय १, पृ० २०५; पेतवत्थु-अट्ठकथा ११३, १३९.
५२. पेतवत्थु, ४/१.
५३. वही, ४/११; चरियापिटक ४/३.
५४. दीघ-निकाय १, पृ० ९५.
५५. उदान, ४/४.
५६. जातक, १, पृ० ३९५-९६.
५७. जातक, २, पृ० १२७, एक अन्य यक्षनगर एक द्वीप में बसा था। (जातक, १, पृ० २४०).
५८. जातक, १, पृ० ३९९.
५९. जातक, २, पृ० १६.
६०. संयुत्त-निकाय, १, पृ० २०६-७; उदान १/७; सुत्त-निपात, २/५; *SBE*, ३०, पृ० २१९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६१. जातक, १, पृ० ४२५; ४, पृ० ११५.
६२. वही; *SBE*, २२, पृ० ९२.
६३. संयुत्त-निकाय, १, पृ० २०६-८; सुत्त-निपात, २/५; उदान, १/७; *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० २६२-६६.
६४. संयुत्त-निकाय, १, पृ० २०७; सुत्त-निपात २/५.
६५. वही.
६६. संयुत्त-निकाय, १, पृ० २०६.
६७. वही, पृ० २०८.
६८. उदान, १/७.
६९. ऋग्वेद, १/३२.
७०. महाभारत—सभापर्व ११/९.
७१. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७२.
७२. उदाहरणार्थ, जातक, १, पृ० ४९८; २, पृ० १४९.
७३. *SBE*, २९, पृ० १२८-२९; २०१-२; ३२८-३०.
७४. जातक, १, पृ० ४९८.
७५. *Vedic Index*, १, पृ० ३३.
७६. वही, पृ० ४३.
७७. वही, पृ० ५३१.
७८. अथर्ववेद, ५/४/३.
७९. ऐतरेय-ब्राह्मण, ७/३०-३३; ८/१६.
८०. छांदोग्य-उपनिषद्, ८/५/३; कौषीतकि-उपनिषद् १/३.
८१. मार्शल (Marshall), सर जॉन—*Mohenjodaro and Indus Civilisation*, पृ० ६३-६५.
८२. १९४३, *Indian Historical Quarterly*.
८३. जातक, १, पृ० २५९, ३२८, ४१२, ४२५; २, पृ० ४४०.
८४. वही, १, पृ० १८०; २, पृ० २०६, ३७२-७३; ३, पृ० १३७, २०७; ४, पृ० ११; ५, पृ० ३७८.
८५. शिला-लेख, ३, ४; स्तम्भ-लेख, २, ७.
८६. शिला-लेख, ६.
८७. शिला-लेख, १०.
८८. जातक, ४, पृ० ११,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

८९. स्तम्भ-लेख, ३.
९०. जातक, २, पृ० १३२.
९१. जातक, ३, पृ० ८७-८९.
९२. जातक, पृ० १५८, २१२.
९३. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७९; इतिवुत्तक, १०६.
९४. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७०.
९५. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ४-५, ७०; जातक, १, पृ० २०२.
९६. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७०; इतिवुत्तक, १०६.
९७. जातक, १, पृ० २०२.
९८. जातक, ३, पृ० १२०,
९९. अंगुत्तर-निकाय, ४, ३९३-९४; सुत्त-निपात, २०.
१००. जातक, ४, पृ० २३७.
१०१. वही, १ पृ० २२७.
१०२. वही, ४ पृ० २२७.
१०३. अंगुत्तर-निकाय, ४ पृ० २४१; थेरगाथा, ५३२.
१०४. जातक, ४ पृ० ६२-६३; ५ पृ० ३८३,
१०५. वही, १ पृ० २३१, २६२; ५ पृ० ३८३; ३ पृ० १२९—सो चतुसु-नगरद्वारेसु नगरमज्झे निवेसनद्वारेति छसु ठानसु दानसालाकारेत्वा दानं पवत्तेसि ।
१०६. अंगुत्तर-निकाय, ४ पृ० ६२; ५ पृ० २७१.
१०७. वही
१०८. जातक ४, पृ० ६३; ५ पृ० ३८३-८७.

१३

१. ऋग्वेद, १०/१३६/२,४.
२. वही, ८/३/९; ८/६/१८; १०/७२/७.
३. ऐतरेय-ब्राह्मण, ७/१३.
४. बृहदारण्यक उपनिषद् ४/५/२.
५. मुण्डक-उपनिषद् १/२/११; ३/२/६.
६. जाबाल-उपनिषद्, ४—ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनी भवेद् बनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वावनाद्वा । यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ।

७. दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त.
८. मज्झिम-निकाय, १, पृ० २४०, २६७; २, पृ० २११
९. संयुत्त-निकाय, ५, पृ० २५०-५१.
१०. थेरीगाथा, ३०१.
११. सुत्त-निपात, १/३—खग्गविषाण-सुत्त.
१२. दीघ-निकाय, १, पृ० ७८.
१३. *SBE*, १३, पृ० १२०-२४.
१४. *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० १८५.
१५. अंगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९.
१६. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ९२.
१७. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३८४.
१८. वही, २, पृ० ४८.
१९. दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त.
२०. महावस्तु, ३/३१०/५.
२१. जैन-सूत्र, २, पृ० ३९.
२२. *SBE*, २२, पृ० ९२-९३.
२३. संयुत्त-निकाय, १, पृ० ७८; उदान, ६/२.
२४. जैन-सूत्र, भाग १, पृ० १२८.
२५. दत्त, सुकुमार—*Early Buddhist Monachism*, पृ० ४५.
२६. *Rhys Davids, T. W.—Buddhist India*, पृ० १६१.
२७. महावग्ग, १/१५/१; *SBE*, १३, पृ० ११८.
२८. महावग्ग, १/२३/१.
२९. जातक, २, पृ० ७२.
३०. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४८३-८९.
३१. अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० २२९-३०.
३२. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २९-३९, १७६.
३३. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १.
३४. वही, पृ० २२-२९.
३५. अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १९३-९५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३६. धम्मपद-टीका, १, पृ० ८८-९०.

३७. *Theragatha*.

३८. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३३९.

३९. संयुत्त-निकाय, ५, पृ० ७३-७५.

४०. अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १९६.

४१. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० २५१, ४०३.

४२. वही, २, पृ० २२.

४३. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४९७-५०१.

४४. संयुत्त-निकाय, ५, पृ० ११.

४५. दीघ-निकाय, ३, पृ० ३६-५७.

४६. दीघ-निकाय, ३, पृ० १२-३५.

४७. जातक, २, पृ० २१६.

४८. धम्मपद-टीका, १, पृ० ८८-९०.

४९. सुत्त-निपात, ४/८ (पसूर-सुत्त)

५०. मज्झिम-निकाय, १, पृ० १७५.

५१. वही, पृ० ३३९.

५२. दीघ-निकाय, १, पृ० १७८-२०३.

५३. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० २०७, २०९.

५४. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० १००-१.

५५. दीघ-निकाय, ३, पृ० १-२.

५६. थेरगाथा.

५७. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ५०२-१३.

५८. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० २३०-३१; अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३५६.

५९. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४८१-८३; संयुत्त-निकाय, ३, पृ० २५७-६३; ४, पृ० ३९५-४०३.

६०. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २९, १७६.

६१. मज्झिम-निकाय, २, पृ० ४०-४४.

६२. मज्झिम-निकाय, २, पृ० २९-३९; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २९, १७६.

६३. महावग्ग, १/२३/१.

६४. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ३७१-७२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६५. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ५१३-२४.
६६. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० ४०३; सुत्त-निपात, ३/६.
६७. अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १२१.
६८. थेरगाथा.
६९. *The Book of Gradual Sayings*, पृ० १६७.
७०. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० २६१, ४०३.
७१. संयुत्त-निकाय, ३, पृ० २३८-४०.
७२. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ३६९-७१.
७३. दीघ-निकाय, २, पृ० १४८-५३.
७४. संयुत्त-निकाय, २, पृ० ११९-२८.
७५. जातक, १, पृ०, ३३३, ३६१, ३७३; २, पृ० १३१, १४५, २३२, २६२, २६९; ३, पृ० ४५, इत्यादि.
७६. जातक, २, पृ० ५७, ७२, ८५; ३, पृ० ६४, ११०, ११९, २२८-९, २४९, ३०८; ५, पृ० १५२, १९३ इत्यादि.
७७. जातक, २, पृ० २६९, ४३७; ३, पृ० १४७; ५, पृ० ३१२-१३.
७८. जातक, २, पृ० २६९; ३, पृ० १४७; ५, पृ० ३१२-१३.
७९. बौधायन-धर्मसूत्र, २/१०/२-६.
८०. *SBE*, २, पृ० १५३; १५, पृ० ४०, ४६.
८१. मनुस्मृति, ६/१, ३४-३७; ८७-८८.
८२. दीघ-निकाय, २, पृ० ११६-१७; मज्झिम-निकाय, ३, पृ० १३.
८३. दीघ-निकाय, २, पृ० ११६; मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४९७.
८४. मज्झिम निकाय २, पृ० १-२२; २९-३९.
८५. अंगुत्तर-निकाय २, पृ० २९, १७६.
८६. दीघ-निकाय, १, पृ० ४९; २, पृ० ११६-१७.
८७. दीघ-निकाय, २, पृ० ११६-१७-महापरिनिब्बाण-सुत्त ।
८८. वही.
८९. वही; अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १९६.
९०. मज्झिम-निकाय, १, पृ० १६६-६७.
९१. दीघ-निकाय, २, पृ० ११७-१९.
९२. दीघ-निकाय, महालि-सुत्त, पाथिक-सुत्त ।
९३. वही, १ पृ० २११; २. पृ० ८१; ३, पृ० ९९.
९४. महावग्ग, ९/१/१; दीघ-निकाय—सोणदण्ड-सुत्त ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९५. दीघ-निकाय—पोट्ठपाद-सुत्त, महापदान-सुत्त ।

९६. वही, २, पृ० ११९.

९७. थेरगाथा, १२७; उदान ३/३; जातक, १, पृ० ५०६.

९८. जातक, ३, पृ० ३७.

९९. सुत्त-निपात, २/२/१.

१००. *SBE.*, २, पृ० १५५, १५७; मनु-स्मृति, ६/१३; वैखानस-धर्म-प्रश्न, २/४/५; २/५/५.

१०१. जातक. १, पृ० ३३३, ४०६.

१०२. दीघ-निकाय, १, पृ० १६६-६७, ३ पृ० ४१—अजिनानि पि धारेति, अजिनक्खिपमपि धारेति,····केसकम्बलमपि धारेति, वालकम्बलमपि धारेति, उलूकपक्खमपि धारेति ।

१०३. वही.

१०४. जातक, १, पृ० ३०४; ५, पृ० १३२; ६, पृ० २१, ७३.

१०५. मनु-स्मृति, ६/४४; वैखानस-धर्म-प्रश्न, ३/६.

१०६. जातक, १, पृ० ३०४; ५, पृ० १३२.

१०७. मनु-स्मृति, ६/६; वैखानस-धर्म-प्रश्न ३/५/७.

१०८. बौधायन-धर्म-सूत्र २/१०/११; वैखानस-धर्म-प्रश्न २/६.

१०९. दीघ-निकाय, कस्सपसीहनाद-सुत्त ।

११०. मज्झिम-निकाय,—महासीहनाद-सुत्त ।

१११. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०६-७.

११२. जातक, १, पृ० ३९०.

११३. मनु-स्मृति, ६/२३.

११४. नङ्गुट्ठ-जातक (१४४); दद्दभ-जातक, (३२२); सेतकेतु-जातक, (३७७), उद्दालक-जातक (४८७).

११५. *SBE.*, १३, पृ० १२४.

११६. वही, पृ० १३०.

११७. उदान, १/९.

११८. थेरीगाथा, २३६-३७.

११९. *SBE.*, १३ पृ० १३२.

१२०. बरुआ, वेनी मा०—*Gaya and Bodha-Gaya*, १, पृ० ९९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४

१. *SBE*, २२, Introduction.
२. वही,
३. *SBE*, २२, पृ० १४६-४७.
४. वही, पृ० २०४-५.
५. वही, पृ० १४९.
६. वही, पृ० १४६-४७.
७. वही, पृ० २०६-९.
८. वही.
९. वही.
१०. वही, पृ० १८३-८४.
११. वही.
१२. वही, पृ० १२६.
१३. वही, पृ० १३६.
१४. वही.
१५. वही, पृ० १३७.
१६. वही, पृ० १२०, १३०-३१.
१७. वही, पृ० १२६-२७-
१८. वही, पृ० १२२-२४.
१९. वही, पृ० १२०-२१.
२०. वही, पृ० १३२-३३.
२१. वही, पृ० १७२.
२२. वही, पृ० १७१.
२३. वही, पृ० १६३.
२४. वही, पृ० १५९.
२५. वही, पृ० १५७-५९.
२६. वही, पृ० ६८-६९, ७१, १५७.
२७. वही, पृ० ६७-६८.
२८. वही, पृ० १५७.
२९. वही, पृ० १५९.
३०. वही, पृ० १६३-६४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३१. *SBE*, २२, पृ० १६३-६५
३२. वही, पृ० १५८, १६०-६१, १६३.
३३. वही, पृ० १६२.
३४. वही.
३५. वही, पृ० १६०, १७०.
३६. वही, पृ० १६६-६७.
३७. वही.
३८. वही.
३९. वही, पृ० १६६-६७
४०. वही.
४१. वही, पृ० १६७, १६९-७०.
४२. Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० ११६.
४३. उवासगदसाओ (होर्नल द्वारा सम्पादित), ७/२१४.
४४. जातक, ६, पृ० २२५; सुमंगल-विलासिनी, १ पृ० १४२-४४; दिव्यावदान, पृ० १६५; भगवती-सूत्र, १५/५४१.
४५. Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० १०९.
४६. धम्मपद-टीका, २, पृ० ५२.

१५

१. *SBE*, १३, पृ० १७३.
२. मज्झिम-निकाय; १ पृ० २६९, २७४, ३४६, ४४०; ३ पृ० १०५-६.
३. संयुत्त-निकाय; ३ पृ० ११६; ४ पृ० ११७; थेरगाथा, ५९—सद्धयाहं पब्बजितो, अरञ्ञे मे कुटिका कता; उदान, ४/२; जातक, १ पृ० १०६; ४ पृ० १३०-३१ इत्यादि।
४. वही तथा थेरगाथा, ८८७, ९२५.
५. चुल्लवग्ग, ८/६/२.
६. थेरीगाथा.
७. तक्कारिय-जातक (४८१)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८. चुल्लवग्ग, ६/४/८-१०.
९. वही तथा महावग्ग, १/२२/१६-१७.
१०. चुल्लवग्ग, ६/५/१.
११. वही, ६/११/१-२.
१२. वही, ४/४/४.
१३. *SBE*, १३, पृ० १९६.
१४. जातक. ३, पृ० १७०-७१.
१५. *SBE*, १३, पृ० १९३-९४, २३०.
१६. वही, पृ० १९९, २३०.
१७. वही, पृ० १९६.
१८. वही, पृ० २३०.
१९. साम-जातक (५४०). ६, पृ० ६९.
२०. *SBE*, १३, पृ० २०९-१०.
२१. वही, पृ० २१०, २३०, आरंभिक युग में एकमात्र पुत्र को उपसम्पदा की दीक्षा देने के उदाहरण मिलते हैं, जैसे वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश तथा कुरु के श्रेष्ठिपुत्र राष्ट्रपाल (रट्ठपाल); परन्तु जब इसका निषेध हो गया तो भिक्षुधर्म स्वीकार करने के लिए माता-पिता की अनुमति अनिवार्य हो गई। मिलिन्द-पञ्हो (१/२६) के अनुसार नागसेन ने अपने माता-पिता की अनुमति लेकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।
२२. *SBE*, १३, पृ० ११४.
२३. वही, पृ० १७७-७८.
२४. महावग्ग, १/५०.
२५. *SBE*, १३, पृ० ४६, २०३, २३०; मिलिन्द-पञ्हो, १/२८.
२६. जातक, १, पृ० १०६—पब्बजित्वा उपसम्पदाय पञ्चवसिको हुत्वा।
२७. आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र २/९/२१/१; गौतम-धर्म-सूत्र ३/२; वशिष्ठ-धर्म-सूत्र ७/१-२; वैखानस-धर्म-प्रश्न, १/१/१३.
२८. वैखानस-धर्म-प्रश्न, ३/५/१३.
२९. वही, २/६/२.
३०. *SBE*, २, पृ० १५३; १५, पृ० २७३; मनु-स्मृति, २/२४७-४८; ६/२.
३१. वैखानस-धर्म-प्रश्न, १/२६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३२. *SBE*, १३, पृ० २११.
३३. वही, पृ० १८७-८८.
३४. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३९१, ४९४; सुत्त-निपात, ३/६.
३५. *SBE*, १३, पृ० १९०-९१.
३६. वही, पृ० १८९-९०.
३७. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० १२७.
३८. वही, पृ० २४७.
३९. सुत्त-निपात, १/४.
४०. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० १८१.
४१. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० २४७—परिपुण्णं पन ते, भिक्खु पत्त-चीवरं ति ?
४२. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ८२-८३.
४३. वही.
४४. *SBE*, १३, पृ० ११५.
४५. वही, पृ० १६९-७०.
४६. महावग्ग, १/३१/२; ९/४/१.
४७. *SBE*, १३, पृ० २३०.
४८. महावग्ग, ५/१३/११-१२.
४९. राहुल सांकृत्यायन— विनय-पिटक, पृ० ५३७.
५०. *SBE*, १३, पृ० १५४.
५१. मनु-स्मृति, २/१४१.
५२. संयुत्त-निकाय, १, पृ० १७७; अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० ३४७.
५३. जातक, ५, पृ० ४५७; ६, पृ० १७८.
५४. महावस्तु-टीका, ५/४/२.
५५. *SBE*, १३, पृ० २११.
५६. मनु-स्मृति, २/१७६-७९.
५७. वैखानस-धर्म-प्रश्न, १/२.
५८. *SBE*, १३, पृ० १५४-५५.
५९. बालोदक-जातक (१८३).
६०. गुण-जातक (१५७).
६१. मिलिन्द-पञ्हो, १/२९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६२. बालोदक-जातक (१८३).
६३. *SBE*, १३, पृ० १६२.
६४. वही, पृ० १५९.
६५. वही, पृ० १६१.
६६. वही, पृ० १६२.
६७. वही, पृ० १६५-६८.
६८. वही.
६९. चुल्लवग्ग, ६/६/३.
७०. महावग्ग, ५/४/२.
७१. *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० २२६.
७२. धम्मपद, १०९.
७३. मनु-स्मृति, २/१२१.
७४. मनु-स्मृति, २/१५०.
७५. अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २२-२४.
७६. चुल्लवग्ग, ६/१३/१.
७७. चुल्लवग्ग, ६/१३/२.
७८. महावग्ग, ५/४/२.
७९. तित्तिर-जातक (३७).
८०. तंडुलनालि-जातक (५); तित्तिर-जातक (३७).
८१. चुल्लवग्ग, १०/३/१.
८२. *SBE*, १३, पृ० ५६.
८३. चुल्लवग्ग, ६/६/५.
८४. वही.
८५. वही.
८६. तिपल्लत्थ-मिग-जातक (१६).
८७. वही, जातक, १, पृ० १६२.
८८. चुल्लवग्ग, ६/११/१.
८९. *SBE*, १३, पृ० ३२७.
९०. महावग्ग, १०/४/२-५; मज्झिम-निकाय, ३, पृ० १५५-५७.
९१. महावग्ग, ८/२६.
९२. महावग्ग, ८/२७/५.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

९३. चुल्लवग्ग, ४/१४/१.
९४. चुल्लवग्ग, ४/४/८.
९५. चुल्लवग्ग, ६/११/१.
९६. अंगुत्तर-निकाय, १, पृ० ४६-४८.
९७. *SBE*, १३, पृ० ५२.
९८. चुल्लवग्ग, ६/१५/२.
९९. *SBE*, १३, पृ० १८.
१००. महावग्ग, ८/३०.
१०१. महावग्ग, ८/२७/५.
१०२. चुल्लवग्ग, ५/२/२.
१०३. *SBE*, १३, पृ० ६६.
१०४. *Vedic Index*, १, पृ० १०४.
१०५. Copleston, R. S.—*Buddhism*, पृ० २६८.
१०६. महावग्ग, ५/१/२९.
१०७. वही, ५/१.
१०८. वही, ५/२/१-३.
१०९. वही, ५/६/४.
११०. वही, ५/१२.
१११. वही, ५/६/२.
११२. वही, ५/६/१.
११३. वही, ५/५.
११४. वही, ५/२/३; ५/८.
११५. *SBE*, १३, पृ० १७३.
११६. *SBE*, १३, पृ० १२५.
११७. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० २७३—पाद-टिप्पणी.
११८. वही, पृ० २७४.
११९. वही.
१२०. महावग्ग, ८/३/१.
१२१. वही, ८/१०/१.
१२२. वही.
१२३. वही, ८/१३/४-५.
१२४. *SBE*, १३, पृ० ४४-४५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१२५. महावग्ग, ८/१५/१५; ८/२०/२.
१२६. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० २८३—पाद-टिप्पणी.
१२७. वही, पृ० २८५.
१२८. महावग्ग, ८/२५/४.
१२९. वही, ८/५/२; ८/६/१, ८/८; ८/९/१.
१३०. वही, ८/९/२.
१३१. चुल्लवग्ग, ५/२/१.
१३२. चुल्लवग्ग, ५/२/५.
१३३. महावग्ग, ६/११/२.
१३४. वही, ६/१२.
१३५. वही, ६/१२/४.
१३६. वही, ६/२३.
१३७. वही, ६/४/१.
१३८. वही, ६/१६/३.
१३९. वही, ६/२४.
१४०. वही, ६/२५.
१४१. वही, ६/२.
१४२. चुल्लवग्ग, १०/१/६; अंगुत्तर निकाय, ४, पृ० २७८.
१४३. महावग्ग, १/६०.
१४४. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ५३७.
१४५. वही, पृ० ५४०.
१४६. भिक्खुणी-पातिमोक्ख—संघादिसेसधम्म ।
१४७. चुल्लवग्ग, १०/२५/१.
१४८. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० १२५.
१४९. मोर-जातक (१५९).
१५०. मज्झिम-निकाय—रट्ठपाल-सुत्त ।
१५१. वातमिग-जातक (१४).
१५२. मज्झिम-निकाय—रट्ठपाल-सुत्त ।
१५३. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ३८४, ५३९.
१५४. वही, पृ० ३८४, ३८६, ३८८.
१५५. *SBE*, १३, पृ० १७८, १८१-८२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५६. चुल्लवग्ग, १२/१/१; दीपवंश, ४/४७-४९; ५/१६-१८.
१५७. चुल्लवग्ग, १२/१/१.
१५८. चक्कवाक-जातक (४५१).
१५९. महावग्ग, ५/१०; चुल्लवग्ग, ६/२/३-५.
१६०. चुल्लवग्ग, १/१३.
१६१. वही, १०/९/१.
१६२. महावग्ग, ८/५/१; चुल्लवग्ग, ४/९.
१६३. चुल्लवग्ग, ६/११/२.
१६४. वही, ६/२१/२.
१६५. वही, ६/२१/३.
१६६. वही, ६/५/२.
१६७. महावग्ग, ८/५.
१६८. वही, ८/६.
१६९. वही, ८/८; चुल्लवग्ग, ६/२१/२.
१७०. महावग्ग, ८/९/१, चुल्लवग्ग, ६/२१/२.
१७१. चुल्लवग्ग, ६/२१/३.
१७२. चुल्लवग्ग, ४/४/३.
१७३. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ४७४.
१७४. वही, पृ० ४७५.
१७५. चुल्लवग्ग, ६/२१/३.
१७६. वही.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थ-सूची

मूल-ग्रन्थ

बौद्ध तथा जैन

अंगुत्तर-निकाय	सम्पादित—	आर० मॉरिस (R. Morris) तथा इ० हार्डी (E. Hardy), पी० टी० एस०, लंदन १८८३-१९००.
	अनूदित—	अनूदित-वुडबार्ड (Woodward, F. L.) तथा हेयर (Hare E. M.) पी० टी० एस०, लंदन।
आचारंग-सूत्र	अनूदित—	जकोबी (Jacobi) *SBE*, जिल्द २२ (जैनसूत्र), ऑक्सफोर्ड, १८८४.
इतिवुत्तक	सम्पादित—	विंडिश, ई० (Windisch, E.) ऑक्सफोर्ड, १९४८.
उदान	,,	महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.
कल्प-सूत्र	अनूदित—	जकोबी, (Jacobi) *SBE*, जिल्द, २२.
खुद्दकपाठ	सम्पादित—	हेमर स्मिथ (Helmer Smith), पी० टी० एस०, लंदन, १९१५.
जातक	,,	फाउसबोल्ल (Fausboll), ट्रबनर ऐण्ड कं० लि०, लंदन, १८७७-९६.
	अनूदित—	कॉवेल्ल (Cowell), कैंब्रिज यूनिवर्सिटी, १८९५-१९०७.
थेरगाथा	सम्पादित—	ओल्डेनबर्ग (Oldenberg, H.), पी० टी० एस०, लंदन, १८८३.
थेरीगाथा	,,	भागवत, एन० के०, बम्बई, १९३७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

	अनूदित—	मिसेज रीज़ डेविड्स (Mrs. Rhys Davids), पी० टी० एस०, लंदन, १९०९.
दीघ-निकाय	सम्पादित—	रीज़ डेविड्स (Rhys Davids, T. W.) और ई० कॉर्पेन्टर (Carpenter, E.), पी० टी० एस०, लंदन, १८९०-१९११, हिन्दी, अनूदित—महापंडित राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६.
दीपवंश	सम्पादित—	अनूदित—ओल्डेन बर्ग, विलियम्स ऐण्ड नॉर्गेट, लंदन-एडिनबर्ग, १८७९
धम्मपद	सम्पादित—	महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.
निदान कथा	,,	भागवत, एन० के०, बंबई, १९३५.
पुग्गल-पञ्ञत्ति	,,	लैंड्सबर्ग, जी० (Landsberg, G.) और मिसेज रीज डेविड्स, पी० टी० एस०, लंदन, १९१४.
पेतवत्थु	,,	महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.
भगवती-सूत्र	,,	अभयदेव की टीका सहित, बंबई, १९१८-२१.
मज्झिम-निकाय	,,	ट्रेंकनर, बी० (Trenckner, V.) और चामर्स, आर० (Chalmers, R.) पी० टी० एस०, लंदन, १९४८-५१.
महावंश	,,	तथा अनूदित—गाइगर (Geiger), पी० टी० एस०, लंदन, १९१२.
महावस्तु	,,	सेनार्ट (Senart,E.) पेरिस, १८८२-९७.
मिलिन्दपञ्हो	,,	वाडेकर, आर० डी०, बंबई, १९४०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विनय-पिटक अनूदित— रीज़ डेविड्स, टी० डब्ल्यू० और ओल्डेनबर्ग (Oldenberg), *SBE*, जिल्द-१३, १७, २० ऑक्सफोर्ड, १८८१-८५.
हिन्दी–महापंडित राहुल सांकृत्यायन, महाबोधिसभा, सारनाथ, १९३५.

विमानवत्थु सम्पादित— महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.

संयुत्त-निकाय ,, लियोन फियर, एम० (Leon Fear, M.) और मिसेज रीज़ डेविड्स (Rhys Davids), पी० टी० एस० लंदन, १८८४-१९०४,

सुत्त-निपात ,, एन्डरसन (Anderson) और स्मिथ (Smith), पी० टी० एस, लंदन, १९४८. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.

संस्कृत-ब्राह्मण-ग्रंथ

अथर्ववेद सम्पादित— श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९३८.

आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र *SBE*, जिल्द-३०.

,, धर्मसूत्र सम्पादित— बूलर (Buhler), बंबई संस्कृत सिरीज, १९३२. अनुवाद, *SBE*, जिल्द-२.

आश्वलायन गृह्यसूत्र *SBE*, जिल्द २९.

ऋग्वेद सम्पादित— श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९४०.

ऐतरेय आरण्यक ,, कीथ (Keith), ऑक्सफोर्ड १९०९

,, ब्राह्मण ,, मार्टिन हॉग (Martin Haug), बंबई, १८६३.

कठोपनिषद् ,, वसु, बी० डी०, इलाहाबाद, १९११

कौटिलीय अर्थशास्त्र ,, अनूदित-शामशास्त्री, मैसूर-१९१५, १९२३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोभिल-गृह्यसूत्र	सम्पादित—	तारकालंकार, कलकत्ता, १९०८.
गौतम-धर्मसूत्र	,,	श्री निवासाचार्य, मैसूर, १९१७.
छांदोग्य-उपनिषद्	,,	वीर राघवाचार्य, तिरुपति, चित्तूर, १९५२, अनु—ए० बी० ई०, जिल्द-१
तैत्तिरीय आरण्यक	,,	आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, १९२६.
तैत्तिरीय ब्राह्मण	,,	शामशास्त्री, मैसूर, १९२१.
तैत्तिरीय संहिता	,,	श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९४५.
नारद-स्मृति		*SBE*, जिल्द-३३.
पंचविंश ब्राह्मण	अनूदित—	गैलन्ड (Galand, W.) कलकत्ता, १९३१.
पाणिनीय अष्टाध्यायी	,,	वसु, एस० सी०, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद तथा पाणिनि ऑफिस, वाराणसी, १८९१-९८.
पातञ्जल महाभाष्य	सम्पादित—	कीलहॉर्न (Keilhorn), बंबई, १८९२-१९०९.
पारस्कर-गृह्यसूत्र	,,	बाक्रे, एम० जी०, बंबई, १९१७.
बृहदारण्यक-उपनिषद्	,,	वीर राघवाचार्य, तिरुपति, १९५४. अनु०-*SBE*, जिल्द-१५.
बौधायन-गृह्यसूत्र	,,	शामशास्त्री, मैसूर, १९२०.
बौधायन-धर्मसूत्र	,,	श्री निवासाचार्य, वही, १९०७.
मनु-स्मृति	,,	पाठक, गणेशदत्त, वाराणसी, १९४८
महाभारत	,,	चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९-३३.
मुण्डक-उपनिषद्	अनूदित—	वसु, बी० डी०, इलाहाबाद, १९११. *SBE*, जिल्द-१५.
मैत्रायणी संहिता	सम्पादित—	श्रोएडेर, एल० वी० (Schroeder, L. V.), लाइपज़िग, १९२३.
वशिष्ठ-धर्मसूत्र		*SBE*, जिल्द-१४.
विष्णु-धर्मसूत्र		वही, जिल्द-७.
वैखानस-धर्मप्रश्न	सम्पादित—	गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम, १९२३.
शतपथ-ब्राह्मण	,,	वेबर (Weber) लाइपज़िग, १९२४
सांख्यायन-गृह्यसूत्र		*SBE*, जिल्द-१९.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिरण्यकेशिन् गृह्यसूत्र सम्पादित— कीर्टसे, जे० (Kirtse, J.), वियना, १८८९.

सहायक ग्रंथ

अग्रवाल, वासुदेव शरण — *India as Known to Panini*, लखनऊ, १९५३.

अल्तेकर, अ० स० — *Education in Ancient India*, वाराणसी, १९४४.

वही — *The Position of Women in Hindu Civilisation*, का० वि० वि० १९३८.

काणे, पा० वे० — *History of Dharmasastra*, पूना, १९३०.

आचार्य नरेन्द्र देव — बुद्ध धर्म-दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, १९५६.

उपाध्याय, बलदेव — भारतीय दर्शन, वाराणसी, १९४५.

ओल्डेनबर्ग, एच० — *The Buddha*, विलियम्स ऐण्ड नॉर्गेट, लंदन ऐण्ड एडिनबर्ग, १८८२

कनिंघम — *The Stupa of Bharhut*.

काणे, महामहोपण्याय, पा० वे० — *History of Dharmasastra*, पूना, १९४१.

कॉपलेस्टोन, आर० एस० — *Buddhism*, W. B. & Co. Plymouth, १९०८.

चनन, डी० आर० — *Slavery in Ancient India*, बंबई, १९६०.

जैनी, जे० आर० — *Outlines of Jainism*, कैम्ब्रिज, १९४०.

टॉमस, ई० जे० — *Early Buddhist Scriptures*, लंदन १९३५.

वही — *History of Buddhist Thought*, लंदन, १९५३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दत्त, नलिनाक्ष	*Early Monastic Buddhism*, कलकत्ता, १९४१.
दत्त, सुकुमार	*Early Buddhist Monachism*, लंदन और न्यूयार्क, १९२४.
नाहर और घोष	*An Epitome of Jainism*, कलकत्ता, १९१७.
बशाम, ए० एल० (Basham, A. L.)	*History and Doctrine of the Ajivikas*, लंदन, १९५१.
बील	*Life of Hiuen-Tsang*, लंदन, १९११.
मललसेकेर	*Dictionary of Pali Proper Names*, लंदन, १९३७-३८.
मुखर्जी, राधाकुमुद	*Ancient Indian Education*, लंदन, १९५१.
मेहता, रतिलाल	*Pre-Buddhist India*, बम्बई, १९३९.
मैकडोनल और कीथ	*Vedic Index*, लंदन, १९१२.
मोतीचन्द्र	प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, प्रयाग, सं० २००७.
राहुल सांकृत्यायन	बुद्ध-चर्या, सारनाथ, १९५२.
रीज़ डेविड्स, टी०, डब्ल्यू (Rhys Davids, T. W.)	*Pali Dictionary*, लंदन, १९२१.
वही	*Buddhist India*, कलकत्ता, १९५०.
रैपसन, इ० जे० (Rapson, E. J.)	*Cambridge History of India*, vol. I. कैंब्रिज, १९३५.
विंटरनिट्ज़ (Winternitz, M.)	*A History of Indian Literature*, जिल्द-२. अनूदित, केतकर (श्रीमती) तथा कोह्न (Kohn) कलकत्ता, १९३३. मोतीलाल बनारसीदास, १९५९.
शर्मा, रामशरण	*The Sudras in Ancient India.*

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाह, चिमनलाल — *Jainism in Northern India*, लौंगमैन्स ग्रीन ऐण्ड कं०-१९३२.

स्टीवेंशन, सिंक्लेयर (Stevenson, Sinclair) — The Heart of Jainism, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१५.

सिंह, मदन मोहन — *Life in N. E. India in Pre-Mauryan Times*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणी

अक्रियावाद—१२०.

अक्रोध—१३५,

अंग—९९, १२७, १५२.

अंगति, विदेहराज—११९.

अंगविद्या-पाठक—२०.

अगिच्छगोत्त—१४८.

अंगुलिमाल—४४, १६३.

अंगुत्तर-निकाय—१, १४, २०, ३४, ४०, ४१, ५५, १०७, १३७-३८, १४४, १५२, १८०.

अग्नि, अग्नि-पूजा—६८, ७९, १२५, १२९-३०, १४४, १४७, १५३, २००; अग्निगृह—१९४; अग्नि-होत्र—१२९, १५२-५३; अग्न्य-गार—१२९; गृहाग्नि— १२६; पंचाग्नि—१५२.

अग्रश्रावक—१०२.

अचेल, अचेलक—१४७, १५२.

अचेल काश्यप—१६८.

अजकलापक, चैत्य—१३२; यक्ष—१३१-३२.

अजघातक—६८.

अजन्ता—६.

अजपाल—२०.

अजविषाणवद्धिक—८०.

अजातशत्रु, मगधराज—५, ४६, ६१, ८५, १०५-६, ११२, ११४.

अजित, परिव्राजक—१४८.

अजित केशकम्बली (ल), धर्माचार्य १२१, १४७.

अजितनाथ, तीर्थंकर—१११.

अजिन—२३६-३७.

अजीव—११८.

अज्ञान—११०.

अट्ठक, ऋषि—१२८.

अट्ठकथा—१८३.

अड्ढकासिक (अद्धी)—७५.

अंडमान—१३४.

अत्रि-स्मृति—२९.

अथर्ववेद—५४, ७२, ९७, १२३-२४, १३०, १३४.

अधोवस्त्र—७७, ७८, ११४, १५७, १९८.

अध्यात्म, आध्यात्मिक—८९-९९, ९८, १०७-८, ११६, १४०-४३, १४५-४६, १५०, १६३, १६५, १६९-७१, १८६, १९२, १९५-९६.

अनन्त-चतुष्टय—११६.

अनन्तनाथ, तीर्थंकर—१११.

अनाथपिंडिक, श्रेष्ठि—२३, १०१, १३५, १६२.

अनुगार, परिव्राजक—१४८.

अनुरुद्ध—९०. १०६, १७८.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनुलेपन, आलेपन, विलेपन—८०, १०५, १३९, १७०, १८५.
अनुलोम—४४.
अनुसारि, कृष्णानुसारि—१८५.
अनेकान्तवाद—११७.
अनोपम—४२.
अन्तरवासक—७७, १८५.
अन्तराय—११६.
अन्तेवासी—७२, ८९, १६६.
अन्त्येष्टि—१४७,
अन्नप्राशन—७१.
अन्नभार, परिव्राजक—१४८.
अपरिग्रह—११४, १३५, १५४-५५.
अभिचार—१२३.
अभिज्ञा—१०८.
अभिधम्म-पिटक—४.
अभिनन्दन, तीर्थंकर—१११.
अभियांत्रिक—९५.
अभिलेख—३ (बैराट), ६९, ८२, १२७, १३६.
अम्बपाली (आम्रपाली), गणिका—६१-६३, १०१.
अम्बपालीवन—१०१.
अम्बष्ठ (अम्बट्ठ), ब्राह्मण—११, २०, १३१; जाति—१९.
अम्बसण्डा—२०१.
अमराविक्खेपिक—११७.
अमित्ततापना—४९.
अमेरिका—३१.
अयोध्या—१११.
अरण्य—१४१-४३, १५०-५१, १६०; अरञ्ञ—२३९.
अरण्य-वास—१४५, १४७, १४९, १६०-६१, १६६, १८७.
अरण्यानी—१३३.
अरनाथ—१११.
अर्जुन—५३, १३२.
अर्थशास्त्र—७, २४, ३१, ३२, ५६, ७६, ९५, १३३, कौटिल्य भी देखिये।
अरिन्दम, राजा—२१.
अलकप्पा—१०५.
अल्पमात्र-भाजक—१९८.
अल्पासिनव—१३६.
अवदानशतक—८६.
अवधूत—१४४.
अवन्ती—६, १०७.
अविद्या—१०९.
अविरुद्धक—१४७.
अविहिंसा—१३५-३६.
अशोक—२, ३, ६, १०, ६९, ८२, १०६, ११८, १३५-३६, १४५, १४७, २००.
अश्वत्थ—९८, १३३.
अश्वलायन—१२.
अश्वसेन, काशिराज—१११.
अष्टका—१५२.
अष्टाध्यायी—७, ४४, ६५, ७५, १२८, पाणिनि भी देखिए।
अष्टापद—३०.
असत्य—१६७, १७२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

असिलक्षण-पाठक—२०.
असुर—५२.
अस्तेय—११४, १३५, १५४-५५.
अस्थि-स्तूप—१०५-६.
अहि, नाग—१३२.
अहिगुण्डिक—२५.
अहिपारक, सेनापति—४४.
अहिंसा—७१, ११४, १३५, १५४-५५, १५९, १६३, १८२, १८४.
आचरिय, आचार्य—२७, ६९, ८९, ९० ९४, ११४, १२०, १४२, १४७-४८, १६९-७०, १७२, १९२-९३, १९६; दिशाप्रमुख आचार्य—१८, ५३, ८९-९२; आचरियधन, आचरियभाग—१७०.
आचार मार्ग—१०८, १२२.
आचारंग-सूत्र—७, ११२, ११५.
आजीविक, आजीविक मत—१११-१३, ११६, ११८-२०, १२२, १४२, १४५, १४७, १५२, १५९.
आजीविकसेय्य, आजीविक सभा—१५९.
आत्मा—१२४-२५, १३१, १३३, १४१; आत्म-जिज्ञासा—१४५; आत्मज्ञान—१२४, १९२; आत्मदमन—१३५, १४३; आत्मसंयम—१४३, १५५; आत्म-निरीक्षण—१८०.
आदिनाथ—१११.
आनन्द—३, ९०, १०२, १०६, १८७, १८९.
आपस्तम्ब, गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र—१७, १९, २४, २७, ४१, ५०-५१, ६०, ६९-७१, १२५, १४९.
आभूषण—७७, ८०, १८५, १८९.
आयुर्वेद—९५.
आयुष्य—११६.
आरण्यक—१२४.
आराम—१६१, १८०, १८३; संघाराम—९०, १६१-६२, १७१, १८२, १९७.
आराम-गोपक—२५, आरामिक, आरामिक प्रेषक—१९७.
आर्जव—१३५.
आर्य—६८, ८२, ८४, ९७, १२६, १३२-३३.
आर्य सत्य—१०८-१०.
आर्य अष्टांगिक मार्ग—१०९-१०, १५४.
आर्य देवता—१२८-३०, १३२; वैदिक आर्य—१४०.
आर्ष विवाह—५१-५२.
आलार कालाम—१८, ९९.
आवास ९१, १५०, १५६, १६०, १६२, १७२, १७४, १७८, १८०- ८१, १८८, १९४-९५, १९७.
आवेल—१९४.
आशा—१३०.
आषाढ़—८४; आषाढ़ पूर्णिमा—१३५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्रम—८९, ९०, ९१, ११८, १२९, १४१-४२, १५०, १५२, १६०.

आश्रम-व्यवस्था—९०, १४०-४१, १४९, १६५, १६७, १७०, सिद्धान्त १७१, १७३.

आश्रव—११०, ११८.

आश्वलायन—४५, ५१.

आषाढ़—८४, ९९; आषाढ़ पूर्णिमा —१३५.

आसन—१५, ८३, १७४-७५, १७८.

आसुर विवाह—५१-५२,

इतिवुत्तक—१३७.

इद्धिमंत—१०२, १४४.

इन्द्र, देवराज—६८, ८२, ८८, १२८-२९, १३२, २००.

इन्द्रकूट, यक्ष—१३१-३२; पर्वत— १३२.

इन्द्रिय-निग्रह—१३५, १५५.

इशान, देवता—१२८.

इसिदासी, भिक्षुणी—४१, ४६, १८९.

इस्सथ—९५.

इहलोक—१२१, १३६.

ईरान—४५.

ईर्ष्या—१३६.

उग्गत शरीर, महासाल ब्राह्मण— १२७.

उग्गहमाण, परिव्राजक—१४८.

उच्छेद, उच्छेदवाद—१२१.

उज्जैनी—६१, ९१, १०७.

उड्डीयान (कश्मीर)—७६.

उत्तरच्छत—१९३.

उत्तर प्रदेश—९८, १००, १०७, ११८.

उत्तरासंग, उत्तरीय—७७, ७८, ११४-१५, १५७, १६१, १६८, १८४.

उत्सर्ग—६९.

उत्सव—७३, ७४, १४५; लोक-महोत्सव—८२-८८.

उत्तिय, परिव्राजक—११८.

उदकसाटि—१८४.

उदमन्थ, उदकमन्थ—६६.

उदयन, वत्सराज—५३.

उदान—१४, १५३, २१६.

उदान-अट्ठकथा—१३२.

उदायि, राजा—११४.

उदायि, भिक्षु—१७५.

उदीच्य ब्राह्मण—११.

उदेन चैत्य—१५०.

उद्दालक, तापस—३६.

उद्रक रामपुत्र—९९.

उद्यान-क्रीड़ा—२७.

उद्यान-गृह—१५६.

उपक, आजीविक—११८.

उपट्ठानशाला—१७७.

उपज्झाय, उपाध्याय—१०३, १६९, १७०, १७१-७३, १७७, १९२-९३, १९६, १९८.

उपतिस्स—१४८.

उपदेश, धर्मोपदेश—२, ३, ८९, १००, ११५, १४१, १४७, १६२-६३,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१६८, १७८, १८२, १९२; धर्मोपदेशक—१५९.
उपनयन—४८, ९३, ९४, २१२.
उपनिषद्—८, २१, ३१, ५६, ९४, ९८, ११०, ११४, ११७, १२४, १२५, १३०, १३४, १३८, १४०-१४२.
उपशम—१०८.
उपसम्पदा—१६०, १६४-६९, १७२, १७६, १९६, २४०.
उपहार—१९४.
उपाकर्म—६९.
उपादान (कामोपादान, शीलोपादान आदि)—१०९.
उपालि, थेर—१३, ९०, १०२, १०६.
उपालि, निगण्ठ—११३.
उपासक—९१, ११२, ११३, ११९, १२५, १३०, १३७, १५०, १५७-५८, १६१, १७४, १८४-८६, १९१, १९३, १९७-९८.
उपासना—१२४, १३०.
उपोसथ—१९६.
उमास्वाति—११४, ११६, २२७.
उरच्छद—१९४.
उरूवेला—९८, ९९, १००, १४४, १५०, १५२
उष्णीष—७९, १३१, १८१-८२, २२०.
उषवदात, क्षत्रप—३२.
उसीरध्वज—१०७.
उवासगदसाओ—७, १५९, २०५.
ऊन—७५-७७.
ऋग्वेद—७, ११, ४०, ४४, ४५, ६८, ७२, ८९, ९७, १३०, १३२-३३, १४०.
ऋषभदेव—१११.
ऋषि—१२८, १४३.
ऋषिगिरि—१४९.
ऋषिपत्तन (सारनाथ)—९९, १६८.
एकनाल, ब्राह्मणग्राम—१०१, २०१.
एकसाटिक—१४७.
एकांतवास—१६०-६१.
एरियन—७७.
एशिया, द० पू०—१३४.
ऐतरेय (ब्राह्मण वर्ग)—१२८.
ऐतरेय ब्राह्मण—४०, १४०.
ऐंद्रजालिक—८३.
ओदन—६५.
ओरब्भिक—२९.
ओल्डेनबर्ग, ह०—३.
ओवत्तिका—८०.
औपपातिक-सूत्र—७, १४७.
औरस-पुत्र—५५.
औषधि—७३.
कंगू—६५.
कंचुक—७८.
कजंगल (कंकजोल), निगम—६, १०७.
कटाहक, दास—३४, ३७.
कण्व—८९.
कत्तिका—८५.
कतृयन, परिव्राजक—१४८.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कथावाचन—१८.
कन्द-मूल—१५०.
कन्दरक, परिव्राजक—१४८.
कपल्ल—१८५.
कपास—७५, ७७.
कपिलवस्तु—६१, ८६, ९०, १००, १०५, १४९.
कम्बल—२३६-३७.
कम्बिल—१७८.
कम्मन्तदास—३७.
कम्मार, कर्मार—२५, ९५.
कर्णपूर—१८५.
कर्म—१२०, १२२, १२४-२५.
कर्मकांड—१२३, सम्यक् कर्म-१०९.
वासनाजन्य कर्म—११५-१६.
कर्मकर, कम्मकार—२४, ३४.
कर्मशाला—३७.
कर्षणोत्सव—८८.
कल्प—९४, ११९; महाकल्प-१२०.
कल्पसूत्र—७, २१, ११२, ११५.
कलाबुक—७८.
कलाये—६५.
कलिवर्ज्य—५८.
कलिंग—८२, १११, ११४.
कसिभारद्वाज, (काशिभारद्वाज) महासाल ब्राह्मण—१९, १०४, १६७.
काक—७०.
काठक-संहिता—७२.
काठक—उपनिषद्-१२५.
कात्यायन—७.
काना, स्त्री—५९.
कामसूत्र—४९.
कायूर—८०.
कारिका—९५.
कार्त्तिक, मास—८४-८६.
कार्षापण, पण—२३, ३१, ३२, ३८, ५२, ६२-६४, ७६, ९३, १६२, १९३, २०७, २१२.
काय (सप्तकाय)—१२१.
कालकण्णि—७७.
कालशिला—१४९.
कालाशोक—१०६.
कालिय—८०, १८५.
काली, गणिका—६२, ६३.
कालीन—१९३.
काशी, काशिराज्य—४६, ४७, ७५, ८१; काशिराज-८७, १११.
काश्यप-बंधु (उरूवेल, नादि, गया)—९९, १२७, १४४, १५२-५३
काश्यप, अचेल—१६८.
काँस्य—१५८, १८५.
काषाय वस्त्र—१५१, १५७-५८, १६६, १६८.
किसा गौतमी—१८९.
कीटागिरि—१०३, १९३-९४.
कुक्कुट—७०-७१.
कुटिया, पर्णकुटी—१६१, २३९.
कुटुम्ब-व्यवस्था—१८८.
कुटुम्बिक—८, २२, ७१
कुण्डग्राम—११२.
कुण्डल—८०, १८५.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कुण्डलकेशा, भिक्षुणी—४६.
कुण्डलिय—१४८.
कुन्तक, भिक्षु—१९१.
कुन्थुनाथ, तीर्थंकर—१११.
कुन्दकुन्दाचार्य—११४.
कुवेर—१३१.
कुम्भकार—२२, २५, १४४; राज-कुम्भकार—३०; कुम्भकारग्राम—२५, २०५.
कुम्भदासी—३७.
कुम्मास (कुल्मास)—६६.
कुरु राज्य—१०७, २४०.
कुरु-धर्म—१३५.
कुल—२०९-१०.
कुषाण—१३५.
कुष्ठ—१६३.
कुस (कुश), राजकुमार—५७.
कुसिनारा (कुशीनगर)—१०५.
कूटदन्त, ब्राह्मण—१५, १८, १९, १०४, २२९.
कूटागारशाला—९०, १०६, १५०.
कृच्छ्र प्रायश्चित—६०.
कृषि, कृषक—२०, ९५.
कृष्ण वासुदेव—१२८, १३२.
कृष्णानुसारि—८०.
केणिय जटिल—१९.
केशिन्—११५.
कैवल्य—१११-१३, ११६.
कोकनुद, परिव्राजक—१४८.
कोकालिक—१६१.
कोटिग्राम—६२.
कोटुम्बर—७६.
कोलत्थि (कुलथी)—६५.
कोलितग्राम—१०२.
कोलिय—१०६, २०८.
कोशल—११, १६, १८, १९, ३६, ४४, ४६, ८९, ९१, १०१, १०३, १०५, १२७, १९०.
कौटिल्य—२४, ३१, ३५, ३७, ३८, ४८, ५५-५७, ७५, ८२, ९१.
कौमुदी-महोत्सव (कत्तिका) ८४-८६.
कौशाम्बी—८, ६१, १०१, १०७, १४९.
क्रियावाद—११६.
क्रोध—१३६.
क्रौंच—७०
क्लीब—१७६.
क्षत्रिय—७, ११-१६, २०-२४, २८, ४३, ४४, ४८, ७०, ७२-७४, ९१-९३, १२३, १२७, १४५-४६, २००.
क्षत्रियग्राम—१२.
क्षमा—१३५.
क्षात्र-विवाह—५३
क्षौम—७३, ७७, १८५.
खर, यक्ष—१३१-३२.
खलबद्धक—७९.
खाण्डववन—१३२.
खाद्य-भाजक—१९८.
खान-पान—१७, ६५-७४.
खानुमत, ग्राम—१८, २०१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खारवेल, राजा—८२
खीर—६६.
खुद्दक-निकाय—६६.
गग्गरा-पोक्खरणी (गर्गरा- पुष्करणी) —१०१, १५०.
गणधर—१२२.
गणना—९५.
गणिका—९, ६१-६४.
गणित—९५.
गंध—१०५, १६७, १७०; गंधक—८०; पत्रगंध, पुष्पगंध, फलगंध, मूलगंध—८०
गंधर्व, गंधब्ब—२५
गया, गयासीस—६९, ९९, १०३, ११८, १३१-३२, १५२.
गर्भाधान—४८.
गवाम्पति—९९.
गवेधूका—६५.
गहपति—१४, १६, २२-२४.
गांधर्व विवाह—५१, ५३.
गांधार—७६.
गायक-वादक—२२.
गार्ग्य, गोत्र—४४.
गार्हस्थ्य—१११, गृहस्थ-आश्रम देखिये।
गीता—११४.
गुड़—६६, ६७.
गुण कस्सप, आजीविक—११८-२०.
गुणस्थान—११६.
गुप्तचर—१७.
गुरु—१९, २१, २८, ८९, ९०, ९२, ९४, १६५, १६९, १७०-७५, १७७; गुरु दक्षिणा—९३; गुरु-जनसेवा—१३६-३७.
गुरुकुल—८९-९२, ९५, १६९, १७१-७३.
गुहा, गुफा—१४५, १४९-५०.
गृद्ध्रकूट, पर्वत—१०१, १०४, १४९.
गृह-त्याग—१४०-४१, १४९, १५१, १६७, १७६.
गृहस्थ—६९, ७२, ७४, ७६, ७७, ७९ ९३, ९४, १०४, ११०, १२६, १२९, १३७-१४०, १४३, १४५, १५६-५७, १६६, १७२, १८१-८२, १८६-८७, १९१-९२, २१४.
गृहस्थ-आश्रम—१८, १४०, १४९, १६७, १७०, १७६.
गृह्य-संग्रह—४७.
गृह्यसूत्र—४७, ४८, ५०, ५२, ६५, ७२, ९४, १२४-२६, १२८-२९, १३३.
गैरिक, गेरुक—१४७, १८५.
गोघातक—२०, ६८, ७०.
गोघातकसूनम् ७०.
गोतमक चैत्य—१५०.
गोत्र—४३-४५, १०८, ११६, २१०.
गोध—७१.
गोधूम—६५.
गोप—२०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोपालक—२५.
गोभिल-गृह्यसूत्र—४७, १२९.
गोमांस—७०.
गोलकाल—२१२.
गोसाल—मक्खलि गोसाल देखिये
गौतम, गौतम-धर्मसूत्र— १९, २७, ४५, ४७, ७३, ८९, १४१.
गौतम (गोतम) बुद्ध—९८, १०५, १४५, १६४, २०१; बुद्ध देखिये ।
गौतम, जैन — ११२
ग्राम—१८, २२, १००, १५०-५१, १५६, १६१, १७२, १७८, १८२-८३, २०७.
ग्राह—१८६.
ग्रीष्म—१५१, १८४.
ग्रैवेयक—८०.
घी—६६, ६७, ७२, १९४.
घोषिताराम—१०१.
चतुर्थीकर्म—४८.
चतुर्महाभूत—१२१.
चतुर्वर्ण—७, ८, ११, १२.
चतुष्कर्णक—७८.
चंदन—८०, १८५; कासिक चंदन, हरिचंदन, लोहित चंदन-८१.
चन्द्रगुप्त मौर्य—८३, ९१, ९६, ११४.
चन्द्रप्रभु, तीर्थंकर—१११.
चंद्रमा—१३०.
चम्पा, नगर—८, १८, ६१, ८९ १०१, ११२, ११४, ११८, १५०.
चर्म—१५१, चर्मकार—९५, चर्मरोग —१८४-८५.
चाण्डाल (चंडाल)— १२, १६, २५-२९, ८३, ९२, १४६, २०१.
चाण्डालग्राम—१२.
चांड्य १३६.
चातुर्मास्य—८४.
चातुर्याम-संवर—११५.
चापा, भिक्षुणी—१८९.
चापाल चैत्य—१५०.
चारिका—१०४, १६१, १७२, १७८, १९५.
चार्वाक—१२१.
चिकित्सक—१७, १९, २०.
चिंतामणि विद्या—२०.
चित्रकार—९५
चित्रकूट—१४२.
चित्रलता—१२९.
चीनी—६७.
चीवर—७५, १५६-५७, १६८, १७९, १८१, १८३-८५, १९३, १९७, २४१.
चीवर प्रतिग्राहक, चीवर निदहक—१९७-९८.
चुंद कर्मारपुत्र—६८.
चुल्लवग्ग—३, ५९, ७५, ८३, ९५, १०४, १०६, १७३, १७६-७७, १७९, १९०, १९३-९४, २००.
चेत—७१.
छत्र, छाता—१५६-५७, १७०.
छन्न, भिक्षुणी—१७९.
छांदोग्य (छंदाव)—१२८.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

छांदोग्य-उपनिषद्—१४०.
छोटानागपुर—५४, ११२.
जकोबी—१११, १५४.
जटिल, तापस— ९९, १२९, १४४, १५२-५३, १६७.
जनक, राजा—८८.
जनमेजय, राजा—१३२.
जम्बुक, तापस—१५९.
जम्बुखादक, आजीविक—१४८.
जरामरण—१०९.
जरासंध, राजा—१३२.
जल की पूजा— ९०, जलाशय—२०८.
जाबालोपनिषद्—१४१, २३३.
जातक, अरक—१३८.
—, असातमन्त—१४३.
—, अहिगुण्डिक—१७७, १९१.
—, इल्लीस—६७.
—, उच्छंग—५५.
—, उद्दालक १२, ३६.
—, उम्मदन्ती ८५.
—, उरग—१३८.
—, कटाहक—३३.
—, कच्छप—४५.
—, कट्ठहारि—५३.
—, काक—१९४.
—, काम—८८
—, कुणाल—२०८.
—, कुम्भ—७३.
—, कुस—५७.
—, गोध—७१.
—, चित्तसंभूत—२७.
—, चुल्लनारद—१८६.
—, चुलसेट्ठि—३६.
—, जुण्ह—३२.
—, तक्क—३४.
—, तंडुलनालि—१७५.
—, तित्तिर—१४, १७७.
—, दस ब्राह्मण—१९.
—, दुम्मेध—४८, ८४.
—, देवधम्म—१९४,
—, धम्म—१३६.
—, नन्द—३१, ३५.
—, निग्रोधमिग—१९०.
—, पंचुपोसथ—१३५,
—, पानीय—१९४.
—, बिलारिकोसिय—१३९.
—, ब्रहाछत्त—६७.
—, मच्छ-उदान—१९३.
—, मणिसूकर—१०४.
—, महा-उम्मग—५२, ५३.
—, महाकण्ह—१९४.
—, महाजनक—२३.
—, महानारद कस्सप—११९.
—, महापदुम—१०४-५.
—, महासुतसोम—७३.
—, मातंग—१४६.
—, वेस्सन्तर—३४, ३८, ४९.
—, शिवि—७६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—, सत्तुभस्त—३१.
—, संखपाल—१३८.
—, संजीव—८५.
—, सिगाल—१६.
—, सिगालोवाद—८२.
—, सिरिकालकण्णि—७७.
—, सुसीम—८७.
—, सोणनन्द—३८.
—, सोनक—२१.
जातक—५, १८, २०, २३, २४, २६-२८, ३५, ४०, ४२-४६, ४८-५३, ५८-६०, ६२-६४, ६६, ६९-७२, ७४, ७५, ८३, ८५, ८६, ९१-९३, १०४, ११८, १३०, १३३, १३५-३९, १४४, १४७, १५०, १५२, १७४, १७७, १८५, १९१, १९४.
जाति (भव)—१०९.
जाति—११-२९, २१०; जातिवाद—७-८; बुद्ध के विचार—११-१६; आदिम जाति—५३; आर्येतर—५२, १३२-३४, १४०; हीन जातियाँ—२५-३०; जाति और विवाह—४३-४४.
जिन—११४, ११६.
जीव—१०७, ११५-१६, ११८-२०, १५८.
जीवक, राजवैद्य—६२, ९१, ९६, १००, १०४.
जीवकाम्रवन—१४९
जुजक—४९.
जूते-चप्पल—१८२-८३.
जेतवन, आराम, विहार—२३, १०१, १५०
जैन—६८, ७२, ७३, ११९, १४२, १५०; जैन-ग्रन्थ—७३, ९८, १३३; टीकाकार—१४७; न्याय—११७; मत—९, ६८, ७१, १११-१८, १२२, १५४; जैन-मन्दिर—११४; जैन-श्रमण के लिए श्रमण देखिये; जैन-संघ—११२, १५४-५९; जैन-सूत्र—७३, ७४, ८२, ८४, ११३-१४, १२४, १४५, १४७, १४९, १५५.
ज्ञत्ति-(ज्ञप्ति)—१६९, १९६
ज्ञाति—५७, ज्ञातृ— १३६.
ज्ञान—११०, १४५, १४६, १६६, १७४, १७६, १८५, १९२,१९६-९७; अनन्त-ज्ञान-११६; तत्त्व-ज्ञान—१०९, ११४, १२४, १२५.
ज्येष्ठा—४६.
ज्योतिषी— ११९.
डेड्डुभक—७८.
तक्षशिला—५, ९, २७, ८९-९६.
तगर—८०, १८५.
तच्चक—२५.
तण्डुल—६५
तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थ-निगम—११४, २२७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथागत—१००.
तन्तभण्ड, तन्तवितट्ठानम्—७५.
तन्तुवाय—२५, ७५.
तप, तापस, तपस्वी—६६, ७१-७३, ८७, ९९, १०५, १०९, १११-१२, ११५, ११८-२०, १२४, १२८, १३५, १३८-५३, १५६, १५८-६०, १८१, १८३-८४, १८६, १९२.
तमिल—१२०.
ताम्रपर्णी—१३१.
तारूक्ख—१९.
तालवृन्तक—७८.
तित्तिर-पट्टिक—८०
तिम्बरूक, परिव्राजक—१४८.
तिल, तिलकुट—६७.
तिस्स (तिष्य) कुमार—३५, ३६, १९२.
तीर्थंकर—१११.
तेदण्डिक—१४७.
तुण्डिल—६३.
तुण्णकम्मक—२९.
तृणहारक—२५.
तृष्णा—१०९, १३६.
तेदण्डिक—१४७.
तैत्तिरीय—१२८.
तैत्तिरीय-संहिता—५४.
तैल-क्वाथ—१८६.
तोदेय्य—१९.
तोरण—१५०, २२०.
त्रयोत्रिंस (त्रयस्त्रिंश), देवलोक—१२९, १३७.
त्रिपिटक—पालि पिटक देखिये
त्रिरत्न—११०.
त्रिशला, रानी—२१.
थुल्लकोट्ठित—१०७.
थूण (थानेश्वर)— ६, १०७.
थेरगाथा—२३९.
थेरवाद—२, १०३, १०६, २००.
थेरी—४१.
थेरीगाथा—४१, १४२. १५३, १८९.
दक्षिणा—६९.
दक्षिणागिरी—१०१, २२५.
दत्त, सुकुमार—१४७.
दंड—१५६-५७, १८३.
दब्ब, मल्लपुत्र—१७५, १७९.
दम—१३५.
दम्पति—४१; दाम्पत्य—५०, ५८-६०, १८९.
दया—१३६.
दशरथ—११९, १४५.
दशराजधर्म—१३५.
दस्यु—५५, ५९, ६३, ६४, १६३, १८८-८९, दस्यु वर्ण ११.
दही—६७.
दान—१२०-२१, १२७, १३५-३९, १४५, १६१-६२, १८०, १८४-८५, १९३, १९७, २०७; दान-शाला—१३८-३९; महादान—१३८-३९.
दास, दासी—३१-३९, १२७, १३९, १४६, १६४, १९२, २०७-८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दास वर्ण—११.
दिक्पाल—१४४, लोकपाल देखिये ।
दिगम्बर—११५.
दीक्षा—११८, १२२, १६०, १६२-६३, १८२, १८९-९१, १९६, २४०.
दीघनख, परिव्राजक—१४८.
दीघ-निकाय, दीर्घ-निकाय—४, १९, २०, ३८, ८२, ८५, १०५, ११५, ११७, १४२, १५०, १५२, २०१, २२९, २३६.
दीदारगंज—७६, ७८.
दीपवंश—२, ३, १०६, २००.
दीपावली—१३५.
दीर्घ मांगलिका—२६.
दु:ख, दु:खम्—१०८, १२२, १६४.
दु:ख-समुदाय, दु:ख-निरोध, दु:ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा—१०८-१०.
दुग्ध-भात—१७२, १८६.
दुर्भिक्ष—१८६, १९८.
देव, देवता—५४, ७२, ९७, १२५, १२८-२९, १३०-३४, १४५.
देवदत्त—१०३-५, १९०.
देवदह—८६.
देवदासी—३७.
देवधम्मिक—१४७.
देवनन्दा, ब्राह्मणी—२१.
देवधम्मिक—१२८.
देववतिक—१२८.
देवलोक—१२९, १३७.
देवस्थान—१५६.
दैव विवाह—५१.
द्यावापृथ्वी—८८, १३७.
द्यूत-क्रीड़ा—१९, ३०, १७०-७१.
द्रव्य—११५.
द्रोण, ब्राह्मण—१०६.
द्रौपदी—५३.
द्वादशाह यज्ञ—६९.
द्विजाति—७, १७, ४६, ४८, ५३, ५४, ७१, ७४, १२४, १२९, १४६.
द्वैधिपव्य—५४.
धनिय, ब्राह्मण—२१४.
धनुर्धारी—२०, १०४; धनुर्वेद—८३, ९२, ९५.
धम्म—३, १०२, १३६. धर्म देखिये ।
धम्मकथिक—३.
धम्मदिन्ना, भिक्षुणी—४६, १६१.
धम्मपद—१७४, धम्मपदटीका—४६.
धर्म—२, ३, १४, ४०, १०६, १८३, २७०; धर्म-कार्य—१६४; धर्मज्ञ—१७४; लोक-धर्म १२३-२४; १३५-३९; सद्धर्म (बौद्ध)—१८६; सत्यधर्म (जैन)—११४.
धर्मनाथ, तीर्थंकर—१११.
धर्मलेख—१०७, ११८, १३५-३६, १४५, १४७.
धर्मशास्त्र—७, १६, १७, २७, ४३, ४४, ४६, ४८-५३, ५५-५७,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६९, ७४, ८८, ९४, १२४, १३१, १४६, १४९-५१, १६७; धर्मशास्त्रकार—७, १९, २९, ४१, ६०.
धर्मसूत्र—७, ४७, ५०, ५२, ९३, ९४, १२४, १२९.
धान—६५.
घी—१३५.
धूतवादी—१०२.
धृतराष्ट्र—१३०.
धृति—१३५.
धोपन—८३.
नक्खत (नक्षत्र)—८३, ८४, ८८.
नगर—५, २२, २६-२९ ६१, ६८, ६९, ७६, ८४-८७, ९०, १०१, १०४, १३७, १४९-५१, १५६.
नग्निका—४७, २११.
नचिकेतोपाख्यान—१२५.
नट—२५, ८३, ८४.
नटक—२५; लंघ नटक—२५.
नन्द, राजा—५, ११४.
नन्द, दास—३५.
नन्द, गोपालक—१६८.
नन्दन—१२९.
नन्दिवर्द्धन—४६.
नन्दिय, भिक्षु—१७८.
नन्दिय, परिव्राजक—१४८.
नमिनाथ, तीर्थंकर—१११.
नय-दुर्णय—११६-१७.
नलकार—२९; राजनलकार—३०.
नवकम्मिक—९१.
नहपान, क्षत्रप—३२.
नाग, जाति—१३२-३३.
नाग, नाग-पूजा—९, ८२, १११, १३२-३४, १४४; नागपंचमी—१३३, नागदेवता—१३३, १४४; नागचैत्य—१३२; नाग-मंदिर—१३२; नागमूर्ति—१३३; नाग-यज्ञ—१३२; नागलोक—१३८.
नागसेन—१७२, २४०.
नागार्जुनी, पर्वत—१४५.
नातपुत्त—निगण्ठ देखिये.
नापित—१६, २९, ४४, १७२, २०७; राजनापित—३०.
नाम—११६.
नाम-रूप—१०९.
नारद, नारद-स्मृति—३९, ५८.
नारी-दासी—३७.
नाल, ग्राम—११८.
नालन्दा—६५, ९१, १०२, ११२, ११८, १५०.
नालागिरि—१०४.
नाविक—२९.
नास्तिक—१०४-५.
निगण्ठ (निर्ग्रन्थ)—११२, ११५, १४७, १५३, १५९.
निगण्ठ नातपुत्त—११२, १४७.
निकाय—५.
निगम—६८, ६९, १००.
निग्गाहक—१९.
निग्रोध, परिव्राजक—१४८.
निग्रोधाराम—९०.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निदान, द्वादश—१०८.
निदानकथा—२०, ८६.
नियतिवाद—११३, ११९.
नियोग—५४-५६,
निर्जरा—११८.
निरंजना (नेरञ्जरा)—९८, ९९, १५०, १५२.
निरुक्त—९४.
निर्वाण—९९, १०२, १०५-६, १०८, १११-१२ (महावीर का); ११८, १२२, १९२.
निवृत्ति-मार्ग—१८७.
निष्क—३८.
निषाद—१६, २०, २५, २९, निषाद-ग्राम—१२, नेसाद—२०१.
निस्सय—१०३.
नीवार—६५, १५०.
नृत्य-गीत—६२, ८३, ८७, १५४-५५, १७०, १९४.
नेग्रितो, आदिमजाति—१३४.
नेत्रांजन—१८५.
नेमिनाथ, तीर्थंकर—१११.
नैष्ठूर्य—१३६.
पकुध कच्चायन—१२०-२१, १४७.
पगड़ी—उष्णीष देखिये
पज्जुसन—१५५.
पंचव्रत—१५४.
पंचशिख—१२९.
पंचास्तिकाय—११४.
पञ्चौदन—५४.
पटका (फासुका)—१५४.
पटाचारा, भिक्षुणी—१८९, २११.
पटिकपुत्त, परिव्राजक—१४८.
पट्टिका—८०.
पठानकोट—७६.
पतञ्जलि, पातञ्जल महाभाष्य—७, २४, ४४, ६५, २१२.
पद्मप्रभु, तीर्थंकर—१११.
पर्जन्य—१३०.
पर्णशाला (पर्णकुटी)—१५०, १६०-६१, १९५, १९७.
परलोक—११९, १२१, १३६.
पराशर—५८.
परिचारक—१९.
परित्याग—१३५.
परिवास—१६७, १९२.
परिव्राजक—८९, १४१-४३, १४७-४९, १५०, १६७.
—, अन्यतैर्थिक—१४८, १६७.
परिशिष्टपर्वन्—११४.
पलल—६७.
पलायि, परिव्राजक—१४८.
पलासपुर (पोलासपुर)—१५९, २०५.
पवन—१७.
पवारिकाम्रवन—१५०.
पविट्ठकोलित, परिव्राजक—१४८.
पशुघातक—२९.
पशुपालक—२५.
पशुपतिनाथ—१४०.
पश्मीना (रांकवः)—७६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पसूर, परिव्राजक—१४८.
पाटलिपुत्र, नगर—२, ५, ६१, १०६, ११४, १३२; पाटलिग्राम—५, ६१.
पाखंडी—१०४-५.
पाण्डुपुत्र, आजीविक—११८-१९,
पाणिग्रहण—४९, २१२.
पाणिनि—७, २४, ४४, ४७, ५२, ६५-६७, ८२, ९१, ९५, १२८, २१२; अष्टाध्यायी भी देखिये.
पातिमोक्ख—१९६.
पादुका—८०.
पाप—११८.
पामङ्ग—८०.
पारखम—७६.
पारस्कर, पारस्कर-गृह्यसूत्र—४१, ४५, ७१, ८८.
पार्श्वनाथ, तीर्थंकर—१११, ११४-१५; पर्वत—१११.
पालि-निकाय, पालि-पिटक, त्रिपिटक, पालि-ग्रंथ, पालि-साहित्य—२-४, ६, ७, १५, १६, १८, २१-२५, २९, ३२, ३३, ३७, ४०, ४२-४४, ४६, ४७, ५०-५२, ५७, ५८, ६०, ६१, ६५-६८, ७०-७३, ७५, ७६, ८०, ८२, ८३, ८५, ८६, ८९, ९१, ९५, ९८, १०२-३, १०६-७, ११२, ११५-१६, ११८-१९, १२४-२८, १३०-३१, १३८, १४२-४४, १४६-४७, १४९-५०, १५९-६०, १६९-७०, १७७-७८, १८१, १९२, २०१.
पालिगुंठिम—७९.
पावस, ऋतु—१५१, १५५-५६.
पावा—१०५, ११२.
पांसुकूल—१५१, १८३-८४.
पिट्ठखज्जक, खाजा—६७.
पितर—७२.
पितृऋण—४१.
पिप्पलिवन—१०६.
पिलोतक, परिव्राजक—१४८.
पिष्टक (पीठा)—६७.
पिशाचिल्लिक—१४७.
पुक्कुस (पौल्कष)— १२, १६, २५, २८, २९, २०१.
पुकुस्वाति (पुक्कुसाति)—१६८.
पुटबद्धक—७९.
पुण्य—११८.
पुनर्जन्म—१०९, १२२.
पुनर्भू—५४, ५५.
पुराण—९५.
पुष्प—१६७, १७२, पुष्पमाला-१८०, १९४.
पुरुष-सूक्त—७.
पुरोहित—१८, २१, ३२, ५१, ७२, ७३, ९७, १२३, १२५-२६, १४०.
राजपुरोहित—१८, २७, ३५, ३६, ५५, ९३.
पूजा—८८, ९७.
पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप)—१२०,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४७, १५९.
पूर्णजित्—९९.
पूर्वाराम—९०.
पूवा—६६.
पूषण—२००.
पृथ्वी—८८, ९७,
पृथ्वीविजय मंत्र—२०.
पेशकार (पेसकार)—२५, २९, ७४.
पेशकारदास—३७.
पेस्स, परिव्राजक—१४८.
पैशाच विवाह—५१.
पैष्टि, सुरा—७३.
पोतलिपुत्त, परिव्राजक—१४८.
पोतलिय, परिव्राजक—१४८.
प्रजापति—१२८, १३७.
प्रज्ञा—११०.
प्रतिच्छादन—१८४.
प्रतिलोम—४४.
प्रतिष्ठान (पतिट्ठान)—६.
प्रतीत्य-समुत्पाद—१०८.
प्रत्यन्त ग्राम—१३५, प्रत्यन्त प्रदेश—१६९.
प्रभावती, राजकुमारी—१११.
प्रवचन—६, १०१-२.
प्रवचनसार—११४.
प्रवहण—८२.
प्रवाल—८०.
प्रव्रज्या— ५६, १०३, १११-१२, १४१-४३, १४५-४६, १४९, १६४-६९, १८२, १८७-९२, १९४, १९६, २०७, २३३, २३९-४०.
प्रसेनजित्— ५, ११, १६, २०, ४४, ९१, १०१, १०५, १२७, १९०.
प्राजापत्य विवाह—५१-५२.
प्रायश्चित—१७३, १९६.
प्रियंगु—८१.
प्रेत—९७, १२४, १३४.
फलगु—१५०.
फालगुन—८४.
फलभाजक—१९८.
फारुसक—१२९.
फीलवान—१०४.
फुसति, राजकुमारी—४६, ५७.
बड़ौदा—७६.
वन्ध—११८.
बनियग्राम—१२.
बराबर, पर्वत—११९, १४५, १५०.
बरुआ, वे० मा०—१५३.
बलि—८८, १२६-२७, १२९, १३१, १३३.
बशाम—१५९.
बहुकल्याण—१३६.
बहुपुत्त चैत्य—१५०.
बिन्दुसार, राजा—११९.
बिम्बादेवी—६६.
बिम्बिसार, राजा—५, ९, १८, १९, ९९, १००, ११३, ११८.
बिहार—९८, १००, १०७, ११८.
बुद्ध, गौतम—१, २, ४, ५, ८-१५, २०-२१, ३२, ३६, ५३, ६१, ६२, ६६, ६७, ७५, ७९, ८९,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९३, ९५, ९८, १००-६, ११०-१३, ११८, १२२-२३, १३२, १४४-४५, १४८, १५०, १५४, १६०, १६२-६८, १७४, १७६-७९, १८१, १८३, १८४-८६, १८८-९८, १९१-९२.

बुद्ध-जन्म की कथा— २०, संबोधि-प्राप्ति—९८, ९९, १२८; बुद्ध के धर्मोपदेश तथा धर्मप्रचार—९९-१०५; बुद्ध की हत्या के प्रयास–१०३-४; बुद्ध का मांसाहार—२१६, क्षत्रिय की श्रेष्ठता बतलाना—२०, बुद्ध पावा में–६८, राजगृह में— ५६, १००-१, १०४, श्रावस्ती में—८६; अंतिम पदयात्रा— १०१; स्तूप-निर्माण (अस्थि-स्तूप, अंगार-स्तूप, कुम्भ-स्तूप)—१०५-६.

बौद्ध ग्रन्थ, साहित्य, लेखक— ७, १२, १३, १५, १७, २०-२२, ३१, ३४, ४३, ४५-४७, ५१, ५७-६१, ६९, ७३, ७५, ८२, १३०, १३४, १४६, १५९.

बौद्ध-मत (धर्म-दर्शन)—१-४, ६, ९, १०, १४, ५६, ७१, ७२, ९७-११२, ११८, १२२, १३५, १४२, १४५, १५०, १५२-५३, १५९-६०, १६७.

बौद्ध-भिक्षु—भिक्षु देखिये ।

बौद्ध-विहार—विहार देखिये ।

बौद्ध-संघ—भिक्षु-संघ देखिये ।

बौद्ध-संगीति—२, ४, १०२, १०३, १०६, २००.

बुली—१०५.

बूलर—५.

बृहदारण्यक-उपनिषद्—४०, १२५.

बृहस्पति—२००.

बौधायन—४५-४७, ५१, १४९.

ब्रह्म—११७, १२५, १४१; ब्रह्मज्ञान—९८, १२४, १४०; ब्रह्मविद्या—९८.

ब्रह्मचर्य—६९, १०८, १४९, १५४-५५, १६७, १७०-७१, १७३, २३३.

ब्रह्मचारी—७२, ७४, १६७, १७०-७३. नैष्ठिक—१५२, १७१.

ब्रह्मदेय्य—१८.

ब्रह्मलोक—१३७-३८.

ब्रह्मसूत्र—११४.

ब्रह्मा— ९, ११, १२८; प्रजापति, सहंपति, सनत्कुमार— ९९, १२८.

ब्राह्म-विवाह—५१-५२.

ब्राह्मण—१, ७, ११, १२, २१, २३, २४, २६-२८, ३१, ३४-३६, ३८, ४३, ४४, ४६, ४८, ४९, ५२, ६८-७४, ७६, ८४, ८७-९५, ९८, १०५-६, ११८, १२१, १२३, १२७-२९, १३६, १३८-३९, १४१, १४५-४६,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२००, २१०, २१२, २१४, २१८, २२९.
ब्राह्मण-धर्म— ७, ९, १५, १८, ९७, ९८, १२२-३९, १५०, १५३.
ब्राह्मण-अतिथि—६९.
ब्राह्मण-कर्म—१८, १९-२०.
ब्राह्मण-गृहस्थ—४२, २१४.
ब्राह्मण-ग्रन्थ—१, ३१, ७२, १२४, १३०, १३४.
ब्राह्मण-ग्राम— १२, १०१-२, १०७, २०१.
ब्राह्मण तापस— ७२, ९९, १००, १३७, १५२, १५६, १६०, १६६, १९२. संन्यासी देखिये।
ब्राह्मण पुरोहित—पुरोहित देखिये।
ब्राह्मण महासाल—१९, १०४, १२५-२७, १४२.
ब्राह्मण वाचनिक—१८.
ब्राह्मण स्नातक—३२.
ब्राह्मण (ग्रन्थ)—९४.
ब्राह्मणी—५६, ५८.
भक्त (भत्त), भात—६५, ६६, १७५.
भक्त-उद्देशक—१९८.
भक्त, भक्ति-सम्प्रदाय—१२८, १६१.
भगवती-सूत्र—७, ११३, ११७.
भगवगोत्त, परिव्राजक—१४८.
भतक (भृतक)—२४.
भद्दा—१८९.
भद्रक—८०.
भद्रमुक्तक—८०, १८५.
भरत, जड़भरत—१११.
भरुकच्छ (भड़ौच)—६.
भव, भवचक्र—१०९.
भाजा—६.
भांडार, भांडागार—१९४, १९८.
भांडागारिक—३३, ३५, ३७, ४३, १९८.
भारत, भारतीय–१, ५, ६, ८, ११, १२, २३, ३१, ३२, ३५, ४५, ४६, ५४-५६, ६१, ६५-६७, ७१, ७५-७७, ७९, ८२, ८४-८६, ८८, ९१, ९३, ९७, ९८, ११४, १२४, १३२, १३४-३५, १३७, १४२, १४४-४५, १७१, १८७.
भारहुत— ५, ७६-७९, १३०-३१, १५०, १८१, २२०.
भिक्षा, भिक्षान्न— १४२, १४८, १५०-५१, १५४-५६, १५९, १६४.
भिक्षापात्र—१४४, १५८-५९, १६१, १६८, १७९, १८१, १९३.
भिक्षु—२, ४, ६, ८, ९, १४, ३२, ५६, ५८, ६६, ६८, ७२, ७३, ७५, ७६, ७९, ९०, ९१, ९५, ९९, १००, १०२, १०६-७, ११०, १२२, १३७, १४१, १४७, १४९-५१, १५४-५८, १६०-७६, १८६, २००, २४०-४१.
भिक्षु, वज्जिपुत्र—२, १०६.
भिक्षु, षड्वर्गीय—१०३, १७७, १७९,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
१८१, १८३, १९३-९४.
भिक्षु, सप्तवर्गीय—१७९-८०.
भिक्षु-सघ— ४, ८, १०, १३, १४, २३, ३५, ३६, ५६, ६२, ९०, ९१, ९९-१०४, १३७, १५७, १६०-९९; संघ-भेद—१०६-७.
भूत—९७, १३४, भूत-पूजक-२०.
भूतापसारण—२०, १२३.
भृगु, ऋषि—१२८.
भेरीवादक—२५, ८४.
भोजनशाला—१७५, १९८.
मक्खन—६७.
मक्खलि गोसाल—९८, १०४, ११२-१३, ११८-२०, १२२, १४४, १४७, १५९, १९२, २२७.
मकर—७१.
मगध—५, १८, १९, २३, ६५, ६७, ८४, ९६, ९८-१०३, १०५, ११४, १३२-३३, १३५, १५२.
मगध के ब्राह्मण—१८, १०४, १२७, १५२.
मगध के आजीविक—११८.
मगध-साम्राज्य—५, ६२.
मंगल, अष्टमंगल—१२३.
मंगलपाठ—२७, १२३.
मंगलहस्ति—८४.
मंच—१७८, १९३.
मघवा—१२८.
मच्छ-घातक—२९.
मज्झिम-निकाय—४, २५, ३८, ४१, ४५, ५७, १५२, १६४, १९१, २००.
मज्झिम देश (मध्य देश)—६, ६५, १०७, ११९, १६९.
मञ्जरिका—१९४.
मणि, मणिकार—८०.
मणिनाग—१३२-३३.
मणिमाल; यक्ष, चैत्य—१३१-३२.
मणिमेखला—१३०.
मत्स्य, मछली—६६, ७१, १३१, १३३, १८६; मत्स्यघातक—१६३.
मत्स्यवालक—७८.
मथुरा—१०७.
मद्दकुचि—१४९.
मद्दवीन—७८.
मद्य—७२, ७३, ७४, ८७, १३३, १३५, १६७, १७०, १८६, १९४.
मध्य प्रदेश—५४, १०७.
मद्र—४६, ५७.
मधु—१३७.
मधुपर्क—६९, ७०.
मधुर अवन्तिपुत्र—११.
मधुशाला—९, ७२.
मंत्र—८८, ११३, १२३-२४, १२८, १४४; २१०; मंत्रकर्त्ता—१२८; मंत्रविद्या—९५; वेद-मंत्र—१४६.
मन्दिर—८२; जैन-मन्दिर—११४; नाग-मन्दिर—१३२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्यम प्रतिपदा (मज्झिम पतिपदा) —१०९-१०, १९२.
मध्यम मार्ग—१५४, १५६, १६०, १८२-८३, १९५.
मनु, मनुस्मृति ७, १९, २७, २९, ३१, ३२, ३३, ४३, ४७, ४८, ५२, ५३, ५५, ६९. ७१, ७३, ७४, १७०-७१, १७४.
मयूर—७०.
मरुत—२००.
मल्ल—१०५.
मल्ल युद्ध—८३, १९४.
मल्लिका (पुष्प)—८१.
मल्लिका (रानी)—१०५.
मल्लिनाथ—१११.
मसारगल्ल—८०.
महाकच्चान—९०.
महाकप्पिन—९०.
महाकस्सप—१०२, १०३, १०६, ११८.
महाकोट्ठित—९०.
महाचुन्द—९०.
महातीर्थ—१०२.
महानाम, शाक्य—१६, ३६.
महाभारत—३१, ३२, ४२, ४९, १३२-३३.
महाराष्ट्र—१३५.
महावग्ग—२२, २४, ७५, ७९, ८०, ९८, १०७, १८५, १९२.
महावन—१०१, १५०.
महावंश—२, ३, १०३, १०६, २००.
महावीर, वर्द्धमान— १, ७, ८, ९, २०, २१, ९८, १०४, १११, ११५, ११७, ११८, १२२, १२३, १४४-४५, १५४, १५९, १९२, २२७.
महावीर का रक्तवमन—११३. गोसाल से विरोध—१३७.
महाव्रत— ११४-१५, १५४-५६.
महासाल—ब्राह्मण देखिये।
महिद्धि—१२८.
महेन्द्र—२
महोषध, युवराज—५३.
मागन्दिक—१४७.
मागन्दिय, परिव्राजक—१४८.
मातंग—२६, २८, १४६.
मातलि—१२९.
मातिका—३.
मातृदत्त, टीकाकार—४७.
मातृ-पितृ-सुश्रूषा—१३५-३७.
मान—१३६.
मानत्त—१७३.
मानव-गृह्यसूत्र—४७.
मायाकार—२५.
माया देवी—८६.
मार्गशीर्ष—१५६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मार्द्दव—१३५.
माला—१६७, १७०, १७२; कंचन-माला—८०.
मालाकार—८०; राजमालाकार—३०.
माषक—२४.
मास (मसूर)—६५.
मांस, मांसाहार—६६, ६७-७२, ८७, १३३, १८६.
मिगसिर—१४८.
मिष्टान्न—६७.
मिथ्याचार—१३६.
मिथिला— ५, ५३, ८८, ८९, ९१, ११२, ११८, ११९, १४२.
मिलिन्दपञ्हो— ३, ४८, ९४, ९५, १७२, २४०.
मिश्र—४५.
मिस्सक (देवोद्यान)—१२९.
मिस्सकसार—१२९.
मुकुन्द—८२.
मुक्ता—८०.
मुखिया—१३५.
मुग्ग (मूंग)—६५.
मुण्डक-उपनिषद्—१४०.
मुण्डकसावक—१४७.
मुद्रा (सिक्का)—१३५.
मुद्रिका—८०.
मुनि—१४०, १४२.
मुनि-सुव्रत—१११.
मुरज—७८.
मुहर—१४०.
मृग—१३१; मृगचर्म—१५१, १८४; मृगमांस—६९; मृग-लुब्धक—६८, ६९.
मृगवन—११९.
मेखला—८०, १८५, १९३.
मेगास्थनीज—७, ३१. ७७.
मेण्डविषाणबद्धिक—८०.
मेत्तिया, भिक्षुणी···—१७९.
मैत्रायणी, गोत्र—४४.
मैत्रेयी—१२५.
मैरेय—७२, ११०.
मेला—८३-८६, १२७.
मेषघातक—६८.
मोक्ष—९८, १०७-८, ११८, १३६, १४०-४२; बौद्ध मोक्ष-मार्ग—१०९-१०; जैन मोक्ष-मार्ग—११५-१६.
मोग्गल्लान (मौद्गल्यायन), महा-मोग्गल्लान—९०, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १४४.
मोग्गलिपुत्त तिस्स—२.
मोतीचन्द्र—२२०.
मोरनिवाय—१४९.
मोरपिञ्छपरिसिब्बित—८०.
मोलियसीवक—१४८.
मौर्य, शासक—५, ८३, ११४; मौर्य-काल—६, ५७, ७६, ७७, ९६, ११९; मौर्य-शासन—५८, ९६; पिप्पलिवन के—१०६.
म्लेच्छ—२०७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यक्ख, यक्ष—७६, ८२, ९७, १३०; यक्षिणी. यक्ष नगर (२३१), यक्ष भवन, यक्ष चैत्य—१३१.
यक्ष्मा—१६३.
यज्ञ—९, १८, ३२, ४०, ६९-७१ ८४, ९४, ९८, ९९, १२०-२३, १२५, १२९, १३९, १४१, १४५, १५२; अश्वमेध, पुरुषमेध वाजपेय, सम्मापास—१२६, २२९; पाक-यज्ञ, पंचमहायज्ञ—१२३; महायज्ञ—१२७, २२९; पशुयज्ञ—१२५, १२९, १३८; गृह, धन्वन्तरि, प्रायश्चित, शूलागव, हविर्यज्ञ—१२६; मानस—१२४.
यति—१४०, १४७.
यम—४५, १२८, २००; यमपुरी—१३१.
यमदग्नि—१२८.
यमी—४५.
यव—६५, ६६.
यवागू—६६, ६७, १८६, १९८, यवागू-भाजक—१९८.
यश, श्रेष्ठिपुत्र—२४, २४०.
यष्टिवन—९०.
यात्रा—८२.
याज्ञवल्क्य, मुनि—६८, ८९, १२५, २१६.
यान—१३९.
युधिष्ठिर—३२.
यूप—१२७.
यूनान—२९, ३१.
योगी, योगाभ्यास—१४३-४५; योग-शक्ति—१४४.
रजक-दास—३७.
रट्ठपाल—४१, २४०.
रत्न—७७.
रत्न-त्रय—११५.
रथकार—१६, २५, ११८, ११९, रथदौड़—१९४.
रणविद्या—९५-९६.
रस—१८५; रसगंध—८०.
राक्षस-विवाह—५१, ५३, ५४.
राजकुमार—९२, ९४.
राजगृह—५, ८, २२, ३५, ३६, ५६, ६१, ६२, ६३, ६७, ८३, ८४, ८५, ९०, ९१, ९३, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०६, ११२, ११३, ११८, ११९, १३२-३३, १४८-४९, ५०, १८९-९२, २००, २१०.
राजन्य—११, १८१, २१०.
राजप्रासाद—६२.
राजसभा—१८, २३, २४, १४५.
राजसूय यज्ञ—३२, १८२.
राजसेवक—१६४, १६८.
राजस्थान—७०.
राजामात्य—८५.
राम—४२, ५३, १४२.
रामग्राम—१०५, १०६.
रामायण—३१, ८२, १४१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राहुल—९०, १६४, १७७.
रिचर्ड फिक—५, २२.
रीज़ डेविड्स (Rhys Davids)—५, १४७-४८.
रूजा, राजकुमारी—१२०.
रूद्र—८२, २००.
रूप (मुद्राशास्त्र)—९५.
रेवत, भिक्षु—३, ९०.
रेशम—७५-७७.
रोम—३१.
रोहिणी (नक्षत्र)—८८; नदी—२०८.
रोहित—७१.
रोहिताश्व, भोजपुत्र—१४४.
लक्खण-पाठक —२०.
लक्ष्मण—१४२.
लक्ष्मी—१३०, १३५.
लंका, श्रीलंका—२, ३, ४, १८२.
लिच्छवि—१६, ४४, १०५, ११२.
लुब्धक—२०, २९, १६३.
लुम्बिनी वन—८६.
लेख—९५.
लोककथा—१३५.
लोकधर्म—१२३-२४, १३५-३९.
लोकपाल—१३०.
लोकायत—१८.
लोहितंक—८०.
वच्छगोत्त, परिव्राजक—१४८.
वज्जि—२.
वट्टगामनी, राजा—२.
वड्ढकि— २०, ९५, वड्ढकिग्राम, वड्ढकि-जेट्ठक—२५.
वणिक—२०, २२.
वत्सगोत्र, परिव्राजक—१६७.
वतंसक—१९४.
वनकम्भिक—२५.
वन्नदासी—३७.
वरधर, परिव्राजक—१४८.
वरुण—१२८, २००.
वर्ण-व्यवस्था—७-४, ११, ३०-३१, १२३, १४६.
वर्म—७५.
वर्षा-ऋतु—१६०, १८४.
वर्षावास—१०१, १५१, १५५-५६, १६०-६२, १७८, १८०-८१, १८५.
वस्त्र— ७५-७९, ११५, १३७-३९, १५१, १५७-५८, १८३-८४, १९५, १९७-९८; वस्त्राभूषण—७५-८०.
वलभी—९१, ११४.
वलय—१८५.
वल्कल—१५१.
वल्लिका—८०.
वशिष्ठ— ४७, ५५, ५६, ५७, ७३, ८९, १४१, १४९.
वस्सिका—८०-८१.
वसु, देवता—२००.
वसुदेवक—१२८.
वॉगेल (Vogel)—८६.
वाजिरा—४६.
वाणिज्य—९५.
वात्स्यायन—५३.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वानप्रस्थ, वानप्रस्थी— १४०-४१, १४६-५१, १६६-६७, १७१, १८७-८८.
वामक, ऋषि—१२८.
वामदेव, ऋषि—१२८.
वामा, रानी—१११.
वार्ता—९५.
वार्तिक—७, २१२.
वार्षिक-शाटिका—१८४.
वाराणसी— ८, ९, २४, २६, ३४, ५३, ६१, ७५, ७६, ८५, ८७, ८९-९१, ९३, ९४, ९९, १४९, १६८, १९३.
वारुणि-वाणिजा—२९.
वासभखत्तिया—१६, ३६.
वासमती, चावल—६५.
वासव (इन्द्र)—१२८.
वासुदेव (कृष्ण)—१२८.
वासु-पूज्य, तीर्थंकर—१११.
वाहन, शंकर का—१३४-३५.
विक्रमशिला—९१.
विज्ञान—१०९.
विटरनिट्ज़—३, २००.
विदेह—११८-२०.
विधि—९५.
विघूतिका—१९४.
विनय, संघ के नियम—३, ७३, १००, १०२-३, १०६, १६७, १७९, नियमभंग—१७७, १७९-८०, १८३; दस निषेधादेश —१९२.
विनयधर—३, १६९.
विनय पिटक—४, ८, ६२, ९५, १०० १३२, १५९, १७०, १७४, १८३, १८६, १८८, १९१, १९३.
विमल (बुद्ध)—९९.
विमल, श्रेष्ठि—९९.
विरुपाक्ष—१३०.
विरूल्हक—१३०.
विलेपन—अनुलेपन देखिए।
विश्वेदेवा—२००.
विश्वामित्र—८९, १२८, १४१.
विष्णु-धर्मसूत्र—७३.
विहार— ९, ९०, ९१, ९५, १०१, १४९-५०, १६०, १६२, १७१, १७४, १७७, १७९-८१, १८३, १८५-८६, १९३-९७.
वीहिकोट्टिकदासी—३७.
वृक्ष-पूजा—१३०, १३३-३४.
वृत्र—१३२.
वृश्चिकालिक—८०.
वृषभ— १३९, वृषभ-पूजा— १३०, १३४-३५.
वेद, वैदिक—१, १८, २०, ३१, ३२, ४५, ४८, ५४, ६८, ६९, ८२, ८७, ८८, ९४, ९५, ९७-९९, १२१, १२३-२४, १३०-३१, १३३, १३७, १४०-४१, १४६, १५२-५३, १७०-७१, १८१; वैदिक-धर्म—९७, १२१, १२३-३०.
वेदभ मंत्र—२०.
वेसवेज्जा—२५, २९.
वेस्सन्तर, राजा—३४, ३८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैखानस—१४६, १६६.

वैखानस धर्मप्रश्न—१७१.

वैजयन्त—१२९.

वैडूर्य—८०.

वैद्य, वैद्यक—९५, १०८.

वैराग्य—१०८, १४१-४३, १४५-४७, १४९, १८७, १९०.

वैशाली— २, ३, ५, ९, ६१, ६३, ७७, ९०, १०१, १०५-६, ११२, ११४, १४९-५०, १८९, १९२, २००.

वैश्य—७, ११-१६, १९, २२-२४, ४४, ४८, ७३, ७४, ९३, २०० २१०.

वैश्रवण—१३०.

व्रात्य—१८१.

व्रीहि—६५; महाव्रीहि—६५.

शकुनिक—२९, ६८.

शक्र (सक्क), देवराज—९, १२८; शक्रलोक— १३८; इन्द्र भी देखिये।

शंकर—१३४-३५.

शंखधमक—८४.

शतवल्लिक—७८.

शयनासनप्रज्ञापक—१९७.

शय्या— १३७, १५४, १६१, १६७, १७१, १८३-८४; कंकटकशय्या —१५२.

शरणगमन—१६८.

शलाका—१७५, १९८.

शस्त्रजीवी—१७.

शहद—६६, ६७, ७२, १८६.

शाक्य— ११, १६, २०, ३६, ४५, १०५, १४७, १८९, २०८.

शाटिकाग्राहापक—१९८.

शान्तिनाथ, तीर्थंकर—१११.

शाण—७६.

शाल, दुशाला—७६.

शालभञ्जिका—महोत्सव, शालवन—८६.

शिरोभूषण—१८१-८२.

शिला—८०.

शिल्प, शिल्पी—८, १७, २२, २४, २५, २७, ४८, ९१, ९५, ९६.

शिव—१३५.

शिवि, राज्य—४६, ७६.

शिष्टाचार—१७४.

शिष्य—१८, २८, १००-२, १७७, १८७.

शीतलनाथ, तीर्थंकर—१११.

शील—१०९-१०, १३५; पंचशील, दशशील—११०, १३५.

शुद्धोदन, राजा—१६४.

शूकर—६८-७०, १३१, १८६; शूकर-मांस—६९-७०; शूकरमार्द्दव—६८.

शूकरघातक—६८-६९.

शुकरिक—६९.

शूद्र—११-१७, २२, २४, २५, ४४, १४६, २००, २१०.

शूलागव यज्ञ—७०, १२६.

शौच—१३५-१३६; शौचगृह—१७७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्मशान — १३५-३६.
श्मश्रु — १४०, १५१.
श्रद्धा — ६९-७०, ७२.
श्रमण — ११८, १२१, १३६, १३८-३९, १४५, १४७, १५६; जैन— ९, ७२, ७६, ८४, ११४, १२२, १३७, १५४-५९; बौद्ध—१३.
श्राद्ध—६९-७०, ७२.
श्रामणेर— ७३, १०३, १६६-७०, १७२-७४, १७६-७७, १८५, १८७, १९१, १९८-९९.
श्रामणेर-प्रेषक—१९९.
श्रावण — १३३.
श्रावस्ती, नगर — ८, २३, ६१, ८५, ८६, ९०, १०१, १०७, ११२-१३, ११८, १२७, १४९, १९३-९५.
श्रेष्ठि (सेट्ठि)— ८, १६, २२, २३, ३५-३७, ४१, ४३, ४४, ५५, ६१, ६४, ७२, ७४, ७७, ९२, ९९, १०१, १३८-३९, १६२, १६४, १६८, १८१-८२, १८९-९०, १९२, १९४-९५, २१०, २४०.
श्री (सिरि, सिरिमा), देवी — १३०.
श्रेणिय, परिव्राजक — १६७.
श्रेणी (निगम)—९५.
श्रेयांशनाथ, तीर्थंकर—१११.
श्वेताम्बर — ११४-१५.
श्रोत्रिय—१२५, २१८ (सोत्थियकुल)
श्रौत-सूत्र—१२५-२६.
षडायतन—१०९.
षष्टिका—६५.
सकुल-उदायि—१४८.
संघाटी—१८४.
संगीति, बौद्ध संगीति देखिये।
सज्झ, परिव्राजक—१४८.
सञ्जय, परिव्राजक — १००, १०४, १४८.
सञ्जय वेलट्ठिपुत्त — १११, ११७, १२१, १४७.
सत्तू—६६.
सत्था, गनसत्था — १४८.
सत्य — ११४, १३५-३६, १४१, १४५ १५४-५५, १७२.
सत्व, सत्व-संसरण — ११९-२१.
सद्धि, सद्धिन् — १७०.
सद्धिविहारिक—३१, १७०-७२, १७३, १७७.
सदाचार — १३६-३७, १७४.
संथालपरगना—६, १०७.
संदक, परिव्राजक—१४८.
संदेशवाहक--१७.
सनातन-धर्म—१५४.
संन्यास, संन्यासी— ९, ३६, ५६, १३५, १४०, १४५-४७, १४८, १४९-५२, १५४, १६६-६७, १८२, १८४, १८८.
सप्तपर्णीगुहा—१४९, २००.
सप्तभंगी नय—११६-१७.
सब्बसंहारक (इत्र)—८१.
सभिय, परिव्राजक— १४८, १६७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समन्दकानि, परिव्राजक — १४८.
समञ्जकानि परिव्राजक–१४८.
संबुला—६०.
संभूत–२७.
संबोधि—९८, ९९, १०१, १०८.
संभवनाथ—१११.
सभामंडप—१५६.
समयसार—११४.
संयम—१२०.
संयुत्त-निकाय—५, १३१, १४२.
समाज (समज्या) ८२, ८३, २२१;
गिरग्गसमज्ज–८३.
समावर्तन — १२६.
समाधि–११०.
सम्यक्—१०९-१०, ११५-१६.
संवर—११५, ११८.
संस्कार— १०९.
संस्कृत—३१, ६०, ९७, १४१.
संस्थागार— ११.
संहिता—३१, ९४.
सरन्दद चैत्य—१५०.
सर्पिणीया नदी — १४९.
सरभ, परिव्राजक—१४८.
सललवती, नदी — ६, १०७.
साकेत — ८, ६१.
सांख्यायन-गृह्यसूत्र — ८८.
साँची — ५, ७६, ७७, ७९, १५०,
१८१, २२०.
साटक — ७८, २०९.
साण — १८४.
सातवाहन — १२७.
साधना, साधक — ११०, ११६, १४०,
१४२, १५०, १६१-६३, १८६-
८८, १९२.
साधुता — १३६.
सामगान — १२६.
सामंडक — १४८.
सामन्तभद्र — ११४.
सामा, गणिका — ६२, ६४.
सार्थवाह — ६, ९, २३, १५५.
सारनाथ — ९९.
सारिपुत्त — ६६, ९०, १००, १०१,
१०२, १०३, १०४, १३१, १६३,
१७७.
साल·भञ्जिका (शालभञ्जिका)—८६.
सालवती, गणिका — ६१-६४.
सालिन्दिय — २०१.
सिद्धार्थ, गौतम — १६४.
सिद्धावस्था, सिद्धशिला — ११६.
सिरिसवत्थु, यक्षनगर—१३१.
सिलाव — ६७.
सीतवन—९०, १४९.
सीतम्बवन — १५०.
सीता — ५३, ८८, १४२.
सीहनाद, सारिपुत्त का—१०२.
सुचिमुखी परिव्राजिका, — १४८.
सुजाता — ६०.
सुत्तन्त, सुत्तन्तिक — ३.
सुत्त-निपात— १३१, १३८, १४२,
१५०.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सुत्त-पिटक — ४.
सुतवा, परिव्राजक — १४८.
सुद्धवास — १४४.
सुधर्म — ११२.
सुधर्म, इन्द्र का प्रासाद, देव-सभाभवन —१२९.
सुन्दरी, स्त्री — १०५.
सुनृत — १३५, १५४.
सुनेत्र (सुनेत्त) — १८, ८९.
सुपार्श्वनाथ — १११.
सुप्पारक (सोपारा) — ६.
सुबाहु—९९.
सुब्रह्मा—१४४.
सुभद्द, परिव्राजक—१४८.
सुमतिनाथ तीर्थंकर—१११.
सुसीम, परिव्राजक—१४८.
सुंसुमारगिरि—६, १०७.
सुत्त, अंगुलिमाल — १०१.
—, अम्बट्ठ — १५.
—, अस्सलायन — १०१.
—, आटानाटिय — १०१.
—, इसिगिलि — १४२.
—, उदुम्बरिक — १०१, १५०.
—, कन्दरक — १०१.
—, कस्सपसीहनाद — १०१, १५०.
—, कसिभारद्वाज — १०१.
—, कारण्डव — १०१.
—, खग्गविषाण — १४३.
—, चुलसच्चक — १०१.
—, चुलहत्थिपदोपम — १०१.
—, जटिल — १०१.
—, जीवक — १०१.
—, तेविज्ज — १०१.
—, दसुत्तर — १०१, १०२.
—, पियजातिक — ५७.
—, पोट्ठपाद — १०१.
—, ब्रह्मजाल — १९, ११७.
—, ब्राह्मणधम्मिक (य) — १५, १०१.
—, मंगल — १२३.
—, महापरिनिब्बाण — ६१, ६८, ७५, ७७, १४७, १४९, २००.
—, महाराहुलोवाद — १०१.
—, महालि — १०१.
—, महासकुलुदायि — १०१.
—, महासच्चक — १०१.
—, महासीहनाद — १०१.
—, महाहत्थिपदोपम — १०१.
—, रट्ठपाल — ३८, ४१, १६४.
—, रतन — १०१.
—, वच्छगोत्त — १०१.
—, सक्कपञ्ह — १११.
—, संगीति — १०२.
—, सामञ्ञफल — १२०.
—, सिगालोवाद — १४७.
—, सुनक्खत — १११.
—, सुन्दरिक भारद्वाज — १०१, १२९.
—, सोणदंड — १०१.
सुरा, सुरापान — ७२-७४, १०४,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

११०, १३१, १३३, २१८, २२२.
सुरा-नक्षत्र (सुरानक्खत) — ७३, ७४, ८६-८७.
सुरुचि, राजा — ४२.
सुलसा, गणिका — ६२, ६३.
सुविधिनाथ — १११.
सुश्रुत — ६५, ६७.
सूर्य — ९७, १३०.
सूचिपात्र — १९३.
सूचिलोम, यक्ष — १३१-३२.
सुन्दरी, भिक्षुणी — १८९.
सूत्र — ७५.
सूत्र-ग्रंथ — ७६.
सूप — ६६.
सेट्ठि, श्रेष्ठि देखिये.
सेल, ब्राह्मण — १८, ८९.
सोण, भिक्षु — १८२.
सोणदंड, ब्राह्मण — १५, १८, १०४.
सोना, भिक्षुणी — १८९.
सोनक, ब्राह्मण — २१.
सोनपुर — ८६.
सोफा — १९३.
सोम — ७२, १२८; सोमयज्ञ — १२६.
सौत्रामणी यज्ञ — ७२.
स्कन्द — ८२.
स्तम्भ — १५८.
स्तूप — ८२, १०५-६.
स्नातक — १७, ९३.
स्पृश्यास्पृश्य — १७.
स्मृति — ३०, ९३.
स्याद्वाद — ११६, ११७, २२८.
स्वप्न-विचार — १२३.
स्वर्ग — १२, १३, ७२, १२४, १३६, १३८.
स्वर्ण, स्वर्णकार — ८०, ८८, १२७, १३९, १७०; स्वर्णध्वज, स्वर्ण-जाल, स्वर्ण-परिष्टोम — ८७; स्वर्णमुद्रा — १०१.
स्वाध्याय — १५६, १७१.
स्वर्ण-रजत — १७०-७१, १८५, १९३.
हजारीबाग — १०७.
हट्टन — १३४.
हड़प्पा — ३१, १३४, १४०.
हंस — ७०.
हत्थरण — ८०.
हत्थिमंगल (हस्तिमंगल) — ८७.
हवन — १२६.
हस्ति-व्यायाम — ८३.
हस्तिशौंडिक — ७८.
हरिद्वार — १०७.
हरिहरक्षेत्र — ८६.
हाथीगुम्फा
हॉपकिन्स — १२४.
हायन — ६५.
हार — १८५.
हिन्दू धर्म — ४१, ८६, ९७, ११३, १३४; समाज — ४०, ४१, ११३, १२४, १३३, १३५, १५३; परिवार — ४०; दृष्टि-कोण — ४९; पर्व — ८४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिमगिरि — १.
हिरण्य-गृह्यसूत्र — ४७.
हेतु, हेतु-प्रत्यय—११९.
हेमन्त—१५२.
होर्नल (Hoernle)—१५९.
हिंसा-अहिंसा—११४, १२०, १२२-२३, १३५-३६, १५४-५५, १६३, १६७, १७०.
ह्यूएनसांग—६५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पारिभाषिक शब्द-संग्रह

अंगविद्यापाठक— One who reads the fortune of an individual on the basis of the signs of his body.

अग्रश्रावक (अग्गसावक)—Chief disciple.

अचेल—Naked ascetic.

अजघातक—Goat-butcher.

अजपाल—Goat-keeper.

अड्ढकासिक—Muslin of kasi.

अधोवस्त्र—Lower garment.

अन्तरवासक—Under garment.

अन्तेवासी—Apprentice.

अन्नप्राशन—Annaprasana.

अनुलोम—Anuloma.

अनुसारि—Collirium.

अपरिग्रह—Aparigraha.

अभिलेख—Inscription.

अभियांत्रिक—Engineering.

अरण्य—Forest.

अल्पमात्र-भाजक—Distributor of Trifles.

अविहिंसा— Non-killing.

अष्टका—Ashtaka.

अष्टापद—Dice-board.

असिलक्षणपाठक—One who reads the signs of swords.

अहिगुण्डिक—Snake-charmer.

अहिंसा—Non-voilence.

आचरिय, आचार्य—Teacher.

आराम—Park.

आरामिक—Park-keeper.

आरामिक प्रेषक—Superintendent of the Park.

आवास—Lodging, Residense.

आवेल—A kind of wreath.

आसन—Seat.

आसिनव—Sin.

आश्रम— A hermitage, The Asrama system.

उच्छेदवाद—Annihilism.

उत्तरासंग, उत्तरीय— Upper garment.

उत्सव—Festival.

उदकसाटि—A garment used by Budhist sisters for bathing or during the menses.

उदमन्थ—A variety of Sattu.

उपज्झाय—Spiritual Teacher in the Buddhist Order.

उपट्ठानशाला—Service Hall.

उपनयन—Initiation ceremony.

उपसम्पदा—Upasampada.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपासक—Laity, lay disciple.
उपासना—Worship.
उपोसथ— Fasting.
उष्णीष—Turban.
ऐंद्रजालिक—Magician.
ओदन—Cooked rice.
ओरब्भिक—Butcher.
ओवत्तिका—Bangle.
कम्मन्तदास—Slaves working in the fields, workshops and shops.
कम्मार—Smith.
कर्मकर—Labourer.
कर्मशाला—Workshop.
कल्प—Aeon.
कर्षण—Tilling.
कायूर—Necklace.
कार्षापण—Karshapana.
काषाय वस्त्र—Yellow Robe.
कालिय— Kaliya. (a perfume)
कुंडल—Ear-ring.
कुम्भकार—Potter.
कृष्णानुसारि—Black collirium.
कुम्मास कुल्माष— (Kummasa or kulmasha).
(A coareted of the Poor)
कोटुंबर—wootlen cloth which was manu factured in the Pathankot region.
क्रियावाद—The Doctrine of Action.
क्षौम—Linen.
खाद्यभाजक— Apportioner of food
गणधर—Ganadhara (The chief disciples of Mahavira)
गणना—Accountancy
गणसत्था—Ganasatha—A leader of the Brahmanic Ascetic order.
गणिका—Courtesan.
गंध—Perfume, scent.
गंधक—Perfumer.
गंधर्व—Musician.
गवेधूका—Coix Barbata.
गहपति— Householder, the vaisya caste.
गुप्तचर—Spy.
गुरु—The spiritual Teacher.
ग्रैवेयक—Necklace.
गोघातक—Cow-butcher.
गोघातकसूनम्—Place for killing cow.
गोत्र—Gotra.
गोधूम—Wheat.
गोप, गोपालक—Cowherd.
गोमांस—Beef.
चर्मकार—Cobbler.
चतुर्महाभूत— Four elemants—earth, water, fire and air.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चातुर्मास्य —Chaturmasya.

चातुर्यामसंवर — Chaturyama-samwara.

चारिका—Begging round

चीवर—Robe.

चीवर प्रतिग्राहक— The officer of the Buddhist order who received robes from the Laity

छत्र—Umbrella.

जटिल— Jatila (Ascetics with matted hairs.)

ज्ञत्ति (ज्ञप्ति)—Resolution.

ज्ञातृ—Blood relations.

तच्चक—Carpenter.

तन्तभण्ड—Weaving appliances.

तन्तुवाय— Weaver.

तापस—Ascetic.

तृणहारक—Grass-cutter.

तोरण—Torana, Gateway.

त्रयस्त्रिंश (त्रयोत्रिंस)— Thirty-three Gods.

दक्षिणा—Dakshina.

दंड—Staff.

दान—Charity.

दानशाला—Almonry.

दीक्षा—Initiation.

द्यूत क्रीड़ा—The game of dice.

द्वैधिपव्य—Dvaidhishavya. (The son of the widow)

धनुर्धारी—Archer.

धनुर्विद्या—Archery.

धम्म—Dhamma.

धोपन—An art which was performed by the Chandalas.

नक्खत, नक्षत्र—A Festive occasion.

नट, लंघनटक—Acrobat.

नटक—Dancer.

नलकार—Basket-maker.

नवशिष्य—Novice.

नास्तिक—Heretic.

निग्गाहक—Taxman.

निदान—Nidanas, The second Noble Truth of Buddhism.

नियतिवाद—The Doctrine of 'Automatic function through transmigration.

निर्वाण—Nirvana. (Deliverance)

निष्क—Nishka.

परिवास—Parivasa.

पशुघातक—Cattle-butcher.

पशुपालक— Cattleman.

पश्मीना—Pashmina.

पाणिग्रहण—Panigrahana.

पातिमोक्ख—Patimokkha.

पादुका—Foot-covering.

पामङ्ग—Ear-drop.

पितृऋण—Pitririna.

पुनर्जन्म—Rebirth.

पृथ्वीविजयमंत्र — Prithvivijaya-mantra.

पेशकार—Weaver.

पेशकारदास— The slave engaged

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

in weaving.

पैष्टि— Paishti, a variety of liquor.

प्रज्ञा—Prajna.

प्रतिलोम विवाह— Partiloma marriage.

प्रतिच्छादन—A kopin-like cloth used by Budshist monks,

प्रवहन—Picnic.

फीलवान—Elephant tamer.

बलि—Offering.

ब्रह्मदेय्य—Land grants enjoyed by the Brahmanas.

भक्त (भत्त)—Cooked rice.

भक्त-उद्देशक— The apportioner of food during the scarcity period.

भद्रमुक्तक— Bhadramuktaka, A perfume.

भांडार, भांडागार—Store.

भांडागारिक—Store-keeper.

भिक्षु—Bhikshu.

भिक्षापात्र—Almsbowl.

भूत—Ghost.

भूतापसारण—Exorcism.

भेरीवादक—Drummer.

भोजनशाला—Dining Hall.

मच्छ (मत्स्य) घातक—Fishermen.

मत्स्यवालक—A style of wearing lower garment (dhoti)

मधुपर्क—Madhuparka.

मधुशाला—Tavern.

मंत्र—Mantra, spell.

मन्दिर—Temple.

मद्दीन—A girdle.

मल्लयुद्ध—Wrestling.

मसारगल्ल—An emerald.

महाव्रत—The great vows of the Jaina monks.

महासाल—Mahasala Brahmana.

मान—Vanity.

मानत्त—A discipline to which a Bhiksu found guilty of an offence could be sentenced.

मायाकार—Juggler.

मार्द्दव—Tenderness.

मालाकार—Garland-maker.

माषक—Mashaka.

मियाचार—Falsehood.

मुद्रिका—Ring

मूलगंध— Perfumes made of roots.

मृगमांस—Dear meat.

मृगचर्म—Antelope hide.

मृगलुब्धक—Dear-hunter.

मेखला—Girdle.

मेषघातक—Sheep-butcher.

मैरेय—A kind of liquor.

मोक्ष—Moksha, Final Emancipation from transmigration.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यक्ष—Yaksha.

यज्ञ—Yajna, Sacrifice.

यति—Ascetic.

यवागू—Gruel.

यवागू भाजक—The Distributer of gruel. (An officer of the Budshist order.)

यूप—Sarificial Post.

योग—Yoga.

रणविद्या—Military Science.

रत्नत्रय—The three Jewels of the Jainas.

रथकार—Chariot-maker.

राक्षस विवाह—Rakshas marriage.

रूप—Numismatics.

लक्खण-पाठक—Fortune-teller.

लंघनसिप्प—The art of jumping over javelins.

लुब्धक—Hunter.

वड्ढकि—Carpenter.

वणिक—Trader.

वर्ण—Varna, Caste.

वर्ण-व्यवस्था—Caste system.

वर्म—Armour.

वस्त्र—Cloth.

वर्षावास—Varshavasa.

वल्कल—Bark-garment.

वल्लिका—Ear-ring.

वारुणि—Wine.

विनय—Monastic Discipline.

विलेपन—Ointment.

विहार—Monastry.

वेणुकार—Flute-maker.

वेदिका—Railing.

वैखानस—Hermit-life.

वैडूर्य—Beryl.

वैराग्य— Indifference to the world.

शकुनिक—Fowler.

शालभञ्जिका—Salbhanjika.

शिल्प—Craft.

शिल्पी—Artisans.

शूकरघातक—Pig-butcher.

शूलागव यज्ञ—Sulagava sacrifice.

श्रेणी—Guild.

श्रोत्रिय—Srotriya.

षष्टिका—A variety of rice.

संघ—Sangha, order.

संघाटी—Waist cloth.

संघाराम—Monastery.

सत्था—Sattha, the head of an ascetic order.

संन्यासी—Sanyasin.

सप्तभंगी नय—Saptabhangi Naya

समज्या, समाज—Festival.

समाधि—Samadhi.

समावर्तन—Smavartana.

संयम—Restraint.

सार्थवाह—Caravan-leader.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुत्त (सूत्र)—Sutta, Sutra.
सुरा—Liquor.
सूत्र—Thread.
सूप—Pulse.
सोम—Soma.
सोम यज्ञ—Soma Sacrifice.
स्तम्भ—Post.
स्तूप—Stupa.
स्नातक—Snataka.
स्याद्वाद—The Jaina Doctrine of Syadvada.
स्वर्णकार—Goldsmith.
हत्थरण—Bracelet.
हवन—Havana, Oblation.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट

बुद्धकालीन जन-जीवन का कला में चित्रण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक १

पटना-यक्ष—अधोवस्त्र पहनने एवं उत्तरासंग ओढ़ने की विधि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

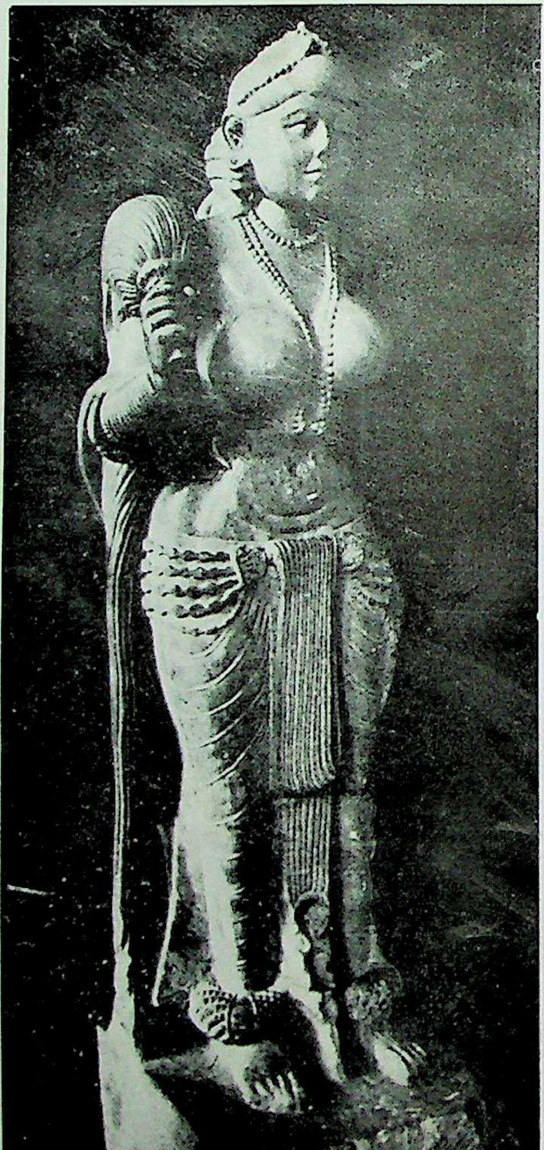

दीदारगंज-यक्षिणी —वस्त्राभूषण एवं साड़ी पहनने की विधि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

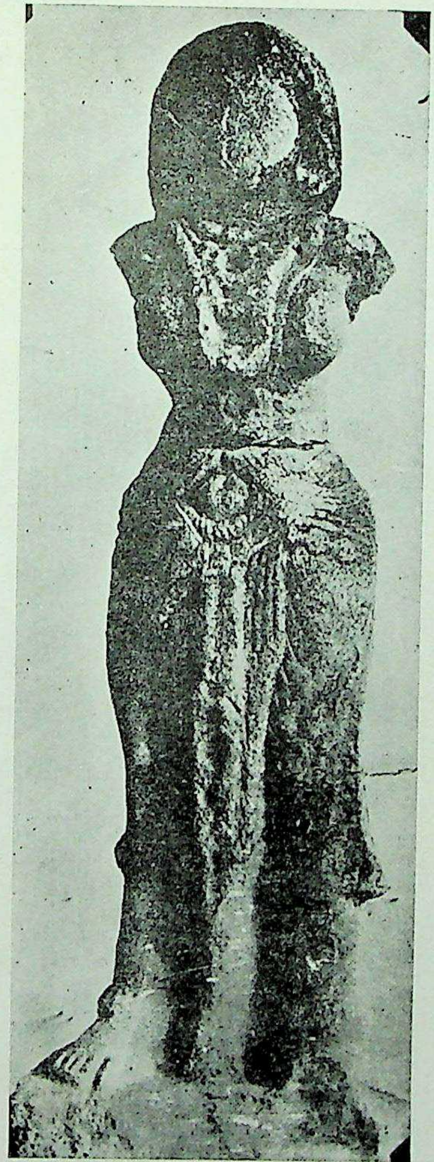

देसनगर-यक्षिणी—वस्त्राभूषण एवं साड़ी पहनने की विधि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारहुत-यक्षिणी—स्त्रियों की वेशभूषा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ५

भारहुत-यक्ष—पुरुष का वस्त्राभूषण

फलक ६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साँची और भारहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों के उत्कीर्ण चित्रों में दर्शित उष्णीष एवं शिरोभूषण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साँची और भारहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों के उत्कीर्ण चित्रों में दर्शित उष्णीष एवं शिरोभषण

फलक ८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

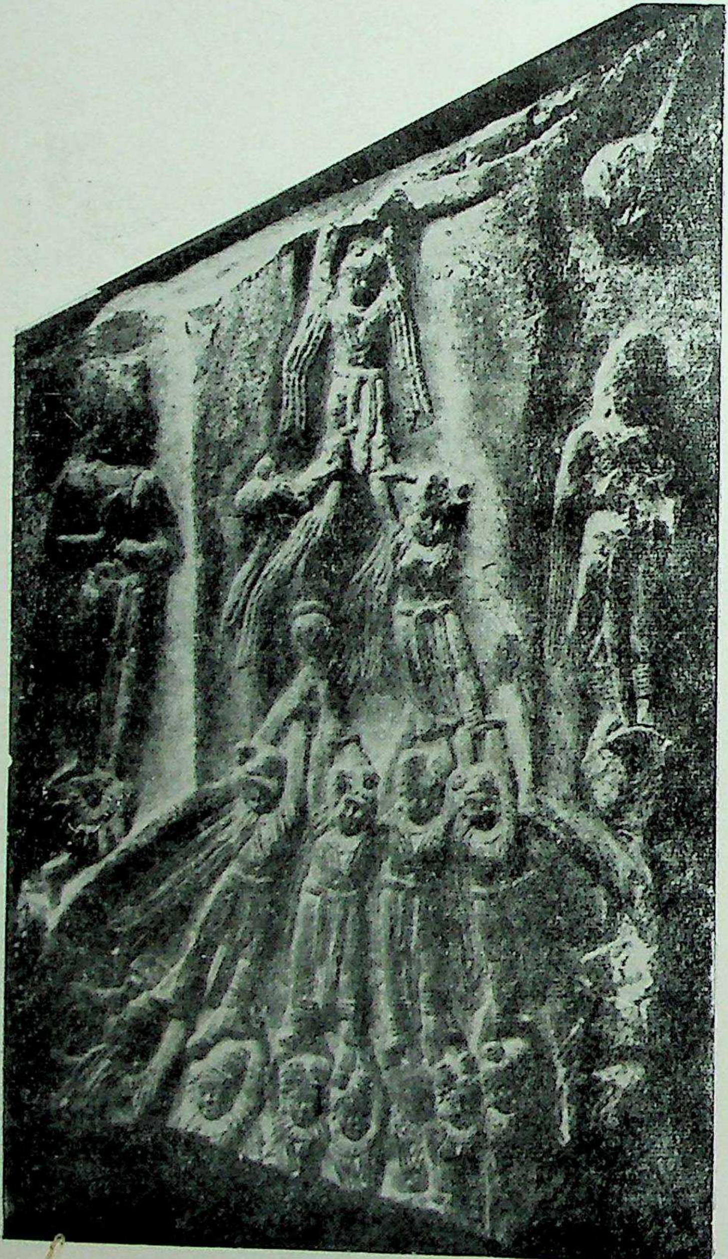

भारहुत वेदिका में उत्कीर्ण नटों के करिश्में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक १

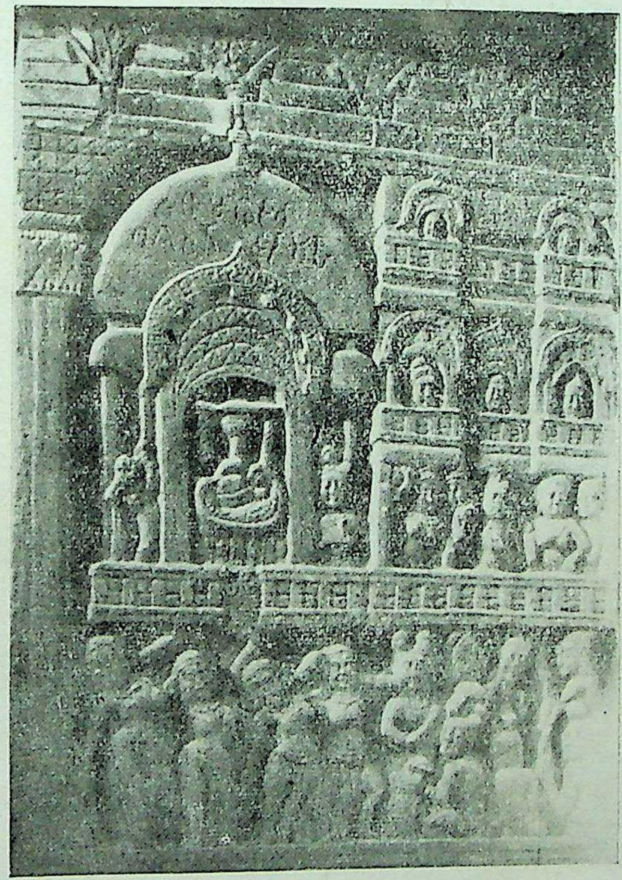

भारहुत-वेदिका में उत्कीर्ण नृत्य-दृश्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक १०

भारहुत में चित्रित बोधिवृक्ष की पूजा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ११

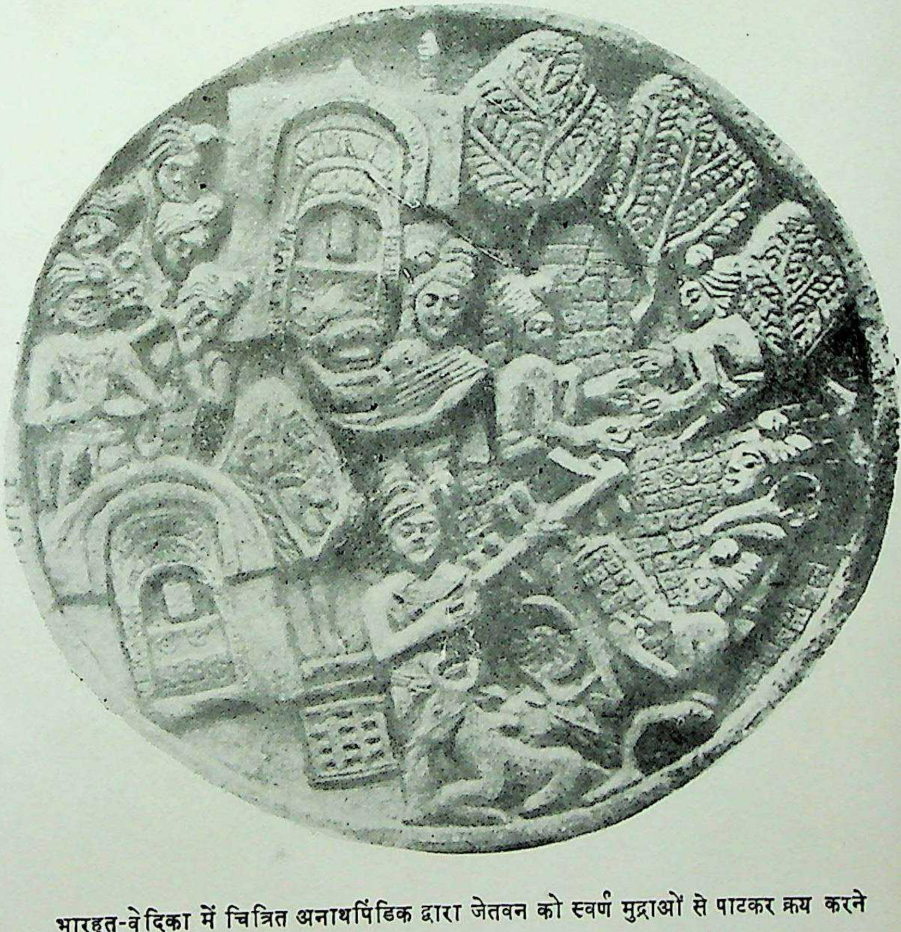

भारहुत-वेदिका में चित्रित अनाथपिंडिक द्वारा जेतवन को स्वर्ण मुद्राओं से पाटकर क्रय करने का दृश्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

फलक १२

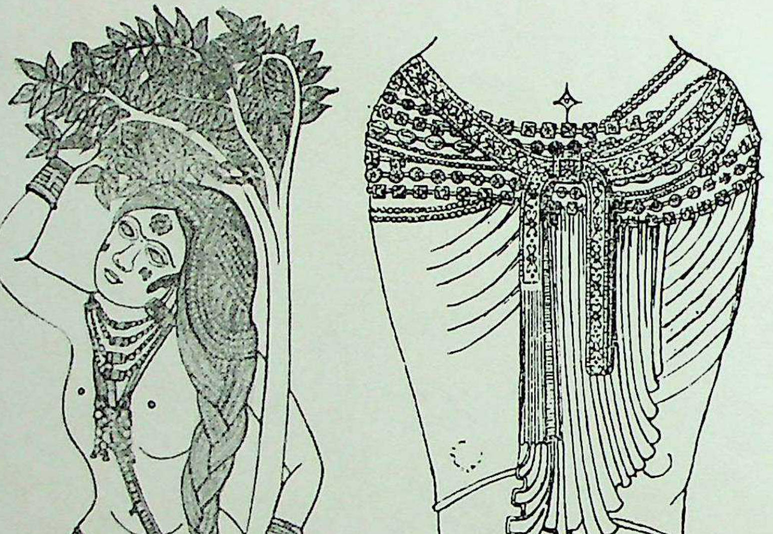

भारहुत-वेदिका में चित्रित स्त्रियों के वस्त्राभूषण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक १३

भारहुत-वेदिका में चित्रित एक नर्तकी (ऊपर), मृण्मयी मूर्ति में साड़ी पहनने की विधि (नीचे, बाईं ओर) तथा एक सुसज्जित स्त्री (नीचे दाहिनी ओर)

फलक १४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुलन्दीबाग, पटना में प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों में दर्शित नर्तकी के वस्त्राभूषण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

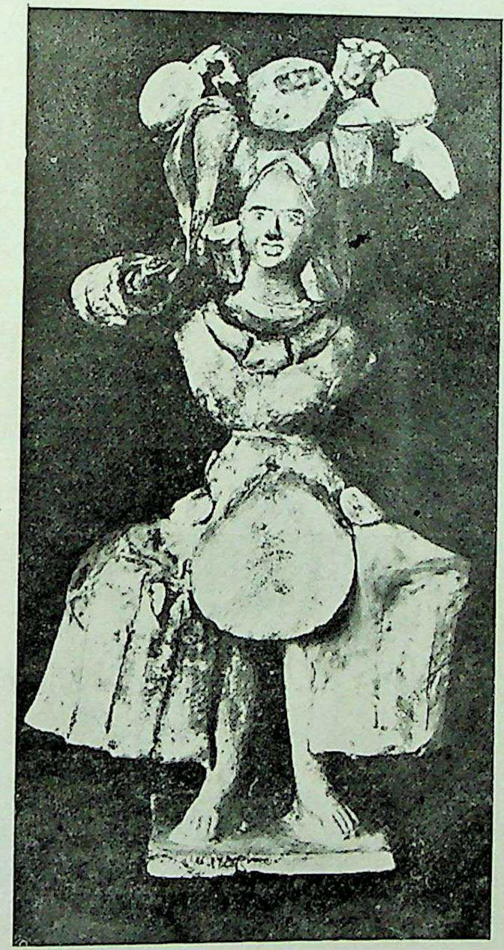

बक्सर में प्राप्त मिट्टी की मूर्ति में चित्रित नारी का शिरोभूषण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

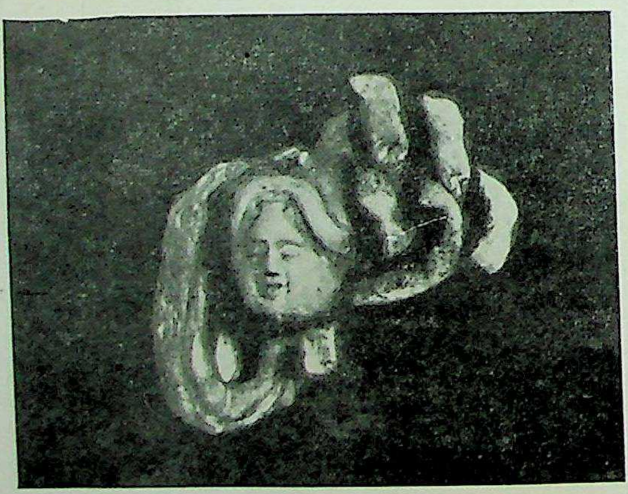

बक्सर तथा पटना में उपलब्ध मिट्टी की मूर्तियों में चित्रित उष्णीष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुद्धि-पत्र

पृ०	पैरा	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
६	२	३	सललवती	सलिलवती
११	१	३	चतुर्वर्ण	चतुवर्ण
२९	३	४	भी	भा
४५	१	६	वैश्या	वैश्य
४८	२	३	किसी	किसा
५७	२	१५	कुस	कुरू
५९	३	२	असंत	असत
६१	१	४	नगरों का	नगरों को
७३	२	७	उत्सव-स्थानों से	उत्सव-स्थानों में
७७	३	१	अधोवस्त्र	अन्तरवासक
८०	३	६	ग्रैवेयक	ग्रैवयक
,,	,,	,,	स्वर्णमाला	सुवर्णमाला
८४	१	७	मछली	उछली
१०२	१	१३	करते थे	करते थ
१०३	२	११	षड्वर्गीयों	षड्वर्गियों
११९	५	४	अंगति	अंगीति
१२१	३	८	पृथ्वीकाल	पृथ्वीकल
१२३	१	२२	चतुर्वर्ण	चतुवर्णं
१२४	३	३	ब्राह्मण	ब्राह्माण
१२८	४	६	जब	अब
१२९	१	१,९	उष्ण	ऊष्ण
१३२	३	४	बुद्ध	बद्ध
१३६	१	१६	भिन्न	अभिन्न
१५२	३	२	निरंजना	निंजना
१६८	१	३	शिष्यों और	शिष्यों—
१६९	१	६	उपसम्पदा	उम्पदा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृ०	पैरा	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
१७७	२	५-६	दुर्व्यवहार	दुर्व्यविहार
१७८	१	१३	कम्बिल	कबिल
१८५	२	१०	भद्रमुक्तक	अद्रमुम्तक
१९२	२	१७	कर्मों	र्मों
१९७	१	३	करनी रहती	करनी रहती है
,,	३	३	चीवरों	चीवारों
१९८	१	२	चीवरप्रतिग्राहक	चीवर प्रतिहक
२०८	टिप्पणी सं०	३६	मज्झिम निकाय	मज्जिम-निकाय
२२५	,,	२४	दीघ-निकाय, २,	दीघ-निकाय, म०
२२९	,,	१६	दीघ-निकाय, १,	दीघ निकाय
२३०	,,	१८	Buddhism	Buddhisms
,,	,,	,,	बे० मा०	बे० का०
२३३	,,	१०५	ठानेसु	ठानसु
२३४	,,	६	वनी	बनी
२५०	,,	,,	बौद्ध-धर्म-दर्शन	बुद्ध-धर्म-दर्शन
२५३	,,	,,	अगिवच्छगोत्त	अगिच्छगोत्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन् १९५३ से ही देश की प्रमु
नों में लिखते रहे हैं और अवत
क विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हे
न्थ के अतिरिक्त डॉ० सिं
—Life in North
ryan Tim

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh